Arya Samaj Foundation Chennai an

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079459

60-93
61-94

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

Stock Verification-2024

Stock Verification-2024

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

...ष्मावकाशमें ... कार्यालय ...
...सका अंक ज्येष्ठमें न निकल कर ज्येष्ठ ...
...क आषाढी पूर्णिमा तक प्रकाशित होगा। अतः
...हकोंसे प्रार्थना करते हैं कि इस बीचमें कृपया वे अं...
...नेका कष्ट न करें।

...युत

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे ... विनिवेशयन्तम् ॥
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं म...नसा स्मरामि ॥ ५ ॥

वर्ष ४ } वैशाख १९९४ ...

संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनक... यदायुः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्युत

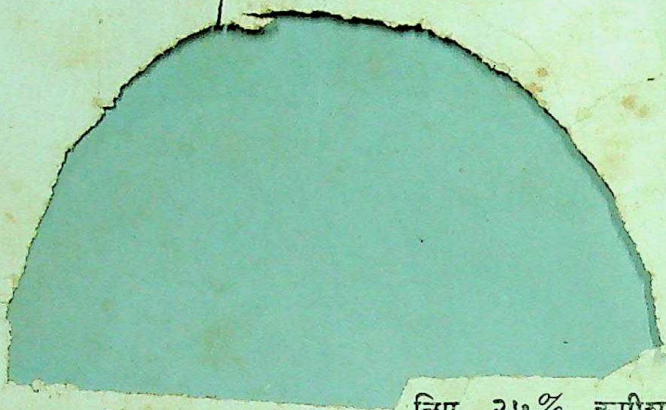

[नोट—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकों के लिए २५% कमीशन काटकर ४॥) वार्षिक]

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रिंसिपल जो० म० गोयनका-संस्कृत-महाविद्यालय,

सह सम्पादक तथा प्रकाशक—

साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, काशी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED
07145

079459

निवेदन

एक मासके ग्रीष्मावकाशमें [illegible] कार्यालय बिलकुल बन्द रहेगा, अतएव ज्येष्ठ मासका अंक ज्येष्ठमें न निकल कर ज्येष्ठ और आषाढका सम्मिलित अंक आषाढी पूर्णिमा तक प्रकाशित होगा। अतः हम अपने अनुग्राहक ग्राहकोंसे प्रार्थना करते हैं कि इस बीचमें कृपया वे अंकके लिए पूछताछ करनेका कष्ट न करें।

व्यवस्थापक—

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्य्यालय,

काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेख-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
गङ्गाष्टक	प्राचीन	२
मैं कौन हूँ	यतिवर श्रीभोलेबाबाजी ...	१४५
धारणा	श्रीमण्डलेश्वर श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज	१५१
दुःखका गौरव	प्रिंसिपल पं० श्रीचण्डीप्रसाद शुक्लजी	१६३
गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके दार्शनिक विचार ...	साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी	१६८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो मेरे भक्तन्ह दुखदाई ।
सो मेरे इहि लोक बसै जिन त्रिभुवन छाँड़ि अनत कहुँ जाई ॥
शिव विरंचि नारद मुनि देखत तिहुँ न मोको सुरति दिवाई ।
बालक अबल अजान रहै वह दिन-दिन देत त्रास अधिकाई ॥
खंभ फारि गलगाजि मत्त बल कोध मान छवि बरणि न जाई ।
नयन अरुन बिकराल दसन अति नखसों हृदय बिदारन आई ॥
कर जोरे प्रह्लादजू बिनवैं बिनय सुनो अशरन शरनाई ।
अपनी रिसै बिसारि तात मम अपराधी सु परमगति पाई ॥
दीन दयालु कृपानिधि नरहरि अपनो जानि हृदय लियो लाई ।
सूरदास प्रभु पूरण ठाकुर कह्यो शुकहिं नामैं निरुआई ॥

—सूरदास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

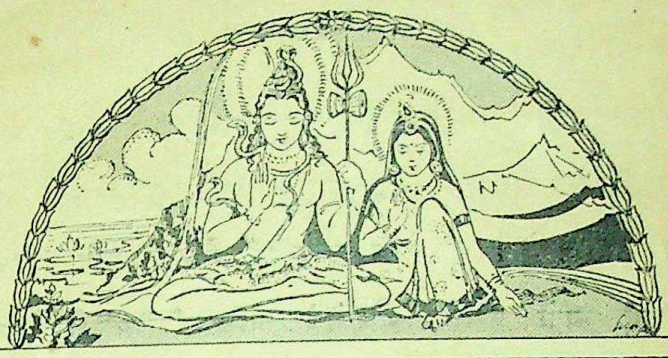

अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम् ,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन् ,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष ४ | काशी, वैशाख १९९४ | अङ्क ४

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गङ्गाष्टकम्

नमस्तेऽस्तु गङ्गे ! त्वदङ्गप्रसङ्गाद् भुजङ्गास्तुरङ्गाः कुरङ्गाः प्लवङ्गाः ।
अनङ्गारिरङ्गाः ससङ्गाः शिवाङ्गा भुजङ्गाधिपाङ्गीकृताङ्गा भवन्ति ॥१॥

नमो जह्नुकन्ये ! न मन्ये त्वदन्यैर्निसर्गेन्दुचिह्नादिभिर्लोकभर्तुः ।
अतोऽहं नतो हंसतो गौरतोये वसिष्ठादिभिर्गीयमानाभिधेये ॥२॥

त्वदामज्जनात्सज्जनो दुर्जनो वा विमानैः समानः समानैर्हि मानैः ।
समायाति तस्मिन् पुरारातिलोके परद्वारसंरुद्धदिक्पाललोके ॥३॥

स्वरावासदम्भोलिदम्भोऽपि रम्भापरीरम्भसम्भावनाधीरचेताः ।
समाकाङ्क्षते त्वत्तटे वृक्षवाटीकुटीरे वसन्नेतुमायुर्दिनानि ॥४॥

त्रिलोकस्य भर्तुर्जटाजूटबन्धात् स्वसीमान्तभागे मनाक् प्रस्खलन्तः ।
भवान्या रुषा प्रौढसापत्न्यभावात् करेणाहतास्त्वत्तरङ्गा जयन्ति ॥५॥

जलोन्मज्जदैरावतोद्दानकुम्भस्फुरत्प्रस्खलत्सान्द्रसिन्दूरराजे ।
क्वचित् पद्मिनीरेणुभङ्गप्रसङ्गे मनः खेलतां जह्नुकन्यातरङ्गे ॥६॥

भवत्तीरवानीरवातोत्थधूलीलवस्पर्शतस्तत्क्षणं क्षीणपापः ।
जनोऽयं जगत्पावने त्वत्प्रसादात् पदे पौरुहूतेऽपि धत्तेऽवहेलाम् ॥७॥

त्रिसन्ध्यानमल्लेखकोटीरनानाविधानेकरत्नांशुबिम्बप्रभाभिः ।
स्फुरत्पादपीठे ! हठेनाऽष्टमूतेर्जटाजूटवासे ! नताः स्मः पदं ते ॥८॥

—कालिदासः

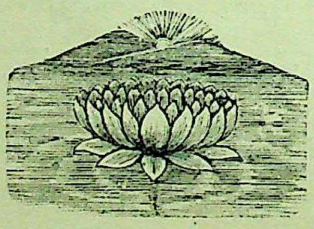

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं कौन हूँ ?

(श्रीयतिवर भोले बाबाजी महाराज)

मैं शिशु हुआ, मैं कुमार हुआ, मैं तरुण हुआ, मैं पौगंड हुआ, मैं वृद्ध हुआ। अब मैं शिशु नहीं हूँ, कुमार नहीं हूँ, तरुण नहीं हूँ, पौगंड नहीं हूँ, वृद्ध भी मैं बहुत दिनों तक नहीं रहूँगा। थोड़ी देर है, मैं मृतक हो जाऊँगा, क्योंकि दाँत झड़ गये हैं, आँखोंने आँखें दिखा दी हैं। दूरका आदमी पहिचाननेमें नहीं आता। पास आये हुएको किसी भाँति पहिचान तो लेता हूँ, पर सरलतासे उसे भी नहीं पहिचान सकता ? शरीरपर झुर्रियाँ लग गई हैं, हड्डियाँ खोखली हो गई हैं, कान ऊँचा सुनने लगे हैं, खाया-पिया हजम नहीं होता, कमर झुक गई है, हाथ काँपते हैं, पैर लड़खड़ाते हैं, दिन दूनी रात चौगुनी कमजोरी बढ़ती जाती है, बाल श्वेत काँटेसे हो गये हैं, कोई इन्द्रिय पहलेके समान काम नहीं देती। इससे सिद्ध होता है कि अब मैं मृतक होकर चार आदमियोंके कंधेपर चढ़कर जानेवाला हूँ। शोक यह है कि आयु भर दुनियाँ भरके फंदोंमें फँसा रहा, कभी एकान्तमें बैठकर मैंने यह नहीं विचार किया कि मैं कौन हूँ ?

शिशु आदि जो कुछ पहले मैं था, वह तो मैं इस समय हूँ नहीं और मैं तो हूँ ही, उससे सिद्ध होता है कि मैं शिशु आदि तो था नहीं, यदि होता, तो अब भी होता, परन्तु अब मैं शिशु आदि नहीं हूँ। तब मैं कौन हूँ ? क्या मैं वृद्ध हूँ ? नहीं वृद्ध भी नहीं हूँ, क्योंकि जो मैं आज हूँ, सो कल नहीं रहूँगा; जो कल होऊँगा, सो परसों नहीं रहूँगा, दिन प्रतिदिन अधिक वृद्ध होता जाऊँगा और अन्तमें कालकी गालमें समा जाऊँगा। इसलिए मैं वृद्ध भी नहीं हूँ, तब मैं कौन हूँ ? शिशु आदि शरीरकी अवस्थाएँ थीं, शरीरमें अध्यास करनेसे मैं अपनेको शिशु आदि मानता था, वस्तुतः मैं शिशु आदि नहीं था, शरीर ही शिशु आदि हुआ था, मैं नहीं हुआ था, मैं तो शरीरसे कोई अन्य ही वस्तु हूँ, परन्तु कौन हूँ, यह मेरी समझमें नहीं आता।

किसीने आज तक मुझे यह बात बताई भी नहीं, बताते कहाँ से ? वे आप ही अपनेको नहीं जानते होंगे, क्योंकि कोई अपनेको देवदत्त, कोई यज्ञदत्त, कोई पण्डितजी, कोई राजा साहब, कोई सेठजी, कोई चौधरी, कोई न्यायाधीश बताते थे। ये सब देहके नाम हैं, वे देहके ही नामको अपना नाम बताते थे, इससे सिद्ध होता है कि वे देहको ही आत्मा जानते थे। मुझे भी कोई लल्लू, कोई मुन्ना, कोई चन्द्रशेखर, कोई विद्यार्थी, कोई गुरुजी, कोई मित्र, कोई भाई, कोई चाचा, कोई ताऊ इत्यादि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नामोंसे पुकारते थे। इससे सिद्ध होता है कि जैसे वे अपनेको देह समझते थे, इसी प्रकार मुझे भी देह मानते थे। वास्तवरूपसे वे मुझे और अपनेको नहीं जानते थे। कितने आश्चर्यकी बात है कि मैं चितामें जाकर जलनेकी तैयारीमें हूँ और अभीतक 'मैं' शब्दका अर्थ नहीं जानता। अंकगणित पढ़ लिया, बीजगणित पढ़ लिया, रेखागणित पढ़नेमें वर्षों तक माथापच्ची की, साइंस पढ़ा, फिलोसोफी पढ़ी, ग्रेजुएट हो गया, परन्तु यह नहीं पढ़ा कि मैं कौन हूँ ? 'मैं' पदका क्या अर्थ है ?

इस मेरे पढ़नेको धिक्कार है। बारम्बार धिक्कार है। कोर्सके पोथे पढ़ डाले, पढ़ा भी दिये और पढ़ा-पढ़ाया कुछ नहीं। जब पढ़नेवाले अथवा पढ़ानेवालेको इसी का पता नहीं है कि मैं कौन हूँ, तो उसने क्या पढ़ा और क्या पढ़ाया ? न कुछ पढ़ा और न कुछ पढ़ाया। शोक है, महाशोक है ! एक 'मैं' शब्दका अर्थ भी नहीं जानता हूँ और सैकड़ों और हजारों कोश देख डाले हैं। वही कहावत हुई कि रात भर पीसा और चपनी भर बटोरा। आयु भर पढ़ा और एक शब्दका अर्थ नहीं जाना। शब्द भी कौन ? 'मैं' शब्द, जिसको सब बोलते हैं, सबसे पहले बोलते हैं और सदा बोलते हैं। ऐसे सामान्य शब्दका अर्थ भी मैं नहीं जानता और सब कुछ पढ़ा हुआ अपनेको मानता हूं। जैसे गदहेकी पीठपर पुस्तकें लदी हों, इसको कोई पढ़ा हुआ नहीं कह सकता। गदहेके समान मैंने पोथोंका भार ही अपने ऊपर लादा। पढ़ा-पढ़ाया कुछ नहीं। व्यर्थ ही मनुष्य शरीर धारण किया। सुनता हूँ कि इस मनुष्य-शरीरमें ही 'मैं' का अर्थ समझा जा सकता है। मनुष्य ही 'मैं' शब्दके अर्थके समझनेका अधिकारी है। अधिकारी शरीर पाकर भी मैंने 'मैं' का अर्थ नहीं जाना। मेरे लिए शोक है ! महाशोक है !! अत्यन्त शोक है !!!

मैं 'मैं' शब्दका अर्थ नहीं जानता, दूसरा कोई इस समय मेरे पास है नहीं, तब मुझे 'मैं' का अर्थ कौन बतावे ? सुनता हूँ कि ईश्वर सर्वव्यापी है, घट-घट में वास करता है, जो कोई कुछ भी कहता है, ईश्वर उसकी बातें सुनता है, इतना ही नहीं, ईश्वर सबको देखता है, सबकी बातें सुनता है, स्पर्श करता है, चखता है, सूँघता है, जितने कार्य करता है। सब वही करता है, उसके सिवा दूसरा कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है प्रमाता नहीं है, जो कुछ है, सब वही है, स्मृति कहती है—'कर्ता भोक्ता जनार्दनः' यानी कर्ता और भोक्ता जनार्दन भगवान् ही हैं। और भी कहा है—'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' यानी भूत विष्णु हैं और भुवन विष्णु हैं। इससे सिद्ध है कि जो देखने, सुनने, स्मरण करनेमें आता है, सब ईश्वर ही है। जब सब ईश्वर ही है और सर्वत्र ईश्वर ही है, तब यहाँ भी वह होगा ही और मेरे भीतर भी वह होगा ही। हाँ, मुझे स्मरण होता है, एक दिन मैं एक सन्तके पास बैठा था, अन्य भी कई सज्जन वहाँ बैठे थे, एक सज्जनने 'ईश्वर कौन है' ऐसा प्रश्न सन्तसे किया, तो उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्त—भाई, ईश्वर कौन नहीं है। सब ईश्वर ही हैं, तू ईश्वर है, तेरा पिता ईश्वर है, तेरी माता ईश्वर है, तेरा भाई ईश्वर है, तेरी बहिन ईश्वर है, तेरा कुत्ता ईश्वर है, सूर्य होकर ईश्वर ही तप रहा है, चन्द्र होकर ईश्वर ही चमक रहा है। नक्षत्र, तारे, बिजली, मेघ, वरुण, कुबेर, अग्नि, वायु, नैऋत, यमराज, इन्द्र, सब ईश्वर ही हैं। सब ईश्वरसे उत्पन्न हुए हैं, तो सब ईश्वर ही हैं, कार्य और कारणका अभेद होता, यह बात सब अनुभवसे सिद्ध है, इसलिए यह समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर ही है, वेदवेत्ताओंका वचन है कि यह सब वासुदेव ही है, वासुदेवके सिवा कुछ नहीं है।

इत्यादिसे सिद्ध है कि ईश्वर सब है और सर्वत्र है, मुझे इसीसे प्रार्थना करनी चाहिये कि वह मुझे 'मैं' शब्दका अर्थ बता दे!

ऐसा विचार कर चन्द्रशेखर ईश्वरसे इस प्रकार प्रार्थना करने लगा—

प्रार्थना—हे देवोंके देव, महादेव, हे अन्तर्यामिन्, हे परमात्मन्, हे विश्वेश्वर, हे भक्तवत्सल, मैंने वृद्ध पुरुषोंसे सुना है कि आप एक, अद्वितीय, निर्विशेष, सत्य, ज्ञान, आनन्दस्वरूप हैं, फिर भी अपने भक्तोंकी रक्षा करने और उनको अपना तत्त्व बतानेके लिए आप अनेक अवतार लेते हैं। पृथिवीका उद्धार करनेके लिए आपने क्रोड़रूप धारण किया था, प्रह्लादकी रक्षा करनेके लिए आप अद्भुत सिंह बने थे। गजेन्द्रकी ग्राहसे रक्षा करनेके लिए आप सुदर्शन चक्र लेकर हरिरूप होकर दौड़े थे। मनुकी रक्षा करनेके लिए आपने मत्स्य बनकर पृथिवीरूप नौकाको प्रलयके के समुद्रमें चलाया था। एकरूप होकर भी आप अपने भक्तोंका कार्य सिद्ध करनेके लिए अनेकरूप हो जाते हैं, ऐसा लोक और शास्त्रमें प्रसिद्ध है। यों तो सब आपके ही रूप हैं, फिर भी आपके नित्य और नैमित्तिक दो रूप हैं। आपके ऊपर कहे गये रूप तो नैमित्तिक हैं और सन्त-संन्यासी-महात्मा आपके नित्य रूप हैं। इन दो रूपोंसे आप सबका कल्याण करनेके लिए सबकी शङ्काएँ निवृत्त करते हैं और सबको सन्मार्गका उपदेश देते हैं। यद्यपि मैंने आजतक आपकी भक्ति नहीं की है, फिर भी मैंने शास्त्रविरुद्ध कोई कर्म नहीं किया है। आप घट-घटवासी हैं। मेरे मनकी आप जानते ही हैं। यदि मेरी आपमें सच्ची भक्ति हो, तो आप मुझे किसी रूपमें दर्शन देकर मेरे प्रश्नोंका उत्तर दीजिये यानी 'मैं' शब्दका अर्थ मुझे समझाइये, मैं आपसे और कुछ नहीं कहता, मैं आपसे धन-दौलत नहीं माँगता, आयु नहीं चाहता, पुत्रादिक जो हैं, उतने ही बहुत हैं, अधिक मैं नहीं चाहता, अब मेरा जीवन अनुमानसे थोड़ा-सा रह गया है, अपनी शेष आयुमें मैं आपका ही अनुसंधान करता हुआ अपने इस क्षणभंगुर शरीरका त्याग करूँ इतना ही मैं चाहता हूँ।

सच्ची प्रार्थना ईश्वरके कान तक तुरन्त पहुँच जाती है, चन्द्रशेखरने अपनी प्रार्थना समाप्त नहीं की थी, क्या देखता है कि कषाय वस्त्र धारण किये, माथेपर त्रिपुण्ड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगाये और हाथमें दण्ड लिये हुए, लम्बे कदवाले एक पुरुषने उसके कमरेमें प्रवेश किया, आनेवालेका मस्तक कुंदनके समान चमक रहा था। चन्द्रशेखरने उसे साष्टांग दंडवत् किया, चरण धोकर ऊँचे आसनपर बैठाया, जब महात्मा सुखसे आसन पर बैठ गये तो चन्द्रशेखर हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगा—

चन्द्रशेखर—महाराज! आपके दर्शनोंसे मेरे मनमें परम आह्लाद हुआ है ऐसा अनुमान होता है कि जनार्दन भगवान्ने मेरी प्रार्थना सुन ली है और स्वीकार भी कर ली है। वे स्वयं ही मेरा मनोरथ पूर्ण करनेके लिए आपका वेष धारण करके आये हैं, मेरा मनोरथ अवश्य पूर्ण करेंगे। आपको मैंने पहले कभी नहीं देखा है।

साधु—भाई! मैं इसी शहरमें रहता हूँ, परन्तु एकान्त जंगलमें वास करता हूँ, मेरे स्थानपर कोई पहुँच नहीं सकता, मैं भी शहरमें बहुत कम आता हूँ, इसलिए तूने मुझे नहीं देखा होगा, मैंने भी तुझे आज तक नहीं देखा। आज न जाने कौन-सी शक्ति मुझे यहां ले आई है। अचानक मैं अपने आसन परसे उठ बैठा, सीधा पैर उठाये चला आया हूँ, मार्गमें भी कहीं नहीं ठहरा और न मैंने किसीको देखा। ऐसा अनुमान होता है कि तेरा संकल्प मुझे यहाँ खींच लाया है। आशुतोष देव सबके मनोरथ पूर्ण करते हैं, मैं तो कुछ कर नहीं सकता। हां, तेरा कोई प्रश्न हो, तो मुझसे कर सकता है। यदि मैं जानता होऊंगा, तो बता दूँगा।

चन्द्रशेखर—महाराज! मैं एक उलझनमें पड़ा हुआ हूँ, 'मैं कौन हूँ' उसकी मुझे खबर नहीं हैं, आपसे 'मैं' शब्दका अर्थ पूछना चाहता हूँ और यह भी जानना चाहता हूँ कि मैं किसका भजन करनेसे संसार सागरसे तर सकता हूँ। आजतक तो मैंने किसीका भजन किया नहीं, भजन करूँ भी कैसे? मैं 'मैं' शब्दका अर्थ ही नहीं जानता, तब अन्य कुछ तो जानूं ही कहांसे? बिना जाने किसका भजन करूँ? यथासंभव मैंने सत्यव्यवहार किया है, धर्मसे धन कमाया है, धर्मसे ही सन्तानकी उत्पत्ति की है, किसीको मनसे, कर्मसे, वाणीसे पीड़ा भी नहीं दी है, संसारमें मैंने कोई सार नहीं देखा, धनसे, प्रजासे, और भोगोंसे किसीको तृप्ति नहीं हो सकती, यह मेरा निश्चय है। इसलिए मैं संसारसे यानी जन्म-मरणसे छूटना चाहता हूँ, संसारसे मुक्त होनेका उपाय आप मुझे बतलाइये!

साधु—भाई, तू बड़ा संस्कारी पुरुष है, जो तूने इस कलिकालमें भी सत्यका व्यवहार किया है और संसारसे मुक्त होना चाहता है। आजकल तो प्रायः सभी असत्य व्यवहार ही करते हुए देखनेमें आते हैं, संसारसे कोई छूटना नहीं चाहता। कोई विरला ईश्वरका प्रसादपात्र पुरुष ही भोगोंपर आसक्ति छोड़कर ईश्वर भजनमें लगता है। तू धन्य है, जो संसारसे मुक्त होनेका मार्ग पूछता है। संसारसे तू विरक्त है, इसलिए मेरे उपदेशका और 'मैं' का अर्थ समझनेका अधिकारी है। प्रथम तू मुझे यह बता कि तूने 'मैं' शब्दका अर्थ क्या समझा है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन्द्रशेखर—महाराज, मेरी समझमें इतना तो आता है कि देह आदि 'मैं' शब्दका अर्थ नहीं है, क्योंकि मेरी देह तो जन्मसे लेकर अबतक गिरगिटके समान कई रंग बदल चुकी है और मैं ज्योंका त्यों हूँ, इससे मैं समझता हूँ कि मैं देह नहीं हूँ, किन्तु देहसे कोई अन्य वस्तु हूँ, जो कभी बदलती नहीं है किन्तु सर्वदा एक-सी रहती है, परन्तु वह वस्तु कौन है, यह मेरी समझमें नहीं आया।

साधु—(प्रसन्न होकर) हाँ, जैसा तू कहता है, वैसा ही है। देख, जैसे तू अपनेको 'मैं' कहता है, इसी प्रकार सब ही अपनेको 'मैं' कहते हैं, अधिक तो क्या ईश्वर भी अपनेको 'मैं' ही कहता है, इसलिये 'मैं' कहनेवाला छोटा-सा नहीं है; किन्तु बहुत बड़ा है, जो समस्त संसारमें फैला हुआ है, आजकलके लोग ही 'मैं' कहते हों, ऐसा नहीं है, किन्तु जितने पहले हो चुके हैं, सब अपनेको 'मैं' कहकर पुकारते थे और आगे जितने होंगे, वे भी सब अपनेको 'मैं' कहकर ही पुकारेंगे, इसलिए 'मैं' शब्दका अर्थ 'मैं' पदार्थ सब देशमें, सब कालमें और सब वस्तुओंमें व्यापक है। ऐसा व्यापक पदार्थ ब्रह्म है, इसीको आत्मा कहते हैं, इसलिए 'मैं', 'आत्मा' और 'ब्रह्म' तीनों एक ही हुए। भेद इतना है कि 'मैं' शब्द शरीरके बिना नहीं कहा जाता, जब शरीर होता है, तभी ईश्वर अपनेको 'मैं' कहता है और जीव भी शरीरको ग्रहण करके ही 'मैं' शब्दका अपने लिए उपयोग करता है। यदि शरीररूप उपाधिका बाध कर दिया जाय, तो जीव और ईश्वर एक ही हैं यानी आत्मा अथवा ब्रह्म एक ही हैं। 'मैं' शब्दका प्रयोग तो लोकमें सब अपने लिए ही करते हैं और आत्मा शब्दका प्रयोग तो सबके लिए हो सकता है, जैसे, मैं आप जाता हूँ, तू आप पढ़ता है, वह आप यहाँ नहीं आता। आत्मा आपका ही नाम है। ब्रह्म एक अद्वितीय सत्य, ज्ञान आनन्दस्वरूप है, वही अनेक नामरूप अपनी मायासे धारण कर लेता है, इसलिए जगत् जीव दोनों ब्रह्म ही हैं, भाव यह है कि 'मैं' 'तू' 'वह' यह सब ब्रह्मके ही नाम हैं और ब्रह्म सबका आत्मा यानी सबका अपना आप अर्थात् स्वरूप है, इसलिए देह और ब्रह्माण्डकी उपाधिका त्याग करके ब्रह्म ही सबका स्वरूप है, वही सब शरीरोंमें अपनेको 'मैं' 'मैं' कहकर पुकार रहा है। जब वह देहको ग्रहण करके 'मैं' कह रहा है, तब भी ब्रह्म है और जब देहको ग्रहण न करके 'मैं' नहीं कह रहा है, तब भी ब्रह्म ही है, इसी ब्रह्मका तू अनुसंधान किया कर, अवश्य ही ब्रह्म होकर संसारसे पार हो जायगा। जैसे रस्सीमें रस्सीके यथार्थ न जाननेसे सर्पकी कल्पना होती है, इसी प्रकार अपने आत्मा ब्रह्मको ठीक-ठीक न जाननेसे 'मैं' कल्पित है। जैसे सर्पका बाध होनेसे रस्सी ही शेष रह जाती है, इसी प्रकार 'मैं' का बाध करनेसे ब्रह्म ही शेष रहता है। इसलिए 'मैं' का बाध करके 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा जप अथवा अनुसंधान किया कर। उस मंत्रके जापका फल वेदवेत्ता ऐसा बताते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिगीत छन्द

(१)

'मैं ब्रह्म हूँ' यह मंत्र पावन सर्वसे ही श्रेष्ठ है।
क्या चित्तके, क्या देहके सब दोष करता नष्ट है॥
'मैं ब्रह्म हूँ' जप रे सदा, यदि श्रेय सच्चा इष्ट है।
दमड़ी न होती खर्च इसमें नाँहि कायाकष्ट है॥

(२)

'मैं ब्रह्म हूँ' इस मंत्रसे, ईर्ष्यादि अवगुण दूर हों।
तृष्णा मिटे चिन्ता छुटे, भय-शोक-तम कर्पूर हों॥
'मैं ब्रह्म हूँ' इस जापसे, कामादि शत्रू चूर हों।
संतोष शम दम धीरता, आराम सब भरपूर हों॥

(३)

'मैं ब्रह्म हूँ' इस ध्यानसे, मन स्वच्छतम हो जाय है।
सब द्वन्द्व रहते दूर हैं, ना निकट कोई आय है॥
'मैं ब्रह्म हूँ' यह मंत्र देहाध्यास नरका खोय है।
सब वासना मिट जायँ हैं, सुख-शान्तिसे नर सोय है॥

(४)

'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञानसे, निर्मूल होती द्वैतता।
देखे जहाँ, दीखे वहाँ ही एकरस अद्वैतता॥
'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञानसे, हों प्राप्त सारी सिद्धियाँ।
पर तुच्छ भासें सिद्धियाँ, मिथ्या जचें हैं ऋद्धियाँ॥

(५)

'मैं ब्रह्म हूँ' इस मंत्रसे, सम ब्रह्म सबमें भासता।
इसके सिवा ना अन्य कोई मोक्षका है रासता॥
भोला! इसीको जप सदा, मत अन्यसे रख वासता।
नाहीं कहीं फिर मृत्यु है, नाहीं किसी की दासता॥

चन्द्रशेखर इसी मंत्रका नित्य निरन्तर अनुसन्धान करता हुआ सुखी हुआ। इत्यतिशोभनम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

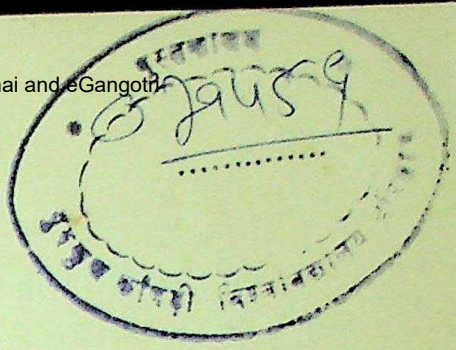

धारणा

[लेखक—श्रीमण्डलेश्वर श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज]

आज हम अच्युतके पाठकोंके सम्मुख धारणाके स्वरूपका निर्वचन करते हैं। प्रणायाम तथा प्रत्याहारके अनन्तर साधकको धारणाका अभ्यास करना चाहिए। पातञ्जल योगशास्त्रमें धारणाका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो० सू० ३-१)

अर्थ—नाभिचक्रमें, हृदयकमलमें, मूर्धस्थानगत ज्योतिमें, नासिकाके अग्रभागमें, जिह्वाके अग्रभाग आदि स्थानोंमें अथवा बाह्य अभीष्ट विषयोंमें चित्तकी वृत्तिको बांध देना धारणा है अर्थात् अपने अभीष्ट लक्ष्य निर्गुण वा सगुण या अन्य विषयोंमें चित्तको स्थिर करना 'धारणा' है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी श्रीकृष्ण भगवान्ने जहाँ तहाँ धारणाका स्वरूप बतलाया है, जैसे—

'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥' (५-१७)

अर्थ—'ब्रह्म' में है बुद्धिकी वृत्ति जिनकी, ऐसे धारणावाले पुरुषोंका नाम 'तद्बुद्धयः' है, इस पदसे धारणाका स्वरूप कहा। 'तत्परायणाः' इस पदसे ध्यानका स्वरूप कहा। 'तन्निष्ठाः' पदसे समाधिका स्वरूप कहा। 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' तथा 'तदात्मानः' पदोंसे जीवन्मुक्तका स्वरूप कहा। 'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिम्' इस वाक्यसे विदेहमुक्तका स्वरूप कहा गया है।

'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥' (६—२५)

अर्थ—चारों तरफ विषयोंमें बिखरी हुई अन्तःकरणकी वृत्तियोंको धीरजसे इकट्ठा करे, धीरे धीरे विषयोंसे मनको हटाकर आत्मामें स्थिर करके अन्य कुछ भी चिन्ता न करे। यह तभी हो सकता है जब मन आत्मामें संलग्न हो, इसका मूल हेतु आत्मामें मनकी धारणा ही है।

'सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥' (८-१२)

अर्थ—सब इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंसे हटाकर, मनका हृदयमें निरोध कर, प्राणायाम द्वारा अपने प्राणोंको सिरमें चढ़ाकर आत्माको योगधारणामें स्थिर करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारणाका विषय

श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धमें (अ० १ और २) धारणाके विषयका इस प्रकार वर्णन है—

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः ।
मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया ॥१९॥

अर्थात् बुद्धि है सारथी जिसका, ऐसे शरीररूपी रथवाले जीवरूप स्वामी रथीको चाहिए कि मनरूपी दृढ़ लगामसे श्रोत्र आदि इन्द्रियरूपी घोड़ोंको शब्द आदि विषय-रूपी कुमार्गोंसे हटाकर नाना प्रकारके कर्मोंसे विक्षिप्त मनकी, सत्य-असत्यका विवेक करनेवाली बुद्धिसे शुभ अर्थमें, धारणा करे। इस श्लोकसे धारणाके विषय (शुभ) का सामान्यतः निर्देश किया गया है।

अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् ।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ॥१७॥

श्वास, प्रश्वास और मनको वश करके मनसे शुद्ध अकार, उकार और मकार मात्रावाले परब्रह्म 'ॐ' अक्षरका अभ्यास करे। ॐ इस अक्षरका नाम ब्रह्मबीज है, इसको विस्मरण न करे अर्थात् उसकी निश्चल धारणा करे। इस श्लोकसे धारणाका विषय ॐकार कहा गया है।

यथा सन्धार्यते ब्रह्मन् ! धारणा यत्र सम्मता ।
यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम् ॥ २२ ॥

राजा परीक्षित् शुकदेवजीसे कहने लगे—हे ब्रह्मन् ! जिस विषयमें शास्त्रकी रीतिसे धारणा सम्मत हो और जिस प्रकार धारणा अच्छी तरह करने योग्य हो और जिस धारणासे पुरुषके मनके मल शीघ्र दूर होते हों, उस धारणाको आप कृपा करके कहिए। शुकदेवजी कहने लगे—

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्धिया ॥ २३ ॥

हे राजन् ! आसनसे आसनको जीतकर, प्राणायामसे प्राणोंको जीतकर, संगको जीतकर यानी आसक्ति रहित होकर बुद्धिसे मनको भगवान्के स्थूल-रूपमें धारण करे।

उक्त श्लोकसे धारणाका विषय विराट् पुरुष कहा गया है। अब विराट् पुरुषके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

पातालमेतस्य हि पादमूलं पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम् ।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥२६॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्त्तेरूरुद्वयं वितलं चाऽतलं च ।
महीतलं तज्जघनं महीपते ! नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥ २७ ॥
उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवामहर्वदनं वै जनोऽस्य ।
तपो ललाटं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ॥ २८ ॥

हे राजन् ! इस विराट् पुरुषका पादतल पाताल है। इसके पादके पश्चाद्भाग या अग्रभागको रसातल कहते हैं और विश्वस्रष्टाके गुल्फ महातल कहे गये हैं। तल और अतल ये दोनों उसकी जङ्घाएँ हैं। विश्वमूर्तिके दोनों जानु सुतल हैं। वितल और अतल दोनों ऊरु हैं।

हे महीपते ! उस विराट् पुरुषका जघन (कमरका अग्रभाग) महीतल अर्थात् भूलोक है और आकाशतल इस पुरुषकी नाभि है। ज्योतियोंका समूह इस पुरुषका उरःस्थल तथा महर्लोक ग्रीवा है। जनलोक मुख है। इस आदि पुरुषका तपलोक ललाट है और सत्यलोक सिर है। यहाँ पातालादि भगवत्पादमूलत्वादिका विधान उपासनाके लिए है। एवं च इस प्रसंगमें पाताल आदि चतुर्दशभुवनात्मक विश्व विराट् पुरुषका धारण कहा गया है—

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः ।
तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नाऽन्यत्र सज्जेद्यत आत्मनाऽतः ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! वह विराट् पुरुष ही सम्पूर्ण बुद्धिवृत्तियोंके द्वारा सबका अनुभव करता है। जैसे स्वप्नका द्रष्टा एक ही है यानी जिसको स्वप्न हो रहा है, वही एक स्वप्नका द्रष्टा है अन्य जीवोंमें केवल द्रष्टृत्वकी कल्पनामात्र है, वैसे ही जाग्रत्में भी केवल एक ही द्रष्टा है अन्य द्रष्टाओंकी केवल कल्पना ही है। उस सत्य आनन्दनिधिका ही भजन करना चाहिए। अन्य विषयोंमें आसक्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि विषयोंमें आसक्ति करनेसे आत्माका पतन होता है।

विराड्धारणकी महिमा

एवं पुरा धारणयात्मयोनिर्नष्टां स्मृतिं प्रत्यवरुद्ध्य तुष्टात् ।
तथा ससर्जेदममोघदृष्टिर्यथाप्ययात् प्राग् व्यवसायबुद्धिः ॥ (२।१)

शुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्, इस प्रकारसे यह विराट् पुरुषकी धारणा सृष्टिके आदिमें प्रजापतिने की थी। इस धारणाके प्रतापसे ही प्रजापतिने अन्तरात्माको सन्तुष्ट करके नष्ट स्मृतिको पुनः प्राप्त किया और पूर्व सृष्टिमें जैसा सृष्टिक्रम था, उसके स्मरण द्वारा जिस प्रकार प्रलयसे प्रथम सृष्टिकी रचना तथा क्रम आदिका निश्चय किया था, ठीक उसी तरह इस जगत्की रचना की और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमोघदृष्टिपनेकी प्राप्ति की; अतः इस धारणाकी बड़ी महिमा है। प्रत्यक्ष व शीघ्र फलको देनेवाली यह विराट्की धारणा है। हे राजन्! खान, पान, ऐश, आराम आदि विषयोंका जो यह बुद्धि मिथ्या व विफल नामोंके द्वारा ध्यान करती है, सो ठीक नहीं है। यह तो केवल शब्द-ब्रह्मका मार्ग है। उस मायामय विषय जालमें परिभ्रमण करनेवाली वासनामें मोहित हुआ पुरुष सब प्रकारके पुरुषार्थोंसे भ्रष्ट हो जाता है। किसी भी अर्थकी सिद्धि नहीं कर सकता। अतः विवेकी विद्वान्को चाहिए कि अनात्मशब्दोंसे जितने अर्थ भासित होते हैं, उनमें अप्रमत्त होवे, सावधान होवे और इस विराट् पुरुषकी धारणाका निश्चय करे। भोगविलासकी सामग्रीके सम्पादनके लिए व्यर्थ यत्न न करे। शरीरका भोग तो प्रारब्धके बलसे सिद्ध ही है। जैसे दुःख प्रयत्नके विना बलात् प्राप्त होता है, वैसे ही प्रारब्ध सुखभोग भी यत्नके बिना प्राप्त होता है। संसारी प्रयत्न करनेमें शरीर, मन और वाणी के परिश्रमकी समीक्षा करे। शरीरके योगक्षेमकी चिन्ता न करे, क्योंकिः—

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः॥ (२।४)

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहा किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥ (२।५)

बड़ी लम्बी-चौड़ी पृथ्वीके विद्यमान रहते शय्याके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। तकिया लगानेके लिए जब स्वतःसिद्ध हाथ है ही तब फिर उपबर्हणका (तकियाका) प्रयोजन ही क्या है। अन्न खाने और पानी पीने के लिए परमेश्वरने हाथोंकी अञ्जलि बना दी है, फिर अनेक प्रकारके पात्रोंकी क्या जरूरत है? दिशा, वल्कलादि वस्त्र जब मौजूद हैं, तब फिर अन्य वस्त्रोंसे क्या मतलब है? यदि अन्य वस्त्र भी अपेक्षित हों, तो इधर-उधर मार्गोंमें फटे-पुराने वस्त्र पड़े रहते हैं, उनसे ही शीतनिवारण कर सकते हैं। भिक्षा सर्वत्र मिल सकती है। अन्ततः परोपकारी वृक्ष आदि पुष्प, फल आदि भिक्षा क्या नहीं दे सकते? क्या नदियाँ सूख गई हैं? निवासके लिए पर्वतोंकी गुफाएँ क्या बन्द हो गई हैं? क्या सर्वेश्वर अपने भक्तोंकी रक्षा नहीं करते? विवेकी विद्वान् क्यों धनके दुर्मदसे मदान्ध पुरुषोंकी शरण लेते हैं? अर्थात् अमोघ महिमशाली सर्वान्तर्यामीकी धारणाको क्यों नहीं करते?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीशुकदेवजीने किसी एकदेशीके मतसे धारणाके विषयका वर्णन राजा परीक्षित्‌से इस प्रकार भागवतके दूसरे स्कन्धमें किया है—

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति॥ (२।८)
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम्।
लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं
स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम्॥
उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णकालये
योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम्।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्ध-
मम्लानलक्ष्म्या वनमालयाऽञ्चितम्॥ (२।१०)
विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकै-
र्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः।
स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलै-
र्विरोचमाननहासपेशलम्॥ (२।११)
अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्-
भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम्।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं
यावन्मनोधारणयाऽवतिष्ठते॥ (२।१२)
एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्
पदादि यावद्धसितं गदाभृतः।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा॥ (२।१३)
यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन्
विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोगः।
तावत्स्थवीयः पुरुषस्य रूपं
क्रियावसाने प्रयतः स्मरेत॥ (२।१३)

हे राजन्, कोई-कोई लोग स्वदेहके भीतर हृदयकाशमें रहनेवाले प्रादेशमात्र (अङ्गुष्ठ और तर्जनीको फैलानेसे जितना प्रदेश होता है उतने बड़े) चतुर्भुज शङ्ख-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चक्र-गदा-पद्माधारी पुरुषका धारणासे स्मरण करते हैं। वह पुरुष है कैसा— प्रसन्न मुख है, कमलपत्रके तुल्य बड़े-बड़े उसके नेत्र हैं, केसरके समान पीले वस्त्र पहने हैं, चमचमाते महारत्नजटित सुवर्णमय बाजुबन्द, सुन्दर उज्ज्वल बड़े-बड़े रत्नयुक्त किरीट और कुण्डल जिनके अंगोंमें शोभित हैं, योगाभ्याससे विकसित अपने हृदय-कमल की कर्णिकारूपी आलयमें योगेश्वर जिनके पादपल्लवको धारण करते हैं, श्रीके सहित भृगुलताके चिह्नवाले, कौस्तुभ रत्नोंकी मालाको गलेमें धारण किये हुए, और कभी भी न कुम्हलानेवाली वनमाला (पञ्चरङ्गी पुष्पोंकी माला) से सुशोभित, मेखला वेशकीमती अङ्गुलीयक, नूपुर, कङ्कणादि भूषणोंसे विभूषित, स्निग्ध, निर्मल तथा कुञ्चित नीलकेशोंसे अत्यन्त शोभायमान सुन्दर मुखवाले, उदारलीलासहित, मन्द-मन्दहासयुक्त ईक्षणसे सुशोभित भौंहोंकी चेष्टासे सूचित किया है अत्यन्त अनुग्रह जिन्होंने, जबतक मन धारणामें टिक सके, तबतक ऐसे चिन्तामय (मनोमय) ईश्वरका ध्यान करे। गदाधारी भगवान्के चरणोंसे लेकर मुसकानयुक्त मुखपर्यन्त प्रत्येक अङ्गोंका अन्तःकरणसे ध्यान करे, जिस-जिस अङ्गमें धारणासे मन टिक जाय, उस-उस विजित अङ्गको छोड़कर अगले-अगले अङ्गमें अपने मनको स्थिर करे साधक जैसे-जैसे मनको भगवान्के अङ्गोंमें धारणा द्वारा स्थिर करेगा वैसे-वैसे उसकी बुद्धि शुद्ध होगी। ब्रह्मा, विष्णु, महेश अथवा विराट् हिरण्यगर्भ ईश्वर है न्यून जिससे ऐसे निर्गुण ब्रह्मका नाम परावर है, इस निर्गुण परावर विश्वेश्वरमें जबतक भक्तियोग (परम प्रेम) पैदा न हो, तबतक नित्य नैमित्तिक आवश्यक क्रियाओंके अन्तमें इस स्थूल पुरुषके स्वरूपका पवित्र होकर प्रयत्नपूर्वक स्मरण करे। और जब सर्वान्तर्यामी निर्गुण परब्रह्ममें भक्तियोग पैदा हो जाय याने निर्गुण ब्रह्ममें चित्त रमने लग जाय तब चिन्मात्र निर्गुण ब्रह्मकी धारणा करे। निर्गुण अद्वैतविषयक धारणाका प्रतिपादन भी भागवतके दूसरे स्कन्धके २य अध्यायमें किया है—

मनः स्वबुद्ध्याऽमलया नियम्य
क्षेत्रज्ञ एतां निनयेत्तमात्मनि।
आत्मानमात्मन्यवरुद्ध्य धीरो
लब्धोपशान्तिर्विरमेत कृत्यात्॥ (२।१६)

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः
कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे।
न यत्र सत्त्वं न रजस्तमश्च
न वै विकारो न महान् प्रधानम्॥ (२।१७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परं पदं वैष्णवमामनन्ति
तद्यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदाः
हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे ॥ (२।१८)

विवेकी धीर पुरुषको चाहिए कि मल-विक्षेपरहित शुद्ध बुद्धिसे मनको नियमित बनाकर इस अपनी बुद्धिको क्षेत्रज्ञ (अन्तःकरणादिरूप क्षेत्रके द्रष्टा) में लीन करे। उस साक्षी त्वम्पदके लक्ष्य प्रत्यगात्माको तत् पदलक्ष्य ब्रह्मसे अभिन्न निश्चय करे, इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' अपरोक्ष निश्चय द्वारा शान्तिका लाभ करके कर्त्तव्यबुद्धिको त्यागकर विरामको प्राप्त हो। जिस अपने स्वरूपको पाकर यह जीव संसारसे विरामको प्राप्त होता है, उस स्वरूपका वर्णन शुकदेवजी करते हैं—जिसको बड़े बड़े इन्द्रादि देवताओंको भी मारनेवाला काल स्पर्श नहीं कर सकता है। मण्डलाधिपति देवताओंकी तो वहां गति कहांसे हो सकती है, न वहाँ सत्त्व, रज और तमका सम्पर्क है न उसमें कोई विकार (ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय सूक्ष्मभूत व मन) है, न महत्तत्त्व है, न प्रधान है और 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति प्रमाणसे अनात्मवस्तुकी उपेक्षा करनेका स्वभाव है जिन महानुभावोंका, ऐसे महात्मा लोग उस तत्त्वको सर्वश्रेष्ठपद या वैष्णवपद कहते हैं। दौरात्म्य भेदबुद्धिका त्याग करके परमपूज्य सर्वान्तर्यामीका स्मरण हृदयसे पदपदमें करते हुए प्रत्यगभिन्न ब्रह्मभावका अनुभव करते हैं। ये महानुभाव ही सबके सुहृद् हैं।

और योगतत्त्वोपनिषद्में धारणाके विषय पृथ्वी आदि पांच तत्त्व कहे गये हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पञ्चकम् ।
येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोच्यते ॥ ८४ ॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच भूत हैं। इन पांच महाभूतोंमें पांच देवताओंकी धारणा पांच प्रकारसे कही गई है।

पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते ।
पृथिवी चतुरश्रं च पीतवर्णं लवर्णकम् ॥ ८५ ॥
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम् ।
ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम् ॥ ८६ ॥
धारयेत् पञ्चघटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् ।
पृथिवीयोगतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः ॥ ८७ ॥

पैरके अंगूठेसे लेकर घुटने तक पृथिवीका स्थान कहा गया है। पृथिवीका आकार समरस चार कोनेवाला है। पृथिवीका वर्ण पीला है, 'लं' बीज है। पृथिवी तत्त्वमें प्राणवायुको स्थिर करके 'लं' बीजके सहित चार भुजावाले चतुर्मुख ज्योतिर्मय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्माजीकी मूर्त्तिका ध्यान करता हुआ पाँच घड़ी पर्यन्त पृथिवीतत्त्वकी यदि धारणा करे, तो पृथिवीतत्त्वको साधक जीत लेता है पृथ्वीतत्त्वके बशमें हो जानेसे साधककी पृथिवीके सम्बन्धसे मृत्यु नहीं होती है।

आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्त्तितम्।
अपोऽर्धचन्द्रं शुक्लं च वं बीजं परिकीर्त्तितम्॥ ८८॥
वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम्।
स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम्॥ ८९॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम्।
धारयेत् पञ्च घटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ९०॥
ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते।

घुटनोंसे लेकर गुदापर्यन्त जलतत्त्वका स्थान कहा गया है। जलका आकार अर्धचन्द्रके समान है, वर्ण शुक्ल है और 'वं' बीज कहा गया है। जलतत्त्वमें * प्राण वायुको स्थिर करके 'वं' बीजके सहित चार भुजावाले किरीट और पीतवस्त्र-वाले शुद्ध स्फटिकके तुल्य अच्युत नारायण देवकी पाँच घड़ी तक धारणा करे, तो साधक सब पापोंसे मुक्त होता है और जलतत्त्वके बशमें हो जानेसे जलसे भय नहीं रहता है और साधककी जलसे मृत्यु नहीं होती है।

आपायोर्हृदयान्तं च वह्निस्थानं प्रकीर्तितम्॥ ९१॥
वह्निस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम्।
वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमुज्ज्वलम्॥ ९२॥
त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसन्निभम्।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन्॥ ९३॥
धारयेत् पञ्च घटिका वह्निनाऽसौ न दह्यते।
न दह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निकुण्डके॥ ९४॥

गुदासे लेकर हृदयपर्यन्त अग्निका स्थान कहा गया है। अग्निका आकार त्रिकोण है, वर्ण रक्त है और 'रं' बीज है। अग्नितत्त्वमें प्राणवायुको स्थिर करके अर्थात् मनको स्थिर करके 'रं' बीजके सहित त्रिनेत्र, वरदाता, मध्याह्न सूर्यके तुल्य सम्पूर्ण अंगोंमें भस्म धारण किये हुए अग्नितत्त्वको पाँच घड़ी पर्यन्त यदि धारण करे तो साधक वह्निसे नहीं जलता है, अग्नि उसको नहीं जलाती है। इच्छापूर्वक अग्निमण्डलमें प्रवेश करनेपर भी इस साधकके शरीरको अग्नि नहीं जलाती है।

---

* 'जिस जिस वस्तुमें मन स्थिर होता है' उस उस वस्तुमें प्राण भी स्थिर होता है' यह नियम है, इसलिए पृथिवीतत्त्वमें मन स्थिर करनेपर पृथिवीतत्त्वमें प्राण भी स्थिर हो जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आहृदयाद्भ्रुवोर्मध्ये वायुस्थानं प्रकीर्तितम् ।
वायुः षट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम् ॥९५॥
मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम् ।
धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम् ॥९६॥
धारयेत् पञ्च घटिका वायुवद् व्योमगो भवेत् ।
मरणं न तु वायोस्तु भयं भवति योगिनः ॥९७॥

हृदयसे लेकर भ्रूमध्यपर्यन्त वायुका स्थान कहा गया है। वायुका आकार षट्कोण है, कृष्ण वर्ण है और 'यं' बीज है। वायुतत्त्वमें प्राणको स्थिर करे, प्रकाशमान 'यं' बीजके सहित सर्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वरकी वायुतत्त्वमें पाँच घड़ीपर्यन्त यदि धारणा करे, तो साधक वायुकी तरह आकाशमें अप्रतिहत गतिवाला होता है, इस योगीको वायुसे भय नहीं होता है एवं वायुसे नहीं मरता है।

आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते ।
व्योमवृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम् ॥९८॥
आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शङ्करम् ।
विन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम् ॥९९॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं धृतबालेन्दुमौलिनम् ।
पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम् ॥१००॥
सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम् ।
उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम् ॥१०१॥
आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद् ध्रुवम् ।
यत्र कुत्र स्थितो वाऽपि सुखमत्यन्तमश्नुते ॥१०२॥

भ्रूमध्यसे लेकर मूर्धापर्यन्त आकाशका स्थान कहा गया है। आकाशका आकार गोल है, रंग धूमके समान है और 'हं' बीज है। आकाशतत्त्वमें प्राणवायुको स्थिर करके 'हं' बीजाक्षरके ऊपर कल्याण करनेवाले अखण्ड मण्डलाकार गगनाकार शुद्ध स्फटिकके तुल्य बालचन्द्रमाको सिरमें धारण किये हुए पाँच मुखवाले सुन्दर दश भुजा तथा तीन नेत्रवाले सम्पूर्ण आयुधोंको धारण किये हुए सर्व-भूषणोंसे भूषित उमा भगवती प्रकृति है आधी देह जिनकी, ऐसे वरदाता सब कारणोंके कारण सदाशिव महादेवके सहित आकाश तत्त्वकी धारणा करे। इस आकाश तत्त्वकी धारणासे साधककी आकाशमें अप्रतिहत गति होती है, यह ध्रुव सत्य है। जहाँ कहीं भी यह रहे वहाँ ही अत्यन्त सुखका भागी होता है।

एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद् योगी विचक्षणः ।
ततो दृढशरीरः स्यात् मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥१०३॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मणः प्रलयेनापि * न सीदति महामतिः ॥१०३॥

इस प्रकार पूर्वोक्त रीतिसे पृथिवी आदि पाँच तत्त्वोंमें धारणाको विचक्षण योगी करे। इन धारणाओंके प्रभावसे योगीका शरीर दृढ़ हो जाता है। उस योगीकी मृत्यु नहीं होती। ब्रह्माकी आयु समाप्त हो जानेपर जो यावत् ब्रह्माण्डका प्राकृतिक प्रलय होता है। उसमें भी यह महाविद्वान् योगी दुःखी नहीं होता है।

अमृतनादोपनिषद्में धारणाका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्।
धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता ॥ १५ ॥

अर्थात् मन आदि प्रपञ्चको सङ्कल्पमात्र चिन्तन करके सङ्कल्पको आत्माका विवर्त होनेसे आत्मामें विलीन करे तथा शुद्धात्मा ही केवल है और कुछ नहीं है, ऐसा जो आत्म-विषयक निश्चय है इसका नाम सिद्धान्तमें धारणा कहा गया है।

और तेजोबिन्दूपनिषत्में भी धारणाके स्वरूपका वर्णन है—

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥ १।३५ ॥

जहाँ जहाँ मन जावे वहाँ वहाँ ब्रह्मदृष्टि करे, इस प्रकार जो मनकी स्थिति इसका नाम परा धारणा है।

और त्रिशिखी ब्राह्मणोपनिषद्में—आन्तरतत्त्वमें चित्तकी निश्चलता धारणा कही गई है—

चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः ॥ ३१ ॥

योगचूड़ामणि उपनिषद्में धारणाका इस प्रकार कथन है—

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥१११॥

पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीनोंका नाम एक प्राणायाम है, ऐसे १२ प्राणायामोंका नाम एक प्रत्याहार कहा गया है, ऐसे बारह प्रत्याहार अर्थात् एक सौ चौआलीस प्राणायामोंसे एक धारणा होती है।

और शाण्डिल्योपनिषत्में धारणाका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

अथ धारणा सा त्रिविधा आत्मनि मनोधारणम्, दहराकाशे बाह्याकाशधारणम्, पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेषु पञ्चमूर्तिधारणं चेति ॥ ९ ॥

---

* प्रलय चार हैं—नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और महाप्रलय। अस्मदादिसुषुप्ति नित्य प्रलय है। ब्रह्माकी सुषुप्ति नैमित्तिक प्रलय है और ब्रह्माकी आयु समाप्त होनेपर जो ब्रह्माण्डका प्रलय है वह प्राकृतिक प्रलय है। ब्रह्मसाक्षात्कारसे होनेवाला अज्ञान तत्कार्यका लय महाप्रलय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब धारणाके स्वरूपको कहते हैं—धारणा तीन प्रकारकी है—१–आत्मामें मनकी धारणा करना, २–शरीरके भीतर हृदयकमलगत जो दहराकाश (सूक्ष्म चिदाकाश) है, उस प्रत्यगात्मरूप चिदाकाशमें बाह्य भौतिकाकाशके अध्यस्तरूपसे निश्चयकी धारणा करना और ३–पृथिवीतत्त्वमें चतुर्मुख ब्रह्माकी, जलतत्त्वमें चतुर्मुख नारायणकी, अग्नितत्त्वमें त्रिनेत्र रुद्रकी, वायुतत्त्वमें विराट् पुरुषकी और आकाशतत्त्वमें निर्गुण गगनाकार महादेव सदाशिवकी अथवा सगुण ईश्वरकी धारणा करे। यह पाँच भूतोंमें पंचमूर्त्तिकी धारणा योगतत्त्वोपनिषत् (८४) के अनुसार लिखी गई है।

और जाबालदर्शनमें (खण्ड ८) धारणाका स्वरूप और विषय इस प्रकार कहा गया है—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रत!।
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशन्तु धारयेत्॥ १॥
प्राणे बाह्यानिलं तद्वत् ज्वलने चाग्निमौदरे।
तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने!॥ २॥
हयवरलकाराख्यं मन्त्रमुच्चारयेत् क्रमात्।
धारणैषा परा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी॥ ३॥

(क) अर्थात् महायोगी दत्तात्रेय महाराज साङ्कृति मुनिको उपदेश करते हैं—हे उत्तम व्रतवाले मुनिजी! अब मैं आपसे पाँच प्रकारसे धारणाका स्वरूप कहता हूँ—मुमुक्षु सावधानचित्त होकर अपने देहमें जो आकाशका अंश है, उसमें बाह्याकाशकी धारणा करे अर्थात् देहगत आकाशके अंशको बाह्याकाशमें मिला दे, बाह्याकाशसे अभिन्न समझे; और देहमें प्राणरूप जो वायुका अंश है उसको बाह्य वायुसे अभिन्न समझे, बाह्य वायुमें मिला दे और अग्निके अंशको बाह्य अग्निमें मिला दे—बाह्य अग्निसे अभिन्न निश्चय करे तथा जलके अंशको बाह्य जलमें मिला दे अर्थात् बाह्य जलसे अभिन्न चिन्तन करे। और हं यं वं रं लं इन मन्त्रोंका क्रमसे उच्चारण करे। इसी तरह सूक्ष्म देहके आकाशादि भागोंको भी बाह्य आकाशादिमें मिला दे अर्थात् आकाशादिसे अभिन्न निश्चय करे। यह सब पापोंसे मुक्त करनेवाली परा धारणा कही गई है।

जान्वन्तं पृथिवी ह्यंशो ह्यपां पाय्वन्तमुच्यते।
हृदयान्तस्तथाग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः॥४॥
आकाशांशस्तथा प्राज्ञः मूर्धांशः परिकीर्तितः।
ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा॥५॥
अग्न्यंशे च तथेशानमीश्वरं चाऽनिलांशके।
आकाशांशे महाप्राज्ञः धारयेत्तु सदाशिवम्॥६॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा हे महाबुद्धिमान् साङ्कृते ! देहमें घुटने पर्यन्त पृथिवीका अंश है और घुटनेसे लेकर गुदापर्यन्त जलका भाग है। गुदासे लेकर हृदयपर्यन्त अग्निका अंश है और हृदयसे लेकर भृकुटिके मध्यपर्यन्त वायुका अंश है और भृकुटिसे ऊपर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त आकाशका भाग है। पृथिवीके भागमें ब्रह्माजीकी धारणा करे, जलके अंशमें विष्णुकी धारणा करे, अग्निके अंशमें महेश्वरकी धारणा करे वायुके भागमें ईश्वरकी धारणा करे और आकाशमें शुद्ध चिद्रूप सदाशिव की धारणा करे।

अथवा तव वक्ष्यामि धारणा मुनिपुङ्गव !।
पुरुषे सर्वशास्तारं बोधानन्दमयं शिवम् ॥७॥
धारयेद् बुद्धिमान् नित्यं सर्वपापविशुद्धये।

अथवा हे मुनिश्रेष्ठ ! अब मैं तुम्हारे लिए सर्वोत्तम धारणाको कहता हूँ—श्रवण करो, बुद्धिमान् जिज्ञासुको चाहिए कि सब पापोंकी विशुद्धिके लिए स्वदेह-साक्षी प्रत्यगात्मामें सर्वान्तर्यामी चिदानन्दस्वरूप शिवकी धारणा करे अर्थात् शिवको साक्षी प्रत्यगात्मासे अभिन्न समझे।

ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ॥८॥
सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम्।
साक्षादात्मनि सम्पूर्णे धारयेत् प्रणवेन तु ॥

अथवा ब्रह्म आदि निखिल कार्यप्रपञ्चका अपने-अपने कारणमें लय करके सर्वकारण अनिर्वचनीय अव्यक्त जड़ मायाको साक्षादात्मामें धारण करे अर्थात निखिल मायादि प्रपञ्चको साक्षी आत्मामें कल्पित समझे।

इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसात्मनि योजयेत् ॥९॥

अथवा इन्द्रिय तथा शब्दादि विषयरूप निखिल प्रपञ्चका मनसे आत्मामें लयचिन्तन करे।

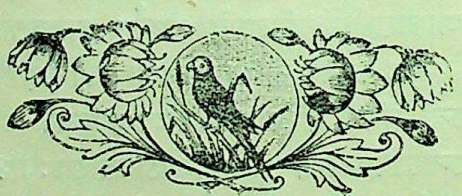

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुःखका गौरव

(लेखक—प्रिंसिपल पं० श्रीचण्डीप्रसाद शुक्लजी)

इस संसारमें यदि दुःख न होता, तो कोई भी मनुष्य शास्त्रकी जिज्ञासा न करता अर्थात् श्रीगुरुदेवके शरणागत होकर अद्वैत ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंका तात्पर्यनिर्णयरूप श्रवण न करता। और चित्तकी शुद्धिके लिए नित्य-नैमित्तिक श्रौत और स्मार्त कर्मोंका अनुष्ठान तथा उसकी एकाग्रताके लिए भगवदुपासना भी न करता। दुःखके रहनेपर भी यदि वह हेय न होता, अर्थात् सुखके समान प्रिय होता तथा प्रिय न होनेपर भी यदि उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, अर्थात् दुःख नित्य होता या अनित्य होनेपर भी उसकी निवृत्तिका कोई उपाय ही नहीं होता अथवा शास्त्रप्रतिपाद्य उपाय उसका निवर्तक न होता या शास्त्रप्रतिपाद्य उपायके होनेपर यदि उससे अन्य कोई सरल उपाय उसका निवर्तक होता, तो फिर श्री गुरुदेवके चरणकमलकी शरण लेनेकी किसीको आवश्यकता न पड़ती। परन्तु ऐसी बात नहीं है, दुःख हैं और वे एक-दो नहीं, किन्तु अनन्त हैं। सामान्यरूपसे दुःखकी तीन राशियाँ हैं अर्थात् सभी दुःख तीन भागोंमें विभक्त हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। शारीर और मानस भेदसे आध्यात्मिक दुःख दो प्रकारके हैं—ज्वर, शिरोवेदना आदि शारीर दुःख हैं और काम, क्रोध आदि मानस दुःख हैं। शरीरके भीतरी निमित्तोंसे साध्य होनेके कारण ये सभी आध्यात्मिक कहे जाते हैं। चोर, डाकू, व्याघ्र, बिच्छू, सर्प आदिके द्वारा जो दुःख उत्पन्न होते हैं वे आधिभौतिक दुःख कहे गये हैं और अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अग्नि और वायु द्वारा जो दुःख उत्पन्न होते हैं, वे आधिदैविक हैं।

दुःख सुखके तुल्य प्रिय नहीं हैं। वे सभी रजोगुणके परिणाम और अन्तःकरणके धर्म हैं। उनसे आत्माका एक प्रतिकूल सम्बन्ध होता है, इसीसे उनकी निवृत्तिके लिए पुरुष सदा शास्त्रजिज्ञासामें प्रयत्नशील रहता है। इन दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिए ही वह अध्यात्मशास्त्रका—वेदान्तका—श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता है, क्योंकि शास्त्रप्रतिपाद्य उपायसे—श्रवण, मनन और निदिध्यासन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से—उत्पन्न आत्मसाक्षात्कारसे अन्य उपाय दुःखनिवर्तक नहीं है। इसीसे उनकी निवृत्तिके लिए प्रत्येक पुरुष शास्त्रकी जिज्ञासा करता है ।

इस संसारमें काम—लौकिक सुख—और अर्थ—द्रव्य—ये दो ही पुरुषार्थ हैं—ऐसा माननेवाला चार्वाक प्रश्न करता है कि दुःखोंकी निवृत्ति ही पुरुषार्थ है, किन्तु अध्यात्मशास्त्रप्रतिपाद्य उपायसे अन्य उपाय भी उनके निवर्त्तक हैं। जैसे मनोज्ञ वनिता, पेय, भोज्य, गन्ध, नृत्य, गीत आदिके उपभोगसे मानस दुःखकी—इच्छा आदि की—निवृत्ति हो सकती है। यद्यपि मनोज्ञवनिता आदि सुखविशेषके जनक हैं, तो भी सुखोपभोग होनेपर उसकी इच्छा (काम) स्वयं निवृत्त हो जाती है, अतः काम (लौकिक सुख) और उसके साधक उपकरणके सम्पादक अर्थ (धन) ये दो ही पुरुषार्थ हैं। और इच्छाके प्रतिघात होनेपर भी क्रोध होता है। जब पुष्कल सुख सामग्रीका सम्पादक धन होता है, तब इच्छाके चरितार्थ होनेसे उसके प्रतिघातसे होनेवाले क्रोध, ईर्ष्या, भय आदि दुःख उत्पन्न ही नहीं होते तथा शारीर दुःखकी—ज्वर, शिरोवेदना आदिकी—निवृत्तिके लिए वैद्यवरोंसे उपदिष्ट औषधप्रयोग चिकित्साशास्त्रमें अनेक भरे पड़े हैं, उनके सेवनसे ज्वरादि रोग अवश्य ही उच्छिन्न हो सकते हैं। तथा आधिभौतिक दुःखकी निवृत्तिके लिए अनेक उपाय हैं, जैसे नीतिशास्त्रमें कुशलता और निर्बाध देशमें आवास आदि। आधिदैविक दुःखकी निवृत्तिके लिए मणि, मन्त्र, औषध प्रयोग आदि अनेक उपाय अथर्ववेदमें कहे गये हैं। जब दुःखनिवृत्तिके लिए उत्तमसे उत्तम लौकिक सुन्दर उपाय विद्यमान हैं, तब उन्हें छोड़कर अति कठिन अनेक जन्मके आयाससे साध्य अध्यात्मशास्त्रप्रतिपाद्य आत्मसाक्षात्काररूप दुःखनिवृत्तिके उपायमें किसीकी प्रवृत्ति भला कैसे हो सकती है? घरके कोनेमें यदि शहत मिल जाय, तो फिर उसके लिए पर्वतपर जानेकी क्या आवश्यकता है? इष्ट प्रयोजन यदि बिना परिश्रमके—अनायास ही सिद्ध हो जाय, तो उसके लिए अति यत्न कौन करेगा? कहनेका सारांश यह है कि अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ हैं। इन्हींकी प्राप्तिके लिए मनुष्यको यत्न करना चाहिए। मोक्ष इनसे पृथक् कोई पदार्थ नहीं है, अतः उसके लिए उपायानुष्ठान करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं दीखती। और उसके उपायका प्रतिपादन करनेवाला वेदान्तशास्त्र भी व्यर्थ ही है। उसका अध्ययन करना भी एक तरहसे अपनी मूर्खता प्रकट करना है।

इस प्रश्नका उत्तर यों है—लौकिक मनोज्ञवनितासेवन आदि उपायके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुष्ठानसे कामकी निवृत्ति नहीं होती है, बल्कि उसकी अधिक वृद्धि होती है।

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥'

विषयोंके भोगसे कामकी शान्ति नहीं होती, किन्तु हविषसे अग्निकी नाईं अधिक वृद्धि ही होती है; अतः विषयसेवन कामका निवर्तक नहीं है। और कामके उपाय धन आदि भी त्रिविधि दुःखके निवर्तक नहीं हैं, किन्तु स्वयं दुःखरूप ही हैं।

'अर्थानामर्जने दुःखं तथैव परिपालने।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः॥'

धनके अर्जन, पालन, नाश और व्ययमें सर्वत्र दुःख ही दुःख है, अतः दुःखजनक धनको धिक्कार है। शारीर दुःख ज्वर आदि भी आयुर्वेदोक्त औषधियोंके सेवनसे अवश्य निवृत्त हों, यह बात नहीं है। देखा जाता है कि औषधप्रयोग करनेपर भी वे सर्वथा निवृत्त नहीं होते, प्रत्युत वैद्यों द्वारा ठीक-ठीक निदान न होनेसे बढ़ भी जाते हैं। एक बार निवृत्त हुआ रोग पुनः उत्पन्न हो जाता है। शारीरक रोगोंसे सर्वथा छुटकारा पाना बिलकुल असम्भव ही है। यही बात आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखस्थलोंमें भी लागू है। निष्कर्ष यह है कि लौकिक उपायोंसे दुःख निवृत्त नहीं होते और यदि कहीं निवृत्त हो भी जाते हैं, तो फिर उत्पन्न हो जाते हैं, अतः इन लौकिक उपायोंसे अवश्य ही सदाके लिए दुःख निवृत्त नहीं होते, इसलिए इन दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिके लिए अध्यात्मशास्त्रकी जिज्ञासा अवश्य करनी चाहिए।

अर्थ, काम और धर्म त्रिविध पुरुषार्थवादी मीमांसकोंका कहना है कि लौकिक उपाय आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्तिके भले ही कारण न हों, परन्तु वैदिक दर्श-पौर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि कर्मकलाप दुःखत्रयकी अत्यन्त निवृत्ति अवश्य कर सकते हैं। श्रुति कहती है—'स्वर्गकामो यजेत'। स्वर्ग भी तो

'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥'

(जो सुख दुःखसे मिला न हो और जिसके आगे दुःख न हो, तथा जो रुचिके अनुकूल हो वह सुख स्वर्गपदवाच्य है)

इस वचनके अनुसार दुःखका विरोधी सुखविशेष ही है। वह अपनी सत्तासे समूल दुःखत्रयका आत्यन्तिक नाश कर सकता है और वह सुख क्षयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी नहीं है, क्योंकि श्रुति कहती है कि 'अपाम सोममृता अभूम' (हम सोमयागमें हुतशेष सोमरसका पान करेंगे और अमृत हो जायंगे)। इसलिए मुहूर्त्त, याम, दिन, पक्ष, मास और वर्षसे साध्य कर्मकलाप जो वैदिक उपाय हैं वे दुःखत्रयके आत्यन्तिक निवर्तक अवश्य हैं। और वे वैदिक उपाय अनेक जन्मके आयाससे साध्य दुःखके निवर्तक अध्यात्मज्ञानरूप उपायसे सरल हैं। जब कि उन्हींसे दुःखत्रयकी निवृत्ति हो सकती है, तब फिर अध्यात्मशास्त्रकी जिज्ञासा क्यों की जाय? वह बिलकुल व्यर्थ है। उनके मतमें धर्म, अर्थ और काम ये तीन परम पुरुषार्थ हैं। मोक्ष न चतुर्थ पुरुषार्थ है और न आत्मसाक्षात्कार उसका उपाय। एवं वेदान्तशास्त्र भी कोई स्वतन्त्र शास्त्र नहीं है, बल्कि वह भी अर्थवादके तुल्य कर्मकाण्डका एक अङ्गमात्र है।

उनका यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि वैदिक कर्मकलापसे दुःखकी निवृत्ति होती है, यह ठीक है, परन्तु यह कोई निश्चय नहीं है कि इन उपायोंसे अवश्य ही दुःखकी निवृत्ति हो, संभव है कि इनसे भी दृष्ट उपायों (विविध भोज्य, पेय प्रभृति) के तुल्य दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति न हो। सम्भव है कि अङ्गवैकल्यसे याग करनेपर भी उसका फल स्वर्ग न मिल सके एवं उसका फल स्वर्ग नित्य ही है, यह भी कहना सर्वथा असङ्गत ही दीखता है, क्योंकि 'तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवाऽमुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते' (जैसे इस लोकमें कर्मसे जन्य फल कृष्यादि नष्ट हो जाता है, वैसे ही परलोकमें पुण्यसे जन्य स्वर्ग फल भी नष्ट हो जाता है) इस श्रुतिसे प्रतीत होता है कि स्वर्गादि सुख भी अनित्य ही है। 'अपाम सोमम्' इस श्रुतिसे बोधित अमृतत्व भी आत्यन्तिक अमृतत्व नहीं है, अन्यथा 'तद्यथा' इस श्रुतिसे विरोध हो जायगा, किन्तु कल्पपर्यन्त स्थायित्वरूप अमृतत्व है, क्योंकि 'आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते' इस वचनसे ऐसा ही प्राप्त होता है। दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप मोक्ष तो वेदान्तशास्त्रकी जिज्ञासासे ही होता है अर्थात् वेदान्तका अद्वैत ब्रह्ममें तात्पर्य-निर्णयरूप श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे जन्य ब्रह्मात्मैक्य-साक्षात्कारसे ही होता है। 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' (कर्म, प्रजा और धनसे नहीं, केवल ज्ञानसे [ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारसे] ही प्रधान ऋषियोंने अमृतत्वकी (मोक्षकी) प्राप्ति की है) इस श्रुतिसे यही सिद्ध होता है कि त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिरूप मोक्षके लिए वेदान्तकी जिज्ञासा अवश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करनी चाहिए। मतलब यह निकला कि हम जो अध्ययन करते हैं, जप, तप और भजन करते हैं तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते हैं, वे सबके-सब एक उसी दुःखदेवकी कृपा है, उसीका गौरव, प्रभाव और प्रतिष्ठा है। यदि दुःख इस संसारमें न होता, तो किसकी निवृत्तिके लिए हम रातों-दिन जी-तोड़कर अथक परिश्रम करते? आप अपने दुःखसे या अकिञ्चनभावसे कभी मत घबड़ाइए, बल्कि उसका आदर कीजिए, उससे लाभ उठाइए। सुग्रीव, विभीषण, द्रौपदी, सुदामा आदि दुःखी थे, इसीसे वे भगवत्कृपाके भाजन हुए, क्या किसी धनी सुखीको आपने भगवान्‌का कृपाभाजन बनते देखा या सुना है?

अब इस लेखको 'बुद्धिमानोंके लिए इशारा काफी है' यह समझकर यहीं समाप्त करते हैं। हाँ, यह कह देना प्रकृतमें अनुपयुक्त नहीं है कि मोक्ष नित्य सुख या दुःखनिवृत्तिरूप है। वेदान्त, सांख्य आदि शास्त्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इनको ही परम पुरुषार्थ मानते हैं अर्थात् इनके मतमें चार पुरुषार्थ हैं। काम लौकिक सुखको कहते हैं। वे दो प्रकारके हैं—दिव्य (स्वर्ग-सुख) और अदिव्य (भूलोक-सुख)। वे दोनों ही उपेय—साध्य हैं। अर्थ और धर्म साधन हैं। इनमें मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, इससे उसीको जीवनका उद्देश्य समझना चाहिए और उसीकी सिद्धिके लिए धर्म भी उपादेय है। धर्मकी सिद्धिके लिए अर्थ उपादेय है। एवं 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' इस नियमके अनुसार शरीरका साधन होनेसे काम भी उपादेय ही है। यही बात श्रीमद्भागवतमें कही गई है—

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥१।२।९॥

धर्म अपवर्गके लिए कर्त्तव्य है न कि धनके लिए। धनसञ्चय धर्मके लिए कर्त्तव्य है न कि विषयसुखके लिए। विषयसेवन जीवनके लिए ही है, इन्द्रिय-लौल्यकी परितृप्तिके लिए नहीं है और जीवन भी तत्त्वकी—ब्रह्मकी—जिज्ञासाके लिए है, नश्वर धनके लिए नहीं है, क्योंकि धन तो प्रारब्ध कर्मसे मिलता है। इस प्रारब्धकर्मजन्य धनके विषयमें हृदयमें चुभनेवाली निम्न लिखित उक्तिको कभी न भूलना चाहिए—

सत्यं न मे विभवनाशकृताऽस्ति चिन्ता,
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके दार्शनिक विचार

(ले०—साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्द जी त्रिपाठी)

जिन श्रीगोस्वामीजीकी रचनाकी ख्याति दिगन्तव्यापिनी है, जिनकी वाणी लाखों मनुष्योंके लिये धर्मशास्त्र हो रही है, जिनकी चौपाइयोंका प्रमाण हिन्दी-भाषा-भाषियोंके ओठों पर रहता है, जिनके निर्मित ग्रन्थोंका प्रचार सभी संस्कृत और हिन्दी पुस्तकोंसे अधिक है, उन श्रीगोस्वामीजीके दार्शनिक विचार क्या थे, इस विषयके निर्णयमें कौतूहल होना स्वाभाविक है।

निर्णयके लिए इतना ही यथेष्ट नहीं है कि अमुक सिद्धान्त गोस्वामीजीका नहीं है, इससे तो वादविशेषके प्रति द्वेष ध्वनित होता है। निष्पक्ष निर्णेताके लिए यही उचित है कि वह इस बातका पता लगावे कि उनका सिद्धान्त क्या था ? और यह काम विभिन्न वादोंके थोड़ा-बहुत परिचयके बिना नहीं हो सकता है।

वेदचरणाश्रित आस्तिक समाजमें, इस समय प्रधानतः पाँच * वाद प्रचलित हैं—(१) अद्वैतवाद, (२) विशिष्टाद्वैतवाद, (३) द्वैताद्वैतवाद, (४) द्वैतवाद और (५) शुद्धाद्वैतवाद। इनसे अतिरिक्त और वाद भी हैं, किन्तु उन वादोंका प्रचार कम है और वे इन्हींसे मिलते जुलते हैं। उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता ही इन पाँचोंके आधार हैं, फिर भी ये एक दूसरेसे मेल नहीं खाते। ब्रह्म, जीव और जगत्के विषयमें इनके सिद्धान्त अलग-अलग हैं, और तदनुसार ही ये श्रुतियोंकी व्याख्या करते हैं।

इनमें समानता इतनी ही है कि सभीने वेदोंको प्रमाण और ब्रह्मको विभु माना है, ब्रह्मसाक्षात्कार सभीको इष्ट है, सभी भक्तिका आदर करते हैं और सभी अवतारवादी हैं। अद्वैतवादको छोड़कर सभीने जीवको अणु और जगत्को सत्य माना है। अद्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत वादमें ब्रह्मकी निर्विशेषता भी स्वीकृत है। पर विशिष्टाद्वैत और द्वैत वाद निर्विशेष स्थितिको नितान्त असम्भव मानते हैं।

---

*अद्वैतवादके प्रधान प्रचारक भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य्यके विषयमें आधुनिक इतिहासज्ञोंका मत है कि वे नवीं शताब्दीमें आविर्भूत हुए थे, विशिष्टाद्वैतके प्रचारक भगवान् श्रीरामानुजाचार्य्य ग्यारहवीं शताब्दीमें हुए थे, द्वैताद्वैतमतके प्रचारक भगवान् निम्बादित्य तेरहवीं शताब्दीके आदिमें हुए थे, द्वैतमतके प्रचारक भगवान् मध्वाचार्य्य तेरहवीं शताब्दीके अन्तमें हुए थे और शुद्धाद्वैतके प्रचारक भगवान् वल्लभ सोलहवीं शताब्दीमें हुए थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशिष्टाद्वैतवादका मत है कि जीव, जगत् और ईश्वर ये तीनों तत्त्व यद्यपि भिन्न हैं, तथापि एक दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकते। जीव (चित्) और जगत् (अचित्) दोनों ईश्वरके शरीर हैं। अतः चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर एक है, उसीको ब्रह्म कहते हैं। सूक्ष्म चिदचित्का परिणाम ही स्थूलचित्-अचित् अर्थात् जीव और जगत् है। उपासना द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर अज्ञान दूर होता है। मुक्त जीव दास-रूपसे श्री भूलीलादेवियोंके साथ वैकुण्ठमें नारायणकी सेवा किया करता है।

द्वैताद्वैतवादका मत है कि यद्यपि जीव, जगत् और ईश्वर तीनों भिन्न हैं, तथापि जीव और जगत्का व्यापार तथा अस्तित्व ईश्वरकी इच्छापर निर्भर है, स्वतन्त्र नहीं है और परमेश्वरमें ही जीव और जगत्के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। ब्रह्मके चार रूप हैं—(१) पर अमूर्त—परम अक्षर तत्त्व है, (२) अपर अमूर्त—ईश्वर, सर्वद्रष्टा सर्वशक्तियोंका उद्गम स्थान है, (३) पर मूर्त—हिरण्यगर्भ, सब व्यक्तरूपोंका मूल स्रोत है और (४) अपर मूर्त—अत्यन्त भिन्नरूप जीव हैं। इस प्रकार ब्रह्म द्वैत और अद्वैत दोनों है। मुक्तावस्थामें जीव अपना और जगत्का ब्रह्मके साथ अभेद अनुभव करता है। मुक्तिका साधन भक्ति है।

द्वैतमतमें मुक्तिके लिए पञ्च प्रभेदका ज्ञान आवश्यक है—(१) भगवान्का जीवसे पूर्णरूपसे पार्थक्य, (२) भगवान्का जगत्से पूर्णरूपसे पार्थक्य, (३) एक जीवका दूसरेसे पार्थक्य, (४) जीवका जगत्से पार्थक्य और (५) जड़ जगत्के कार्य्यरूपमें परिणत होनेपर उसके एक अंशका दूसरेसे पार्थक्य। त्याग, भक्ति और ईश्वरकी प्रत्यक्ष अनुभूति साधन हैं, वैकुण्ठप्राप्ति मोक्ष है। भक्ति हो जानेपर कर्म करना या न करना बराबर है।

शुद्धाद्वैतमतमें केवल प्रीतिमार्ग ही सर्वोत्कृष्ट है। ब्रह्मविद्याका अधिकार द्विजातिको ही है, ब्रह्म शास्त्रैकगम्य है, वह विरुद्ध धर्मोंका आश्रय है, निर्विशेष है और वही अखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण है। परमात्मा और जीवात्मा दोनों शुद्ध हैं तथा चिनगारी और अग्निकी भाँति वे एक हैं। गोलोकमें गोपीभाव प्राप्त करके नित्य रासोत्सवमें रसावेशके साथ पतिभावसे भगवान्की सेवा करना मोक्ष है।

अद्वैतमत 'ब्रह्म* सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः' मानता हुआ भी उपर्युक्त मतोंका विरोधी नहीं है। व्यवहारदशामें वह भी जगत्का सत्य होना, ब्रह्मका सगुण होना, जीवका अंश अथवा दास होना, भक्तिसे परम कल्याण होना, सालोक्य, सामीप्यादि मुक्ति प्राप्त होना मानता है, पर यह सब तभी तक जब तक कि ब्रह्मसाक्षात्कार न हो।

ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर जगत्का बाध हो जाता है, अतः वह मिथ्या है।

* ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, अन्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसका बाध ज्ञानसे हो, वह वस्तु अवश्य मिथ्या है। तत्त्वज्ञानकी अवस्थामें ब्रह्म और जीवका ऐक्य है, उसी अवस्थाको पारमार्थिक सत्य कहते हैं।

देशतः, कालतः और वस्तुतः जिसका व्यभिचार न हो, उसे सत्य कहते हैं। अतः ब्रह्म ही सत्य है, वही सत्यका सत्य अथवा पारमार्थिक सत्य है, उससे अन्य सभी कुछ मिथ्या है, परन्तु यह मिथ्या ही हम लोगोंका सुपरिचित सत्य है, इसीलिए व्यावहारिक सत्य कहा जाता है।

मिथ्या होनेसे जगत् ब्रह्मका विवर्त्त है। जिस भाँति रज्जुमें सर्प, शुक्तिकामें रजत, रविकिरणमें नीर और अपनेमें स्वप्नजगत्की प्रतीति होती है, उसी भाँति अनादि अविद्या द्वारा ब्रह्ममें जगत्की प्रतीति होती है, अधिष्ठानके ज्ञानसे उसका बाध होता है, जीवका ब्रह्ममें लय होता है। यही कैवल्यमुक्ति है। धर्माचरणसे वैराग्य होता है, वैराग्यसे योग होता है, योगसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे मुक्ति होती है।

भक्ति भी परम्परासे कैवल्यसाधन है। भक्तिसे ईश्वरकी कृपा, उनकी कृपासे ज्ञान और ज्ञानसे कैवल्यमुक्ति होती है। यह सुगम मार्ग है। अद्वैतवादमें भक्ति स्वतन्त्र पुरुषार्थरूपसे भी आदृत है। स्वयं भगवान् शङ्कराचार्य्य प्रबोधसुधाकरमें कहते हैं—

कामोपासनयाऽर्थयन्त्यनुदिनं किञ्चित्फलं स्वेप्सितम,
केचित्स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनाम्,
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥

अर्थ—कुछ लोग तो सकाम उपासना द्वारा प्रतिदिन किसी ईप्सित फलकी वाञ्छा करते हैं और कोई योग, यज्ञादिसे स्वर्ग-अपवर्ग चाहते हैं, हम लोग तो यदुनन्दनके चरणकमलोंके ध्यानके चाहनेवाले हैं, हम लोगोंको लोकसे, दमसे, राजासे, स्वर्ग और मोक्षसे क्या काम?

इस भाँति पाँचों वादोंके स्वरूपको सामने रखकर, अब यह पता लगाना है कि गोस्वामीजीके दार्शनिक विचार क्या थे? हम यह विचार करने नहीं बैठे हैं कि कौनसा वाद ठीक है और न ऐसा करना उचित है, क्योंकि

'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव* ॥'

ग्रन्थकारके सिद्धान्तका पता उसके ग्रन्थोंसे लग सकता है। गोस्वामीजीके ग्रन्थोंमें सर्वलक्षणसम्पन्न श्रीरामचरितमानस है और उसीका प्रचार भी अधिक है, परन्तु गोस्वामीजीके हृदयोद्गारका पता जैसा 'विनयपत्रिका' से लगता है, वैसा

*पूज्यपाद पुष्पदन्ताचार्य्यने कहा है कि 'रुचियोंकी विचित्रतासे सीधे और टेढ़े अनेक रास्तोंमें चलनेवाले पुरुषोंका हे प्रभो? केवल तू ही प्राप्तव्य है, जैसे नदियोंका समुद्र।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य ग्रन्थोंसे लगना कठिन है। यद्यपि विनयपत्रिका गोस्वामीजीके देहावसानके बाद संगृहीत हुई है, फिर भी बड़े कामकी है, अतः हम उनके दार्शनिक विचारोंका पता लगानेमें प्रधानतः इन्हीं दो ग्रन्थोंसे काम लेंगे महात्माओंका कहना है कि अनुबन्धचतुष्टयके जाने बिना प्रेक्षावान्‌की प्रवृत्ति उस ग्रन्थके पढ़नेकी ओर नहीं होती, अतः अनुबन्धचतुष्टयको ही पहले ठीक करना चाहिए।

अनुबन्धचतुष्टय

(१) विषय, (२) प्रयोजन, (३) सम्बन्ध और (४) अधिकारी। ये ही चार अनुबन्ध हैं। यद्यपि श्रीरामचरितमानसका विषय तो नामसे ही स्पष्ट है, तथापि श्रीगोस्वामीजी प्रतिज्ञा भी करते हैं कि 'बरनउँ रामचरित चित चाऊ'। अतः रामचरित्र-वर्णन विषय हुआ।

प्रयोजन कहते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—

'भाषाबद्ध करब मैं सोई। मोरे हिय प्रबोध जेहि होई'।

प्रबोधशब्दका अर्थ ज्ञान है। उपसंहारमें भी लिखते हैं—

'मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये।
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥'

भाव यह कि उन्होंने अपने हृदयके अन्धकारका नाश करनेके लिए इसे भाषाबद्ध किया। हृदयके अन्धकारका दूर होना और ज्ञान होना दो बात नहीं हैं। अतः ज्ञानप्राप्ति ही गोस्वामीजीका प्रयोजन मालूम पड़ता है।

ग्रन्थ और विषयका तो प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध प्रायः रहता ही है, वही यहाँ भी है, यथा—

जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥

ग्रन्थमें भगवान् रामका प्रतिपादन है।

इसके अधिकारी सज्जनवृन्द हैं, यथा—'सुनहु सकल सज्जन रतिमानी।'

अतः अनुबन्धचतुष्टयसे तो यही सिद्ध होता है कि ज्ञानपर्य्यवसायिनी भक्ति ही गोस्वामीजीको इष्ट है। पाँचो वाद सामने हैं, पाठक अनायास देख सकते हैं कि ज्ञानपर्य्यवसायिनी भक्ति सिवा अद्वैतवादके और किसी को इष्ट नहीं है।

तात्पर्य्यनिर्णय

तात्पर्य्यनिर्णयके विषयमें एक प्राचीन श्लोक मिलता है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्यनिर्णये॥

सभीने इसे प्रमाण माना है। ग्रन्थ लिखते समय ग्रन्थकार बहुत-सी बातें लिख जाता है, पता लगाना कठिन हो जाता है कि उसका तात्पर्य्य क्या है। इसीलिए महात्माओंने ये साधन तात्पर्य्यनिर्णयके लिए बतलाये हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनमें से भी प्रधान उपक्रम और उपसहार हैं। उपक्रम और उपसंहारसे जो बात ठीक हो गई, वही ग्रन्थकर्ताका तात्पर्य्य है। बीचमें यदि वह लक्ष्यसे दूर भी हट जाय, तो भी उसका वही तात्पर्य्य माना जायगा, जो उपक्रम और उपसंहारमें निरूपित हो।

१—उपक्रम और उपसंहार

अब देखना यह है कि श्रीरामचरितमानसके उपक्रममें कोई दार्शनिक सिद्धान्त कथित है या नहीं ? देखिए, मङ्गलाचरणके श्लोकोंमें ही मिलता है—

'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।'

अर्थात् जिस राम (ब्रह्म) की सत्तासे यह (चराचरात्मक जगत्) सच्चा ही प्रतीत होता है, जैसे रस्सीमें साँप। इसी भाँति उपसंहारके श्लोकमें देखा जाता है—

श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्याऽवगाहन्ति ये।
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥

अर्थात् जो श्रीरामचरितमानस-सरमें स्नान करते हैं, वे संसाररूपी सूर्यकी प्रखर किरणोंसे नहीं जलते।

उपक्रम और उपसंहारके दोनों श्लोकोंसे तो गोस्वामीजीका विवर्तवाद मालूम पड़ता है। सम्पूर्ण दर्शनोंमें तीन ही वाद पाये जाते हैं—(१) आरम्भवाद (२) परिणामवाद और (३) विवर्तवाद। आरम्भवादी उत्पत्तिसे पूर्व असत् घट आदि कार्यकी सत् मृत्तिका आदि कारणसे उत्पत्ति मानते हैं, परिणामवादी सत्से सत्की उत्पत्ति मानते हैं, जैसे दूधसे दहीकी और विवर्तवादी सत्से अनिर्वचनीय पदार्थकी उत्पत्ति मानते हैं, जैसे रस्सीमें साँपकी, सीपीमें चाँदीकी, और रविकिरणमें जलकी। सो यहाँ उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें विवर्तवाद है और विवर्तवाद अद्वैतसिद्धान्त है।

इन दृष्टान्तोंको मङ्गलाचरणमें अद्वैतवादी ही रखते हैं। कहीं ये दृष्टान्त आ जायँ, वहाँ अर्थमें खींचातानी करनी दूसरी बात है, पर दूसरे वादी इन दृष्टान्तोंको अपने मङ्गलाचरणमें कभी नहीं रखते, क्योंकि ये सद्यः उनके सिद्धान्तोंके विरुद्ध पड़ते हैं।

'अमृषैव भाति सकलम्' से स्पष्ट यही भाव निकलता है कि झूठा प्रतीत ही नहीं होता और है झूठा। अब प्रश्न यह उठता है कि जो झूठा है वह सच्चा क्यों प्रतीत होता है ? उत्तर देते हैं—'यत्सत्त्वात्' जिस (ब्रह्म) की सत्तासे। भाव यह कि सत्ता ब्रह्मकी है, जगत्की कोई सत्ता नहीं है, पर प्रतीति होती है। यह बात टेढ़ी-सी है, जल्दी समझमें नहीं आती, अतः दृष्टान्त देकर साफ़ करते हैं—'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः'। रस्सीमात्र सच्ची है, उसमें जिस साँपकी प्रतीति होती है वह तीन कालमें सच्चा नहीं है, पर प्रतीति साँपकी ही होती है। यहाँ राम-ब्रह्मकी उपमा रस्सीसे है, और चराचरात्मक जगत्की उपमा उसमें प्रतीत होनेवाले साँपसे है एवं जिस भाँति प्रतीयमान साँप रस्सीका विवर्त है, उसी भाँति चराचरात्मक जगत् राम (ब्रह्म) का विवर्त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब उपसंहार देखिए—'वे' जो इस रामचरित मानसमें भक्तिपूर्वक स्नान करते हैं, संसाररूपी सूर्य्य-किरणोंसे नहीं जलते अर्थात् उसे इष्ट (जल) मानकर सेवन करनेवाले ही दुःख पाते हैं, यथा—

'कहि न जाय रविवारि सत्य भ्रमते दुख होई विशेषे।'

भाव यह कि जो श्रीरामचरित-मानसमें स्नान करते हैं, वे सच्चे जलमें स्नान करनेवाले हैं। उनकी पिपासा शान्त हो चुकी है, वे सूर्य्य-किरणरूपी झूठे जलके पीछे क्यों दौड़ेंगे, यथा—

'ब्रह्मपियूष मधुर शीतल जौ पै मन वह रस पावै।
तौ कत मृग जलरूप विषय-कारण निशि-वासर धावै॥

यहाँ भी संसार-रूपी अनिर्वचनीय जलकी उत्पत्ति विवर्त्तवाद ही है। सच्चा जल ब्रह्मसे उपमित है, झूठा जल रवि-कर संसारसे उपमित है। केवल ब्रह्म-सत्तासे संसारकी अनिर्वचनीय अर्थात् झूठी सत्ता भासित है। यहाँ भी नानात्वका निषेध तो है ही, पर निषेध करनेपर जो शेष रहता है, वह ब्रह्म राम हैं। रामरूपी जगत् नहीं है, अतः यहाँ भी अद्वैतवाद ही कहा। सो उपक्रम और उपसंहारसे तो अद्वैतवाद सिद्ध है।

२—अभ्यास

जो बात जिसके मनमें रहती है, उसे वह उपक्रम और उपसंहारमें ही कहकर शान्त नहीं होता, उसे जहाँ-जहाँ अवसर मिलता है, उसी बातको दुहराता है, इसीको अभ्यास कहते हैं। अब देखना चाहिए कि इसका अभ्यास भी कहीं किया है या उपक्रम और उपसंहार करके ही सन्तुष्ट रह गये।

(क) झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने। जनु भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥
जेहि जाने जग जाई हेराई। जागे यथा सपन भ्रम जाई॥
बंदौ बालरूप सोई रामू। सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥

यहाँ भी वही रज्जु-भुजंगकी उपमा है। यहाँ इतना विशेष कहा कि रज्जुका अज्ञान ही रज्जु-सर्पका कारण है; इसी भाँति राम-ब्रह्मका अज्ञान ही संसारका कारण है और ज्ञानसे उसका बाध होता है; जैसे जाग जानेसे स्वप्नका बाध होता है। मिथ्याका लक्षण भी कहे देते हैं, जिसका ज्ञानसे बाध हो वही मिथ्या है। जाग्रत्के राजा भले ही सच्चे हों, उनका इस दृष्टान्तमें उपयोग नहीं है। सपनेमें तो स्वप्नके राजासे काम है, उनका बाध जाग्रत्से होता है। यह भी विवर्त्तवाद ही है।

(ख) जासु सत्यतातें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
रजत सीप महँ भास जिमि, यथा भानुकर वारि।
यदपि मृषा तिहुँ काल महँ भ्रम न सकै कोउ टारि॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। यदपि असत्य देत दुख अहई॥
जौ सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे दुःख दूर न होई॥
जासु कृपा अस भ्रम मिट जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥

यहाँ इतना विशेष कहा कि माया जड़ है अर्थात् ब्रह्म चेतन है। माया मिथ्या है, ब्रह्म सत्य है। विवर्त्तवादका एक और उदाहरण दिया—

'रजत सीप महँ भास जिमि।'

जगत्का होना तीन कालमें मिथ्या बतलाया, पर उसके सत्यत्वका भ्रम टाले नहीं टलता। यहाँ तक कि इस भ्रमके मिटनेका साधन एकमात्र रघुराईकी कृपा है।

(ग) सो दासी रघुबीरकी, समुझे मिथ्या सोऽपि।
छूट न रामकृपा बिनु, नाथ कहौं पदरोपि॥

जिसका कटक प्रचण्ड संसारमें व्याप रहा है और कामादि भट जिसके सेनापति हैं एवंप्रभावा माया रानी रघुवीरकी दासी हैं। जब तक न समझे (ज्ञान न हो) तभी तक और समझनेपर वे भी मिथ्या हो जाती हैं। इसपर कहा जाता है कि 'सः' पुल्लिङ्ग है, अतः उससे कामादि भटका परामर्श है। पर लिङ्ग दोषसे बचनेपर बचन दोष अनिवार्य्य हो पड़ता है। 'सः' एक बचन है, कामादि भट बहुवचन हैं। मान भी लिया जाय कि 'सः' शब्दसे कामादि भटोंका ग्रहण है, तब 'अपि' शब्दकी क्या गति होगी? भाव निकलेगा माया तो मिथ्या है ही, मायाके कटक, कामादि भट भी मिथ्या है।

(घ) जोग वियोग भोग भल मंदा, हित अनहित मध्यम भ्रमफन्दा।
जनम मरन जहँ लगि जग जालू। संपति विपति करन अरू कालू॥
धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरकु जहँ लगि व्यवहारू।
देखिअ सुनिअ गुनिअ मनमाहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥

यहाँ इन सबको मोहमूलक बतलाया। इन सब की केवल व्यावहारिक सत्यता है; पारमार्थिक सत्यता नहीं है। यहाँपर यह विशेष कहा कि सत्य भी दो हैं—एक पारमार्थिक सत्य और एक व्यावहारिक सत्य। संयोग, वियोग, भल, मन्द, भोग, हित शत्रु और मध्यस्थ ये सब भ्रमके फन्दा हैं। जन्म-मरणरूपी जालमें लगे हैं। जन्म-मरणके बीच व्यवहार चलता है। सम्पत्ति, विपत्ति, कर्म, काल, पृथ्वी, घर, धन, राज्य, परिवार, स्वर्ग, नरक, ये सब व्यवहार है। इनमें पारमार्थिक सत्यता नहीं है, क्योंकि पहले कह चुके हैं कि तीन कालमें मिथ्या है। यहाँ मिथ्यासे ज्ञान द्वारा बाधित होनेवाली वस्तु अभिप्रेत है। बाधित होनेवाली वस्तु ही हमारे लिए व्यावहारिक सत्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारमार्थिक सत्य तो त्रिकालमें अबाध्य केवल राम हैं। यथा—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा।
सकल विकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा॥

इस भाँति वारंवार विवर्त्तवाद अर्थात् 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अवसर मिलते ही दोहराया गया है। अतः गोस्वामीजीका तात्पर्य्यविषयीभूत सिद्धान्त अद्वैतवाद ही अभ्याससे भी मालूम होता है।

३—अपूर्वता

ग्रन्थमें कोई अपूर्वता भी चाहिए। नहीं तो उसके लिखनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। सो इसकी अपूर्वता तो उमाके प्रश्नसे ही प्रगट है, यथा—

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होई नर, जाहि न जानत वेद॥

अद्वैत ब्रह्मका अवतार कैसे सम्भव है? सो उसी अद्वैत ब्रह्मका अवतार और चरित इसमें वर्णित है। प्रादेशमात्र मैं कहे देता हूँ। विस्तारके लिए तो ग्रन्थ ही मौजूद है। जैसे जलराशि स्वभावसे ही तरल होता है, पर सदा सर्वत्र सर्वांश उसका तरल नहीं रहता, कभी कहीं सरदीसे जम भी जाता है, उसी भाँति ब्रह्मका अवतार भी कभी भक्तके प्रेमके वश हो जाता है, यथा—

जो गुन रहित सगुन सो कैसे। जल हिमि उपल विलग नहिं जैसे॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम वस सगुन सो होई॥

यहाँ अभेदशब्दसे त्रिविधभेदशून्य अद्वैतब्रह्मविषयक प्रश्न और तद्विषयक उत्तरमें ही सम्पूर्ण रामचरितमानस कथित है।

४—फल

अपने अन्तःसुखके लिए ही गोस्वामीजीने इस ग्रन्थका भाषामें प्रणयन किया था। यथा—

स्वान्तःसुखाय तुलसीरघुनाथगाथा-
भाषानिबद्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

और अन्तमें कहते हैं कि—

जाकी कृपा लवलेस ते, मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥

अतः अन्तःसुख प्रत्यक्चेतनाधिगम अथवा परम विश्रामकी प्राप्ति ही इसका फल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५—अर्थवाद

जो बात सिद्ध करनी है, उसके स्पष्टीकरण या गौरवके लिए प्राचीन इतिहास, दृष्टान्तादि कुछ अन्य बातें भी कही जाती हैं, उन्हें अर्थवाद कहते हैं। यथा—

एक बात नहिं मोंहि सोहानी। यदपि मोहवस कहेउ भवानी॥
तुम जो कहा राम कोउ आना। जेहिं श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
'पाखंडी हरिपदविमुख, जानहिं झूठ न साँच॥
अज्ञ अकोविद अंध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल विसेखी। सपनेउ संत-सभा नहिं देखी॥
कहहिं ते वेद असम्मत बानी। जिनहिं न सूझ लाभ नहिं हानी॥
मुकुर मलिन अरु नयन विहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥
जिनके अगुन न सगुन विवेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका॥
हरि माया बस जगत भ्रमाही। तिनहि करत कछु अघटित नाहीं॥
बातुल भूतविवस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन विचारे॥
जिन कृत महा मोह पद-पाना। तिन कर कहा करिअ नहिं काना॥

यहाँ भेददर्शीकी निन्दा है। जिसने रामको अन्य समझा उसने कौन सा पाप नहीं किया—

यः पश्यति स्वमात्मानं विभिन्नं परमेश्वरात्। किन्तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

सब राम ही तो हैं, मायोपाधिसे वे ही ईश्वर हैं, अविद्योपाधिसे वे ही जीव हैं। यहाँ राम कोई अन्य हैं, यह प्रश्न ही नहीं बन सकता। ऐसी वाणी वेद असम्मत है, जो स्वयम् अविवेकी हैं, मनमलिन हैं, उन्हें आत्मारामका दर्शन नहीं होता। यहाँ विवेकको नयन तथा मनको मुकुर कहा, यथा—

तेहि करि विमल विवेक विलोचन। निज मन मुकुर सुधारि।

दर्शनके लिए तो नेत्र हुई हैं, पर आत्मस्वरूपदर्शनके लिए निर्मल मुकुरकी भी असाधारण आवश्यकता है, अतः यहाँ आत्मारामके दर्शनको कह रहे हैं कि उसे आत्मारामका दर्शन हुआ नहीं, वही पूछ सकता है कि राम कोई दूसरे तो नहीं हैं, रामके विषयमें प्रश्न नहीं बन सकता। उपाधिके विषयमें प्रश्न उठ सकता है कि माया है या अविद्या? यदि माया उपाधि है तो ईश्वर है, यदि अविद्या उपाधि है तो जीव है, सो तुम परीक्षा करके देख चुकी हो, यथा—

कछु निजमाया प्रगटि दिखावा।

अतः यहाँ भी अद्वैत-वाद ही कहा। इसी भाँति गरुड़चरित भी अर्थवाद है। उन्हें भी उमाकी भाँति संशय हुआ। यथा—

(अपूर्ण)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवरणप्रमेयसङ्ग्रह

अनुवादक—पं० श्रीललिताप्रसादजी डबराल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
मीमांसकोंके मतसे भ्रमज्ञानकी ग्रहण-स्मरणात्मकताकी आशङ्का ...	९९	१
मीमांसकोंके अभिमत उक्त अख्यातिवादका खण्डन ...	१०२	४
ग्रहण और स्मरणके विवेचकका निरूपण	१०६	५
बौद्धमतसे आशङ्का	१११	१
बौद्धकी आशङ्काका परिहार	११४	४
रजतादिभ्रमोंकी स्मृतिरूपताका खण्डन	११७	९
अन्यथाख्यातिवादियोंकी आशङ्का	११९	७
अन्यथाख्यातिवादका खण्डन	१२०	२
आत्मख्यातिवादकी आशङ्का	१२३	१
आत्मख्यातिवादका खण्डन	१२५	१

से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेणैवाऽपरोक्षशुक्तिज्ञानाविवेकादप्युपपद्यत इति चेद्, न; तथा सति विवेकज्ञानसमयेऽप्येतावन्तं कालं तद्रजतमनेनाऽविविक्तमित्यविवेक एव परामृश्येत, न च तथा परामृश्यते; किं त्वेतावन्तं कालमिदं रजतमित्यभादिति प्रत्यभिज्ञया संसृष्टावभास एव परामृश्यते। अतः पुरोवर्त्तिमिथ्यारजतमङ्गीकर्त्तव्यम्; अन्यथा शुक्तिं दृष्ट्वा रजते प्रवर्तत इति किं केन सङ्गच्छेत ?

तस्मात् न स्मर्यमाणमिदं रजतम्, किन्तु स्मर्यमाणसदृशमेव। तत्सादृश्यं च पूर्वानुभवसापेक्षज्ञानगम्यत्वादुपपन्नम्। नह्यननुभूतरजतस्य रजतभ्रान्तिर्दृश्यते।

ही सामने विद्यमान चक्षुगोचर (प्रत्यक्षविषय) शुक्तिका विवेक न होनेसे (अर्थात् शुक्तिका रजतसे पृथक्‌रूपसे ज्ञान न होनेसे) भी बन सकता है। उत्तर देते हैं—यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा (शुक्तिज्ञानके अविवेकसे रजतका आपरोक्ष्य (प्रत्यक्ष) होता, तो शुक्तिज्ञानके विवेकके अनन्तर या विवेककालमें 'इतने समय तक, वह रजत इससे विविक्त (शुक्तिसे भिन्न) नहीं जाना' इस तरह अविवेक ही का परामर्श होता' परन्तु ऐसा परामर्श नहीं होता है; (प्रत्युत इसके विपरीत विवेकज्ञान होनेपर) 'इतने समय तक यह रजत है' ऐसा प्रतीत हुआ' इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञासे संसृष्टज्ञानका ही परामर्श होता है। इसलिए (संसृष्टज्ञानकी उपपत्तिके लिए) पुरोवर्ती मिथ्यारजतका अङ्गीकार करना ही चाहिए। अन्यथा शुक्तिको देखकर रजतमें प्रवृत्ति होती है, यह प्रवृत्ति क्या किसी प्रकार संगत हो सकती है ? [नियम है कि पुरुषकी जहां-कहीं भी प्रवृत्ति होती है, वह तद्विषयक ज्ञानके अनन्तर ही होती है। रजतकी इच्छा रखनेवाले पुरुषकी पुरोवर्ती 'इदम्' पदार्थमें प्रवृत्ति देखी जाती है; इससे इदंपदार्थको उसने रजतरूपसे अवश्य जाना है, ऐसा मानना ही होगा, यह भाव है।]

इससे इस भ्रमज्ञानके विषय रजतको स्मर्यमाण अर्थात् स्मरणका विषय नहीं कह सकते, किन्तु स्मर्यमाणके सदृश ही कह सकते हैं। और यह स्मर्यमाणका सादृश्य पूर्व अनुभवकी अपेक्षावाले ज्ञानसे ज्ञेय होनेके कारण संगत होता है। जिस पुरुषको कभी भी रजतका अनुभव नहीं हुआ है, उसको रजतभ्रम नहीं होता। [जैसे स्मर्यमाण पदार्थ स्मृतिसे ज्ञेय होता है, और स्मृतिज्ञान अनुभवकी अपेक्षा रखता है; वैसे ही भ्रमज्ञानका विषय पदार्थ भी रजतके संस्कारज्ञानसे ज्ञेय है और संस्कार पूर्वानुभवकी अपेक्षा रखता है, अतः स्मर्यमाण और भ्रमात्मक पदार्थमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत एव संस्कारजन्यत्वाद् ज्ञानाध्यासस्याऽपि स्मृतिसाम्यमवगन्तव्यम्। विमतं न संस्कारजम्, स्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानत्वात्, प्रत्यक्षवत्; इति चेद्, नः संप्रयोगमात्रजन्यत्वस्योपाधित्वात्। न चाऽनुमानागमादिज्ञानेषु साध्याव्याप्तिः शङ्कनीया, व्याप्यादिज्ञानसापेक्षत्वेन संस्कारजेषु तेषु साध्याभावात्। स्यादेतत्—विमताः प्रत्यया यथार्थाः, प्रत्ययत्वात्,

पूर्वानुभवसापेक्षज्ञानगम्यत्व रूप सादृश्य बन गया।]

यह अर्थाध्यासमें सादृश्य कहा गया। अब ज्ञानाध्यासमें सादृश्य कहते हैं कि अतएव अनुभवसापेक्षसंस्कारगम्य होनेसे ही ज्ञानाध्यासमें भी स्मृतिकी समानता समझ लेनी चाहिए। * विमत—भ्रम संस्कारजन्य नहीं है, स्मृतिभिन्न ज्ञान होनेसे, प्रत्यक्षके समान। [कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षमें स्मृतिभिन्नत्व और संस्कारजन्यत्वाभावका साहचर्य नियमरूप व्याप्ति देखी गई है, अतः आपका वेदान्तीका] अभिमत स्मृतिभिन्न भ्रम भी संस्कारजन्य नहीं हो सकता। इस प्रकारके अनुमानसे स्मृतिसाम्य भ्रममें नहीं है, यदि वादी ऐसा कहे, तो उसका यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमानमें संप्रयोगमात्रजन्यत्व अर्थात् केवल इन्द्रियसंनिकर्षसे जन्यत्वरूप उपाधि † है। अनुमान, आगम आदि ज्ञानोंमें संस्कारजन्यत्वके अभावरूप साध्यकी अव्याप्ति है, अर्थात् अनुमानादिमें संस्कारजन्यत्वाभावरूप साध्य है, किन्तु सम्प्रयोगमात्रजन्यत्वरूप उपाधि नहीं हैं, अतः साध्यकी व्यापक उपाधि नहीं हुई, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उन अनुमान आदि ज्ञानोंमें व्याप्तिज्ञानकी भी अपेक्षा है, अतः संस्कारजन्य होनेसे संस्कारजन्यत्वाभावरूप

* विमतपदसे वह पक्ष लिया जाता है, जो विवादका विषय न हो। प्रकृतमें भ्रमज्ञानको वेदान्ती संस्कारजन्य और स्मृतिसे भिन्न एक ही ज्ञान मानते हैं। मीमांसक इससे विपरीत भ्रमको अनुभव और स्मरण रूप दो ज्ञान मानते हैं, इससे भ्रम विमतिग्रस्त होनेसे विमत कहलाता है।

† साध्यके व्यापक और साधनके अव्यापकको उपाधि कहते हैं। उपाधिको दिखानेके लिए स्मरण रखना चाहिए कि प्रायः पक्षमें साधनाव्यापकत्व और दृष्टान्तमें साध्यव्यापकत्व दिखाया जाता है। जैसे प्रकृतमें भ्रमज्ञान पक्ष है, उसमें साधन (हेतु) स्मृतिभिन्नज्ञानत्व विद्यमान है और सम्प्रयोगमात्रजन्यत्व नहीं है। क्योंकि भ्रम दोषादिसे भी जन्य होता है। अतः साधनाव्यापकत्व उक्त उपाधिमें आ गया। दृष्टान्त प्रत्यक्षज्ञानमें संस्काराजन्यत्वरूप साध्य और उपाधि दोनों हैं, अतः उपाधि साध्यव्यापक हो गई। यहांपर व्यापकका लक्षण समानाधिकरणघटित समझना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संमतवत्, इति न्यायेन प्रमाणं स्मृतिश्चेति द्वैराश्यमेव ज्ञानस्य। तथा च रजतज्ञानमपि नाऽध्यासः, किन्तु स्मृतिः, संस्कारमात्रजन्यत्वात्, संमतवत्। न च स्मृतित्वे सत्यतिसादृश्याच्छुक्त्यन्तरमेव किं न स्मर्यत इति वाच्यम्, कर्तृगतरागादिदोषाणामपि निमित्तत्वात्, शुक्त्यन्तरे तदभावात्। तैरेव दोषैः स्मरणाभिमानस्य प्रसुपितत्वान्न रजतस्मरणे तत्तांश उल्लिख्यते। तथाविशेषावभासकत्वस्य तैरेव प्रतिबद्धत्वान्न शुक्तिग्रहणेऽपि नीलपृष्ठत्वादिकमवभासते। तथा च ग्रहणस्मरणे उभे अप्यविवक्ते संपद्येते, ततो रजतार्थी पुरोवर्त्तिनि प्रवर्त्तते।

ननु किं ग्रहणस्मरणे द्वे अपि प्रवर्त्तके? आहोस्विदेकैकम्। आद्येऽपि

साध्य भी उनमें नहीं है। मीमांसक अपना मत प्रकट करता है—विमत—सभी भ्रमादिज्ञान यथार्थज्ञान—प्रमाज्ञान—ही हैं, ज्ञान होनेसे—संमतके अर्थात् प्रत्यक्षादि ज्ञानके समान, इस अनुमानसे इन्द्रियसम्प्रयोगादिजन्य प्रमाण ज्ञान और स्मरण इस प्रकार ज्ञानके दो ही भेद हो सकते हैं। इस दशामें भ्रमात्मक रजतज्ञान भी अध्यास नहीं है, किन्तु स्मृति ही है, क्योंकि वह संस्कारमात्रजन्य है, जैसे कि सम्मत। अर्थात् माता, पिता आदिके स्मरणात्मक ज्ञान संस्कारजन्य हैं। 'यदि भ्रमको स्मरण माना जाय, तो शुक्तिके अत्यन्त सादृश्यसे दूसरी शुक्तिका ही स्मरण होना चाहिए, रजतका नहीं' यह शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि रजतार्थीमें विद्यमान रागादि दोष भी भ्रममें निमित्त माने गये हैं, वे दोष दूसरी शुक्तिमें नहीं हैं। इन्हीं दोषोंके कारण स्मरणाभिमानके प्रमेय हो जानेसे रजतके स्मरणमें तत्तांशका उल्लेख नहीं होता है। एवम् इन्हीं दोषोंके कारण विशेषताके सूचक धर्मोंके भी प्रतिबद्ध हो जानेसे शुक्तिका अनुभव होते हुए भी नीलपृष्ठत्वादिका अवभास नहीं होता है। इस प्रकार अनुभव और स्मरण दोनों भी अविविक्त हो जाते हैं अर्थात् पार्थक्यरूपसे गृहीत नहीं होते हैं, इसलिए रजतार्थी पुरुषकी पुरोवर्ती पदार्थमें ही प्रवृत्ति होती है।

वेदान्ती मीमांसकके मतमें दोष देते हैं—आपने (मीमांसकने) कहा कि अविविक्त हुए ग्रहण और स्मरण प्रवृत्ति कराते हैं, इसमें हम (वेदान्ती) आपसे पूछते हैं कि ग्रहण (अनुभव) और स्मरण दोनों प्रवर्तक हैं या एक-एक प्रवर्तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किं संभूय प्रवर्त्तके ? किं वा क्रमेण ? नाऽऽद्यः, स्मृतिग्रहणयोर्योगपद्याभावात् । क्रमविशिष्टयोर्द्वयोः प्रवर्त्तकत्वमित्ययुक्तम् ; पूर्वज्ञानस्य प्रवृत्तिं प्रति व्यवहितस्याऽकारणत्वात् । नाऽप्येकैकस्य प्रवर्त्तकत्वम्, व्यवहारस्य विशिष्टविषयत्वात् । ततो विशिष्टप्रवृत्तये संसृष्टप्रत्यय एष्टव्य इति चेद्, न; ग्रहणस्मरणनैरन्तर्योत्पत्तेः प्रवर्तकत्वात् । इदं रजतमित्यभादिति संसर्गप्रत्ययः प्रत्यभिज्ञायत इति चेद्, न; तादृशव्यवहारमात्रत्वात् । यस्तु जातमात्रस्य बालस्य मधुरे तिक्तत्वावभासस्थूत्काराद्यनुमेयः, सोऽपि जन्मान्तराद्यनुभूततिक्तत्वस्मृतिरेव, न तु भ्रान्तिरूपः संसर्गप्रत्ययः । माधुर्यविशेषतत्तांशौ

हैं । यदि प्रथमपक्ष मानते हो, तो क्या दोनों मिलकर प्रवर्तक होते हैं ? या क्रमशः ? पहला पक्ष नहीं बनता, क्योंकि ग्रहण और स्मरण इन दोनोंका एक कालमें होना असम्भव है, कारण कि ज्ञानेच्छादि योग्य विभु गुणोंका उत्तरगुणनाश्यत्व माना गया है। क्रमसे होनेवाले दोनों ज्ञानोंको क्रमशः प्रवर्तक मानना भी अयुक्त है, क्योंकि पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञानसे व्यवहित है, अतः वह प्रवृत्तिके प्रति कारण नहीं हो सकता । एक-एक भी प्रवृत्तिका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि व्यवहार विशिष्टको विषय करता है अर्थात् रजतार्थीकी प्रवृत्ति रजतत्वविशिष्ट पुरोवर्ती पदार्थमें होती है । यह प्रवृत्ति पूर्वोक्त नियमके अनुसार एक विशिष्टज्ञानसे ही हो सकती है—एक-एक ज्ञानसे नहीं हो सकती, यह तात्पर्य है अतः विशिष्ट प्रवृत्तिके लिए संसर्गयुक्त विशिष्टज्ञानको ही अभीष्टका साधक मानना होगा । इस पूर्वोक्त पूर्वपक्षका मींमांसक उत्तर देता है—यह पूर्व पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ग्रहण और स्मरणकी अव्यवधानसे उत्पत्ति ही प्रवृत्तिके प्रति हेतु होगी । 'इदं रजतम्' (यह रजत है) ऐसा प्रतीत हुआ, इस प्रतीतिसे संसर्गयुक्त विशिष्ट ज्ञानकी प्रत्यभिज्ञा होती है; यह भी कहना उचित नहीं है; क्योंकि ऐसा व्यवहारमात्र है (अर्थात् जैसे दूरस्थ दो वृक्षोंमें उत्पन्न न हुआ भी एकत्व दूरत्वदोषसे भासित होता है, वैसे ही सर्वत्र भ्रममें संसर्गयुक्त विशिष्ट ज्ञानके उत्पन्न न होते हुए भी दोषवशात् संसर्गज्ञानकी प्रत्यभिज्ञाका व्यवहार होता है ।) [इससे संसृष्टज्ञान उत्पन्न ही होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, यह भाव है] । सद्योजात बालकके थूकनेसे अनुमान किये गये मधुर रसमें कडुवापनका ज्ञान भी जन्मान्तरमें अनुभूत तिक्त रसका स्मरण ही है, भ्रमरूप संसर्गज्ञान नहीं है । माधुर्यविशेष और तत्ता ये दोनों अंश तो ग्रहण और स्मरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तु ग्रहणस्मरणयोः पित्तदोषान्नोल्लिख्येते। जन्मान्तरानुभूतं च न स्मर्यत इति च भाष्यकारवचनं प्रायिकाभिप्रायम्। अन्यथा स्तनपानादावपीष्ट-साधनतास्मृत्यभावेन प्रवृत्तिर्न स्यात्। भ्रान्तिपक्षेऽपि जन्मान्तरानुभवः कारणत्वेनैष्टव्यः। अन्यथाऽनुभूतत्वाविशेषेण सप्तमरसोऽपि भ्रान्तौ भासेत। अतत्त्वे तत्त्वज्ञानमिति वदता शास्त्रकारेणैव दर्शितः संसर्गावभासो भ्रमत्वेनेति चेद्, नः तस्य व्यवहाराभिप्रायत्वात्। सम्यक्प्रदेशेषु संसर्गज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वं व्याप्तं तत्कुतोऽत्र त्यज्यत इति चेद्, गौरवादिति ब्रूमः। भ्रान्ति-

---

दोनों ज्ञानोंमें पित्त दोषसे ही विषय नहीं होते हैं। [ग्रहणमें माधुर्यविशेषकी प्रतीति और तिक्तमें तत्ताकी प्रतीति दोषसे छिप जाती है, यह भाव है।] 'जन्मान्तरमें अनुभूतका स्मरण नहीं होता है' यह भाष्यकारका वचन तो प्रायिक है [अतः आप्तवचनसे कोई विरोध नहीं है]। यदि ऐसा न माना जाय, तो स्तनपानादिमें भी इष्टसाधनताका स्मरणात्मक ज्ञान न होनेसे प्रवृत्ति न होगी। [क्योंकि प्रवृत्तिमात्रमें इष्टसाधनत्वका ज्ञान अर्थात् यह कार्य मेरा इष्टका साधक है, ऐसा ज्ञान कारण है, अतः भाष्यवचनको प्रायिक ही मानना चाहिए।] बालकके उस तिक्तावभासको यदि भ्रान्ति मानें, तो भी जन्मान्तरका अनुभव कारण बनानेके लिए आश्रयणीय होगा ही। [क्योंकि भ्रममें पूर्वानुभवको कारण वेदान्ती मानते ही हैं। पहले ही कह आये हैं कि जिसको रजतका अनुभव नहीं है उसको रजतभ्रम नहीं होता, यह गूढ़ाभिप्राय है।] नहीं तो, अननुभूतत्वमें कोई विशेष न होनेसे मधुरादि छः रसोंसे अतिरिक्त सातवां रस भी भ्रममें भासित होना चाहिए। [जैसे इस जन्ममें अनुभवमें न आया हुआ मधुर रस बालकके भ्रमका विषय होता है, वैसे ही अनुभवमें न आया हुआ सप्तम रस भी भ्रमका विषय होना चाहिए, यह तात्पर्य हुआ।] 'जो वस्तु तात्त्विक नहीं है, उसमें तत्त्वज्ञान होना भ्रम है, इस प्रकार कहनेसे सांख्यशास्त्रकारोंने भी भ्रममें संसर्गज्ञान दिखलाया है, यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि शास्त्रोंका यह वचन भी व्यवहारके अभिप्रायसे ही है (अर्थात् अयथार्थ ज्ञानके अभावमें भी अयथार्थ व्यवहार होता है; एतदभिप्रायक सांख्यसिद्धान्त है।) यदि शङ्का करो कि यथार्थ ज्ञानस्थलमें संसर्गज्ञान प्रवर्तक माना गया है, उसका प्रकृतमें त्याग करना उचित नहीं है? तो इसका समाधान यही करते हैं कि प्रकृतमें ऐसा मानना गौरवग्रस्त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वादिनाऽपि तत्कारणत्वेनाऽवश्यं ग्रहणस्मरणयोरविवेक एष्टव्यः। तथा च तेनैवोभयसिद्धेन प्रवृत्तिसिद्धौ किमतिरिक्तसंसर्गज्ञानेन ? तस्मादख्यातिरेव युक्तेति।

अत्रोच्यते—केयमख्यातिर्नाम। किं ख्यात्यभावमात्रमुतान्यार्थिनोऽन्यत्र प्रवृत्तिहेतुविज्ञानम् ? अथाविविक्तानेकपदार्थज्ञानम् ? आद्ये, सुषुप्तौ भ्रमः स्यान्न जाग्रत्स्वप्नयोः। द्वितीये, झटिति बाधादालस्याद्वा यत्र न प्रवृत्तिस्तत्र

भ्रमवादीको—एकविशिष्टसंसर्गज्ञानरूप भ्रम माननेवालेको—भी भ्रमके प्रति कारणरूप ग्रहण और स्मरणका अविवेक मानना तो आवश्यक ही है। इस अवस्थामें उभयवादिसिद्ध पूर्वोक्त ग्रहण और स्मरणके अविवेकसे ही विशिष्टव्यवहारकी यदि उपपत्ति हो जाती है, तो अतिरिक्त भ्रमात्मक संसर्गज्ञानकी कल्पना क्यों की जाय ? [ग्रहण और स्मरणसे अतिरिक्त तृतीय ज्ञानकी कल्पना करनेमें स्पष्ट ही गौरव है और मेरे—ग्रहणस्मरणवादीके मतमें गौरव नहीं है, क्योंकि 'इदम्' पदार्थका ग्रहण भ्रमवादी मानता ही है, अन्यथा अधिष्ठानका स्फुरण ही नहीं होगा। एवं पूर्वानुभूत रजतका स्मरण भी अनिवार्य है, अन्यथा जिसने रजतका अनुभव नहीं किया है, उसको भी रजतभ्रम होना चाहिए। इससे ग्रहण और स्मरणके उभयमतसिद्ध होनेसे हमारा यह पक्ष गौरवग्रस्त नहीं है, यह वादीका तात्पर्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अख्याति ही युक्त है।

वेदान्ती अख्यातिवादका खण्डन करता है—इस मतके विषयमें कहा जाता है कि आपकी अख्याति क्या वस्तु है ? [इसका विवेचन कीजिए, ऐसा मीमांसकके प्रति पर्यनुयोग हुआ] विकल्प करते हैं—क्या ख्यातिका न होना ही अख्याति है ? अथवा अन्य वस्तुको चाहनेवाले पुरुषकी अन्य वस्तुमें प्रवृत्तिकारणत्वका विज्ञान ख्याति है ? या अविविक्त अनेक वस्तुओंका विज्ञान ख्याति है। पहला पक्ष तो नहीं हो सकता, क्योंकि इसके माननेमें केवल सुषुप्ति (गाढ़निद्रा)* ही में भ्रम हो सकेगा जागर-स्वप्नमें नहीं होगा। जागर या स्वप्नमें कुछ-न-कुछ ख्याति रहती ही है, अतः ख्यातिका सामान्याऽभाव नहीं हो सकता। द्वितीय पक्ष भी दोषपूर्ण है, 'इदं रजतम्' इस भ्रमके अव्यवहित उत्तर क्षणमें ही शीघ्र 'नेदं रजतम्' बाध हो गया,

* वस्तुतः वेदान्तमतमें सुषुप्तिमें भी अज्ञानकी ख्याति रहती ही है, अतः अभ्युपगमवादसे यह ग्रन्थ है या 'प्ररीत्या परो बोधनीयः' इस न्यायसे प्रवृत्त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्रान्तिर्न स्यात् । तृतीयेऽपि अविविक्तत्वप्रतियोगिविविक्तत्वं नाम किं भेदग्रहः ? उताभेदाग्रहः ? अहोस्वित् इतरेतराभावभेदद्वित्वादिसंख्याविशिष्ट-ज्ञानम् ? नाद्यः, इदमिति रजतमिति चाऽपुनरुक्तशब्दद्वयस्मृतिहेतुत्वेन सामान्यविशेषयोर्भेदग्रहे सत्यविवेकासंभवात्। न द्वितीयः, उक्तरीत्या भेदस्य गृहीतत्वादेव तद्विरुद्धस्याभेदस्याऽऽग्रहे सति तदग्रहनिषेधस्याऽविविक्तत्वस्य दुःसंपादत्वात्। तृतीयेऽपि किमाहत्यैव द्वित्वादिज्ञानमपेक्षितम् ? उताऽऽनुषङ्गि-कमपि पर्याप्तम् । आद्ये, 'गामानय दण्डेन'इत्यत्र गोदण्डयोरपि साक्षाद् द्वि-

अथवा 'इदं रजतम्' इस भ्रमके रहते भी आलस्यके कारण जहाँ प्रवृत्ति न हुई वहाँपर द्वितीय विकल्पात्मक अख्याति (भ्रम) नहीं होनी चाहिए । तीसरा विकल्प भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि इस तीसरे विकल्पमें भी विविक्तत्वके अभावका प्रतियोगिभूत विविक्तत्व क्या भेदका ज्ञान है ? अथवा अभेदका अज्ञान विविक्तत्व है, या इतरेतराभाव-भेद-द्वित्वादिसंख्याविशिष्ट ज्ञान विविक्तत्व है ? [जैसे घट और पटका विवेक इतरेतराभावविशिष्टज्ञान है और दोनोंका भेदविशिष्ट ज्ञान भी है एवम् दोनोंमें विद्यमान द्वित्व संख्याविशिष्टज्ञान भी है, अतः इन दोनोंका विवेकग्रह बनता है । अन्यथा अविवेक होगा वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए यह इन विकल्पोंका भाव है] इनमें प्रथम पक्ष—भेदज्ञान युक्त नहीं है, क्योंकि 'इदम्' और 'रजतम्' इन दोनों अपुनरुक्त शब्दोंके स्मृतिके कारण होनेसे 'इदम्' सामान्य और 'रजतम्' विशेष इन दोनोंका भी भेदग्रह स्पष्ट होनेपर 'इदम्' और रजतका अविवेक असम्भव होगा। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि जब प्रथम विकल्पके खण्डनके अवसरमें प्रदर्शित रीतिसे भेदग्रह हो ही गया, तब भेदके विरोधी अभेदके अग्रह रहते हुए इस अभेदाऽग्रहके निषेधस्वरूप अविविक्तत्वका सम्पादन दुःसाध्य हो जायगा । तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें विकल्प होगा कि निरुक्त द्वित्वादिका ज्ञान साक्षात् रहना चाहिए या उसका आनुषङ्गिकरूपसे रहना भी विवेकग्रहके लिए उपयुक्त है, यदि साक्षात् द्वित्वादिज्ञान विवेकका उपयोगी माना जाय, तो 'दण्डसे गौ ले आओ' इस वाक्यमें गौ और दण्डमें भी साक्षात् * द्वित्वादिकी प्रतीति न होनेसे अविवेककी (भ्रमकी) प्रसक्ति हो जायगी ।

* गौ और दण्ड इनमें साक्षात् एकत्व ही है, अन्यथा इनमें द्विवचन हो जाना चाहिए। यदि गोमें कर्मभाव और दण्डमें करणभावका भेदका साक्षात् होनेसे विवेक है ही, ऐसा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वाद्यप्रतीतेरविवेकः प्रसज्येत। द्वितीये, पुरोवर्त्तिरजतयोरप्यानुषङ्गिकद्वित्वादिज्ञानसद्भावादविवेको न स्यात्।

ननु प्रतियोगिनयुपजीव्याविवेकानिरूपणेऽपि धर्मिद्वारा निरूप्यतामिति चेत्? तदप्यसत्; न तावत् प्रतीयमानयोर्धर्मिणोरविवेकः संभवति, अपुनरुक्तत्वेन स्पष्टं प्रतिभासात्। अप्रतीयमानयोरविवेकश्चेत्? सुषुप्तावपि भ्रमः प्रसज्येत।

नन्वविवेको नामाऽसंसर्गाग्रहः। स च प्रतीयमानयोरिदंरजतयोः संभवति, 'इदंरजते असंसृष्टे' इति प्रत्ययादर्शनादिति चेत्, तदाऽपि किं ग्रहण-

---

दूसरे * पक्षमें तो पूरोवर्ती 'इदम्' पदार्थ और 'रजत' इन दोनोंमें भी आनुषङ्गिक द्वित्वादिज्ञानका सद्भाव है ही, अतः इनका (इदम् और रजतका) अविवेक (संसर्गभ्रम) नहीं हो सकेगा।

यदि शङ्का हो कि प्रतियोगी (विवेक) के निरूपण द्वारा अविवेकका प्रतिपादन नहीं बन सकता है, तो मत बने; परन्तु धर्मियोंके द्वारा ही यदि निरूपण कर लिया जाय, तो क्या हानि है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतीतिमें आनेवाले "इदम् और रजत" दोनों धर्मियोंका अविवेक सम्भव नहीं है। वहां तो अपुनरुक्त भिन्न-भिन्न इदम् और रजत इस प्रकार प्रतीतिमें आनेसे भेदकी स्पष्ट ही प्रतीति हो रही है। यदि प्रतीतिमें न आनेवाले धर्मियोंके अविवेकका भ्रम मानो, तो सुषुप्तिमें भी भ्रमका प्रसङ्ग हो जायगा। [सुषुप्तिमें किसी भी आकारका ज्ञान नहीं रहता है, यह भाव है।]

पुनः मीमांसक अविवेकका विवरण करता है—असंसर्ग (सम्बन्धाभाव) का अग्रह (ज्ञान न होना) ही अविवेक कहलाता है। और वह असंसर्गका अग्रह प्रतीतिमें भासनेवाले इदम्—पुरोवर्ती और रजतका हो सकता है, क्योंकि इदं और रजत असंसृष्ट (संसर्गाभावविशिष्ट) हैं, ऐसा ज्ञान नहीं होता है। वेदान्ती खण्डन करता है—"यह भी सङ्गत नही है" क्योंकि अविवेकका अर्थ असंसर्गका अग्रह माननेपर भी हम विकल्प करेंगे कि क्या ग्रहण (अनुभव) और

कहा जाय, तो गोगत कर्मकारकत्व और दण्डगत करणकारकत्वका भेद कैसे बनेगा, क्योंकि कारकत्व दोनोंमें समानरूपसे विद्यामान है। तब इन कर्मकारक और करणकारकका भेदप्रयोजक आप कर्मबोधिका और करणबोधिका भिन्न २ दो विभक्तियोंके आनेसे अपुनरुक्त शब्द द्वारा ही भेद कहेंगे, तो आनुषङ्गिक भेदादि द्वारा द्वित्वादिविशिष्टज्ञान हुआ, इस आशयसे माने हुए आनुषङ्गिक द्वित्वादिविशिष्टज्ञान पक्षका खण्डन इस ग्रन्थसे करते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मरणयोरेवाऽसंसर्गाग्रहो विवक्षितः, उत ययोः कयोश्चिद् ? आहोस्वित् संसर्ग-ज्ञानरहितयोः । आद्ये 'अहं मनुष्यः' इति भ्रमो न स्यात्; उभयोरपि ग्रहण-त्वात् । द्वितीये 'खण्डो गौः, शुक्लः पटः' इत्यपि भ्रमः स्यात्; असंसर्गप्रती-त्यभावात् । तृतीयेऽपि स एव दोषः; नहि तत्र संसर्गज्ञानं संभवति । तद्वि-षयस्यैक्यस्याऽभावात् । ऐक्यस्य च तद्विषयत्वं प्रत्यभिज्ञायामवगतम् ।

यदि गुणगुण्यादिसंबन्ध एव तद्विषयो नैक्यमित्युच्यते तर्हीदं रजत-मित्यत्राऽपि सादृश्यसंबन्धस्तद्विषय इति वक्तुं शक्यत्वेन संसर्गप्रत्ययो

स्मरण इन दोनों ज्ञानोंके असंसर्गके अग्रहको ही अविवेक कहते हैं ? अथवा किसी भी दो ज्ञानोंके असंसर्गके अग्रहको अविवेक कहते हैं ? अथवा संसर्ग-रहित ज्ञानोंके ही असंसर्गाऽग्रहको अविवेक कहते हैं ? यदि प्रथम पक्ष माना जाय, तो 'अहं मनुष्यः' (मैं मनुष्य हूँ) इस प्रतीतिको भ्रम नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इस प्रतीतिमें मैं और मनुष्य ये दोनों ज्ञान अनुभवात्मक ही हैं; इसलिए 'अहं मनुष्यः' इस ज्ञानमें ग्रहण और स्मरणके अविवेकरूप भ्रमके लक्षणकी अव्याप्ति हो जायगी । द्वितीय पक्ष माननेसे 'खण्डो गौः' (एक प्रकारका विशेष गौ) इस ज्ञानमें और 'शुक्ल पटः' (सफेद कपड़ा) इस ज्ञानमें भ्रमत्व हो जायगा । इससे लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष आवेगा; क्योंकि प्रदर्शित दोनों ज्ञानोंमें असंसर्गकी प्रतीति नहीं है । तृतीय विकल्पमें भी प्रथम विकल्पमें उक्त दोषका ही सद्भाव है, अतः वह भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि 'खण्डो गौः' इत्यादि ज्ञानमें संसर्गज्ञानका सम्भव ही नहीं है । संसर्गज्ञानका प्रयोजक ऐक्यज्ञान उक्त ज्ञानमें है ही नहीं । संसर्गज्ञानका ऐक्य आलम्बन है, यह 'सोऽयम्' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञामें सिद्ध है ।

यदि मीमांसक गुणगुण्यादिसम्बन्ध ही संसर्गज्ञानका आलम्बन है, ऐक्य नहीं, ऐसा समाधान करे, तो 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस ज्ञानमें सादृश्य-सम्बन्ध भी संसर्गज्ञानका विषय है, ऐसा भी मान सकते हैं, इससे 'इदं रजतम्' इस भ्रममें भी संसर्गज्ञानका निवारण नहीं हो सकता । [इससे लक्षणमें अव्याप्ति दोष रह जायगा । खण्डनकर्ताका आशय यह है कि गुण-गुण्यादि सम्बन्ध सब संसर्गज्ञानके प्रयोजक हैं, यह तो असम्भव होनेसे आप नहीं मान सकते, अतः प्रत्येकको ही उसका प्रयोजक मानना होगा;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्वारः। अथ तत्र नेदं रजतमिति असंसर्गप्रत्ययेन बाधान्न संसर्गतत्प्रत्ययौ संभवतः; तर्हि त्वन्मते गुणगुण्यादावपि इतरेतराभावज्ञानाख्योऽसंसर्ग-प्रत्ययोऽस्त्येवेति संसर्गतत्प्रत्ययययोरसंभवाद् भ्रमत्वापत्तिस्तदवस्था। तस्माद् नाऽसंसर्गाग्रहोऽप्यविवेकः।

नन्वविवेकं दूषयताऽत्र विवेचकं किंचिन्निरूपणीयम्। न तावत् ग्रहणं स्मर्यमाणात् स्वार्थं विविनक्ति; विशेषावभासकत्वस्य दोषैः प्रतिबद्धत्वात्। नाऽपि स्मरणं गृह्यमाणात् स्वार्थं विवेक्तुमलम्, स्मरणाभिमानस्य प्रमुषित-त्वादिति चेद्? मैवम्; उभयोरपि विवेचकत्वस्य सुसंपादत्वात्। तथा हि--

---

इस अवस्थामें हम सादृश्यसम्बन्धको भी संसृष्टभानका प्रयोजक मान सकते हैं, क्योंकि कोई राजनियम तो है नहीं कि केवल पांच ही सम्बन्ध संसर्गज्ञानके प्रयोजक हैं, छठा या सातवाँ नहीं है]। यदि कहो कि 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस असंसर्गज्ञानसे बाधित हो जानेके कारण 'इदं रजतम्' इसमें संसर्ग और संसर्गज्ञान नहीं हो सकते, तब तो तुम्हारे (मीमांसकके) मतमें गुणगुण्यादिस्थलमें भी इतरेतराऽभावज्ञानरूप (एकमें दूसरेका परस्पर अभावज्ञानरूप) असंसर्गज्ञान विद्यमान ही है, इससे--संसर्ग और उसके ज्ञानके असम्भव होनेसे गुणगुण्यादिभावविशिष्ट 'शुक्लः पटः' इत्यादि ज्ञानमें भ्रमत्वकी आपत्ति तदवस्थ ही (वैसी ही बनी) है। इससे अव्याप्ति-अतिव्याप्तिदोषपूर्ण होनेसे असंसर्गाऽग्रह--संसर्गके अभावके अग्रहरूप--अविवेकका (भ्रमका) निर्वचन नहीं हो सकता।

शङ्का--अविवेकको अर्थात् ग्रहण और स्मरणके विवेकाग्रहको माननेमें दूषण देनेवाले वेदान्तीको 'ग्रहणस्मरणका अविवेक 'भ्रम नहीं है, किन्तु ग्रहण-स्मरणसे भ्रममें विवेक (भेद) है' इसको सिद्ध करनेके लिए किसी विवेचकका निरूपण करना चाहिए। ग्रहण तो अपने विषयको स्मरणके विषयसे विभक्त नहीं कर सकता, क्योंकि विशेषको सूचित करनेवाले शुक्तित्वादि दोषोंसे प्रतिबद्ध है। एवं स्मरण भी अपने विषयको अनुभूयमानसे विभक्त करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि उसका स्मरणाभिमान दोषोंसे ही प्रमुषित हो गया है; [अतः किसी विवेचकके न होनेसे ग्रहण और स्मरणके अविवेकको ही भ्रम मानना चाहिए; उससे अतिरिक्तको भ्रम नहीं मानना चाहिए, यह भाव है।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किमिदमाकाररजताकारयोस्तत्तज्जातिव्यक्तिविशिष्टयोरेव त्वया भेदोऽभ्युपेयते किं वा केवलयोरपि ? नाऽद्यः, प्रकृतयोरिदमाकाररजताकारयोर्जात्याद्यविशिष्टयोर्भेदाभावेनैक्ये सति तद्गोचरसंसर्गज्ञानप्रसङ्गात् । द्वितीयेऽपि किं प्रथमज्ञानेन वस्तु गृहीत्वा द्वितीयज्ञानेन धर्मिप्रतियोगिभावमवगत्य पश्चात् तृतीयज्ञानेन भेदो गृह्यते ? उत वस्तुना सहैव भेदग्रहणम् ? आद्ये सर्व-

समाधान—नहीं, उक्त शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ग्रहण और स्मरण दोनों ही विवेचक हो सकते हैं; इसे कहते हैं—* क्या तत्तज्जातिव्यक्तिविशिष्ट इदमाकार और रजताकारके भेदका आप स्वीकार करते हैं ? या केवल इदमाकार और रजतके भेदका ही ? यदि प्रथम पक्ष माना जाय, तो 'इदं रजतम्' इस प्रकृत भ्रममें भासित होनेवाले इदमाकार और रजताकार दोनोंके तत्तज्जातिव्यक्तिविशिष्ट न होनेसे उनका भेद है नहीं, अतः ऐक्य होनेसे ऐक्यालम्बनक संसर्ग-ज्ञानका प्रसङ्ग हो जायगा । [अर्थात् परस्पर विरोधी दो पदार्थोंमें एकका निषेध करनेसे दूसरेका विधान स्वतः सिद्ध हो जाता है, इस प्रसिद्ध नियमसे प्रकृतमें भेदका निषेध करनेसे ऐक्य होगा, और ऐक्यसे संसर्गज्ञानके प्रसङ्गसे भ्रमलक्षणकी आपके मतमें अव्याप्ति होगी, यह भाव है] । यदि द्वितीय पक्ष अभीष्ट है, तो भेदग्रहकी प्रक्रिया बतलाइए । क्या 'इदं रजतम्' इस प्रथम ज्ञानसे वस्तुओंका (इदम् और रजत का) ज्ञान हुआ, अनन्तर दूसरे ज्ञानसे गृहीत वस्तुओंमें धर्मिप्रतियोगिभावका ज्ञान (एक वस्तुमें धर्मिज्ञान दूसरी वस्तुमें प्रतियोगिबुद्धि अर्थात् अमुक वस्तुका भेद अमुक वस्तुमें है, इस प्रकारका ज्ञान) करके तदनन्तर तृतीय ज्ञानसे भेदका ग्रह होता है ? अथवा वस्तुग्रहके साथ-साथ प्रथम ज्ञानसे ही भेदका भी ज्ञान हो जाता है ? अर्थात् भेदविशिष्ट ही वस्तुका भान होता है ? ये दोनों ही प्रक्रियाएँ सङ्गत नहीं हैं, क्योंकि यदि प्रथम पक्ष मानो, तो सम्पूर्ण वस्तुओंके ज्ञानको, भेदके ज्ञानसे पूर्व अविविक्तविषयक होनेसे, भ्रमज्ञान कहना पड़ेगा, परन्तु यह किसीको भी इष्ट नहीं है । यदि द्वितीय पक्ष मानो, तो 'इदं रजतम्' इस ज्ञानमें प्रथमतः इदमाकारके ज्ञात होते ही भेदका भी ग्रह हो जानेके कारण

* ग्रहणसे स्मरणका और उसके विषयका स्मरणके विषयसे विवेक हो सकता है । इसका समर्थन करते हुए पूर्वोक्त दोषोंका निराकरण करते हैं—'तथाहि' इत्यादिसे ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदार्थज्ञानानां भेदग्रहणात् प्राग् अविविक्तविषयतया भ्रमत्वप्रसङ्गः। द्वितीये च इदन्ताग्रहणादेव भेदस्यापि गृहीतत्वेन भेदापेक्षितो विशेषोऽप्यवभासित एवेति ग्रहणस्य विवेचकत्वमङ्गीकार्यम्।

तथा स्मरणमपि विवेचकमेव। नहि स्मरणाभिमानो निरूपयितुं शक्यः, यत्प्रमोषात् स्मृतेरविवेचकत्वम्। तथा हि किं स्मृतिरेव स्मरणाभिमानः स्मृतेरन्यो वा स्मृतिगतधर्मो वा पूर्वानुभवविशिष्टत्वेनाऽर्थग्रहणं वा स्वगत एव कश्चित्स्मृतिविशेषो वा पूर्वानुभवगोचरादिज्ञिष्टज्ञेयनिमित्तो विशेषो वा फलभेदकजनकत्वं वा स्मरामीत्यनुभवो वा। नाऽद्यः, स्मृतेः

भेदसे अपेक्षित विशेषाकारका भी अवभास हो ही गया, अतः ग्रहणको विवेचक मानना चाहिए अर्थात् जब ग्रहण विवेचक हो गया, तब अविवेक कैसे रह सकता है, यह भाव है।

उसी प्रकार स्मरण भी विवेचक हो ही सकता है, जिसके प्रमोषसे स्मरण विवेचक नहीं बन सकता, ऐसे आपके अभिमत स्मरणाभिमानका निरूपण नहीं किया जा सकता, क्योंकि क्या स्मृति ही स्मरणाभिमान है? या स्मृतिसे भिन्न? अथवा स्मृतिमें रहनेवाला धर्म? अथवा पूर्वानुभवविशिष्टत्वरूपसे (पहिले इसका अनुभव हुआ है, इस प्रकारकी प्रतीतिसे) अनुविद्ध वस्तुका ज्ञान? अथवा स्वगत कोई स्मृतिविशेष? (अर्थात् स्मृतिज्ञानमें एक प्रकारकी विलक्षण स्मृति) या पूर्व अनुभवके विषयसे विशिष्ट ज्ञेयका निमित्तरूप विशेष? अथवा फलभेदका जनक? (पूर्व अनुभवके फलसे अतिरिक्त विशेष फलका जनक) अथवा 'स्मरामि' (स्मरण करता हूँ) इस प्रकारका अनुभव स्मरणाऽभिमान है? [इस प्रकार आठ विकल्प दिखाकर खण्डन करते हैं]— प्रथम पक्ष (स्मृति ही को स्मरणाभिमान मानना) तो उचित नहीं है, क्योंकि स्मृतिका प्रमोष होनेसे रजतज्ञानका अभाव ही प्रसक्त होगा अर्थात् रजतकी स्मृति ही तो आपके मतमें भ्रम है, उसका आप प्रमोष मानते हैं, तो अवशिष्ट कौन-सा ज्ञान रह गया, जिसको कि आप भ्रम कहेंगे, यह भाव है। दूसरा पक्ष भी नहीं मान सकते, क्योंकि अतिरिक्तका प्रमोष होनेसे स्मृतिको अविवेचकत्व होगा, इस प्रकार वैयधिकरण्यका प्रसङ्ग आ जाता है। [अर्थात् स्मृतिसे स्मरणाभिमान अतिरिक्त है और उसका ही आप प्रमोष मानते हैं। अतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमोषे रजतज्ञानस्यैवाऽभावप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, अन्यस्य प्रमोषे स्मृतेरविवेचकत्वमिति वैयधिकरण्यापातात्। न तृतीयः, तादृशधर्मानुपलम्भात्। न चतुर्थः, पूर्वदृष्टः स एवाऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाभ्रमे पूर्वानुभवसंभेदग्रहे सत्येव विना तत्प्रमोषमविवेकदर्शनात्। अथ केवलस्मृतिमभिलक्ष्योक्तम् प्रत्यभिज्ञा तु न तथेति चेत्, तथापि नाऽयं पक्ष एव संभवति। तथा हि—किं पूर्वानुभवः स्वात्मानमपि विषयीकरोति उतार्थमात्रम्? नाद्यः, वृत्तिविरोधात्। द्वितीये त्वर्थ एव स्मृत्याऽवभास्यो न तु पूर्वज्ञानं तस्याननुभूतत्वात्। ननु ज्ञातो घट इत्यत्र ज्ञानविशिष्टार्थस्मृतिर्दृश्यत इति चेत्, न;

स्मृति पूर्णरूपसे ही रही, उसका तो कोई अंश कम नहीं हुआ, तब स्मृति अपने विषयको अनुभवके विषयसे क्यों न विविक्त कर सकेगी, यह भाव है]। तीसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि वैसा स्मृतिमें कोई धर्म दीखता ही नहीं है। चौथा पक्ष भी संगत नहीं है, 'पहले देखा गया ही यह देवदत्त है' इस प्रत्यभिज्ञा-भ्रममें पूर्वानुभवके सम्भेदका ग्रह होनेपर ही उस सम्भेदके प्रमोषके बिना अविवेक देखा जाता है। यदि यह समाधान दिया जाय कि उस स्मरणाभिमानका प्रमोष (भ्रमात्मक) स्मृति स्थलमें ही मानते हैं; प्रतिज्ञा वैसी नहीं है; तो भी यह सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि क्या पूर्व अनुभव अपनेको भी विषय करता है? या केवल विषयमात्रको विषय करता है? पहला पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि उसके माननेमें वृत्तिका विरोध हो जायगा। [अनुभव या स्मरण कोई भी ज्ञान हो, सभी अन्तःकरणके वृत्तिविशेष हैं, इनसे दूसरे पदार्थका अवभास होता है, अपना अवभास नहीं, अन्यथा कर्तृकर्मविरोध होगा, इस विरोधसे प्रकृतमें पूर्वज्ञान केवल अर्थमात्रको विषय करता है, अपनेको जो कि अर्थके स्मरणके कारण संस्कारका जनक है, विषय नहीं करता। अतः उसका स्मरणमें विषय होना असम्भव है, क्योंकि पूर्वानुभवमें विषय न होनेसे उसका संस्कार ही नहीं हुआ, तब बिना संस्कारके स्मृति कैसे हो सकती है, संस्कार अनुभूतका ही होता है, अतः यह पक्ष विरुद्ध हुआ, यह तात्पर्य है]। दूसरे पक्षमें तो केवल अर्थ ही स्मृतिका विषय होगा, पूर्वज्ञान विषय नहीं होगा? क्योंकि वह पूर्व अनुभवका विषय ही नहीं हुआ है। 'ज्ञातो घटः' 'यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मृत्यन्तरत्वात् । अनुव्यवसायेन ज्ञानागोचरानुमानेन वा जन्येयं स्मृतिर्व्यवसायजन्याया घटमात्रगोचरायाः स्मृतेरन्या। न चाऽनयाऽपि स्वजनको [ऽनु] व्यवसायाख्यः पूर्वानुभवो विषयीक्रियते किं तर्ह्यनुव्यवसायेनानुभूतो व्यवसाय [विशिष्टो] घट एव। अत एतत्सिद्धम्—विमता स्मृतिर्न स्वमूलज्ञानविशिष्टमर्थं गृह्णाति, स्मृतित्वात्, पदार्थस्मृतिवत्, इति। पदानि हि स्वसंबद्धेष्वर्थेषु स्मृतिं जनयन्ति।

घट अनुभवका विषय हुआ है' इस प्रकार ज्ञानविशिष्ट अर्थका स्मरण देखा गया है, इससे पूर्व ज्ञान भी स्मृतिका विषय होता है, ऐसा मीमांसकका प्रतिपक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि अनुभवमें ज्ञानविशिष्ट-घटविषयक 'ज्ञातो घटः' इस स्मरणसे यह भिन्न स्मरण है, क्योंकि अनुव्यवसायसे अथवा ज्ञानविषयक अनुमानसे उत्पन्न हुई स्मृति व्यवसाय (प्रथम ज्ञान) से उत्पन्न केवल घटको विषय करने वाली स्मृतिसे भिन्न ही होती है। यह स्मृति भी अपने जनक अनुव्यवसाय-नामक पूर्व अनुभवको विषय नहीं करती, किन्तु 'घटको मैं जानता हूँ' इस अनुव्यवसायसे जाने गये व्यवसायविशिष्ट घटको ही विषय करती है। [शङ्का और समाधानका तात्पर्य यह है कि मीमांसकके मतमें 'ज्ञातो घटः' इस प्रतीतिमें ज्ञानविशिष्ट घटके विषय होनेसे ज्ञान भी स्मरणका विषय कहलाता है। और वेदान्तीके मतमें स्मृति दो प्रकारकी होती है। एक प्रथम ज्ञानसे अनुभूत घट-पटादि विषयकी होती है। इस स्मृतिमें केवल घट-पटादि ही विषय होते हैं, पूर्वानुभवजनित संस्कार द्वारा ही स्मृति होती है। और संस्कार पूर्व अनुभवके विषयका ही हो सकता है, प्रकृतमें केवल घट-पटादि ही पूर्व अनुभवके विषय हैं। अतः अनुभव स्वयं पूर्व अनुभवका विषय न होनेसे संस्कारके बिना स्मरणका विषय नहीं हो सकता। दूसरी—अनुव्यवसायसे अथवा घटपटादि विषयमें प्रकटतास्वरूप कार्यसे किये गये कारणभूत ज्ञानके अनुमानसे अनुमित अपनेमें विद्यमान ज्ञान द्वारा उत्पन्न—स्मृति है। इस स्मृतिमें अवश्य पूर्वानुभवका संभेद होता है, क्योंकि इस स्मृतिके जनक अनुव्यवसाय तथा अनुमिति दोनोंमें पूर्वानुभव विषय है]। इससे यह (अनुमान) सिद्ध हुआ कि—विमत स्मृति अपने मूलज्ञानविशिष्ट अर्थका ग्रहण नहीं करती, स्मृति होनेसे, पदार्थस्मृतिके समान; क्योंकि पद अपनेसे सम्बद्ध अर्थोंमें ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नन्वेतद् बौद्धो न सहते। तथा हि--पदानामर्थैः संयोगादिसंबन्धानामसंभवात् सम्बद्धार्थस्मारकत्वमित्येतदयुक्तम्। बोधजननशक्तिः सम्बन्ध इति चेत्, किमनुभवजननशक्तिः ? किं वा स्मृतिजननशक्तिः ? नाऽद्यः, पदानां वाक्यरूपेण वाक्यार्थानुभवजनकत्वेऽपि स्वार्थेषु तदसंभवात्। व्युत्पत्तिकाले पदार्थानां मानान्तरगृहीतत्वेनाऽपूर्वार्थत्वाभावात्। तदुक्तम्--'पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते' इति।

द्वितीयेऽपि सा शक्तिर्न तावदज्ञाता स्मृतिमुत्पादयति; ज्ञातकारण-

स्मृति उत्पन्न करते हैं। [इससे तात्पर्य यह निकला कि केवल घट-पटादिज्ञानसे उत्पन्न संस्कारोंके द्वारा हुई स्मृति शुद्ध विषयको ही ग्रहण करती है और अनुमान अथवा अनुव्यवसायजन्य संस्कार द्वारा उत्पन्न हुई पूर्व ज्ञानको भी विषय करने वाली स्मृतिसे भिन्न है।]

शङ्का--'पदोंसे अपनेसे सम्बद्ध अर्थकी स्मृति होती है' इस मतको बौद्ध नहीं सहता है, क्योंकि पदोंका अर्थोंके साथ संयोग आदि सम्बन्धोंके असम्भव होनेसे 'पद सम्बद्ध अर्थका स्मरण कराते हैं, यह मत युक्त नहीं है। यदि पदोंकी अर्थबोधोत्पादिका शक्तिको सम्बन्ध माना जाय, तो यह भी नहीं बनता, क्योंकि इस बोधजननशक्तिको क्या अनुभवात्मकबोध-जनन शक्तिरूप मानते हो ? या स्मरणात्मक बोधजननशक्तिरूप मानते हो ? प्रथम पक्ष तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि पदोंमें वाक्यरूपसे वाक्यार्थानुभव-जनकता होनेपर भी उनमें अपने अर्थविषयक अनुभवके प्रति जनकता नहीं है। व्युत्पत्तिकालमें पदार्थोंका दूसरे प्रमाणोंके द्वारा ग्रहण होता है; अतः पदोंका वह अपूर्व अर्थ नहीं कहा जा सकता। [मीमांसकका तात्पर्य यह है कि यद्यपि वाक्यरूपसे पद वाक्यार्थोंके अनुभावक हैं, तथापि प्रत्येक पदकी व्युत्पत्तिके ग्रहके समयमें तो वह अपने-अपने अर्थके ही अनुभावक हैं; इससे पदोंमें अर्थानुभवजनकत्व सिद्ध हो गया। बौद्ध कहता है कि व्युत्पत्तिग्रह तो वृद्ध व्यवहारादिसे ही होता है, और वह अर्थ, जिसको कि आप पदका अर्थ कह रहे हैं; व्यवहार दर्शनादिरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा ही गृहीत हुआ; पदने कोई अपूर्व अर्थका ग्रहण नहीं कराया, पदार्थ वही माना जा सकता है, जो केवल पदके द्वारा बोधित हो]। ऐसा कहा भी गया है कि यह अधिक अर्थका बोधक न होनेसे (अर्थात् नूतन अर्थका नहीं ? प्रत्युत पूर्वसिद्ध अर्थका ही बोधक)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वात्। नाऽपि ज्ञाता; शक्तेः कार्यैकसमधिगम्यत्वेन स्मृत्युत्पत्तिशक्तिज्ञानयोः परस्पराश्रयत्वात्। अथोच्यते--मध्यमवृद्धप्रवृत्त्या प्रवृत्तिहेतुज्ञानमनुमाय शब्दानन्तर्यात्तज्जनकत्वं शब्दस्य निश्चित्यावापोद्धाराभ्यां व्युत्पत्तिकाल एव शक्तिनिश्चयान्नान्योऽन्याश्रयतेति। तदापि किं शब्दमात्रे शक्तिनिश्चयः अर्थविशेषसंबद्धे वा? नाद्यः, अस्य

होनेसे स्मारकसे भिन्न नहीं है अर्थात् स्मारक ही है।

यदि स्मरणको जननशक्तिरूप सम्बन्ध मानो, तो वह भी सङ्गत नहीं है; क्योंकि इस पक्षमें अज्ञात होती हुई उक्त शक्ति स्मरणको उत्पन्न नहीं कर सकती, कारण कि ज्ञात ही शक्तिरूप कारणमें कार्यजननसामर्थ्य होती है। [ऐसा न मानने पर जिनको शक्तिग्रहण नहीं है; उनको भी पदश्रवणसे अर्थका बोध हो जायगा]। यदि ज्ञात शक्तिको स्मरणकी उत्पादिका मानो, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि शक्तिका कार्यके द्वारा ही परिज्ञान होनेसे स्मृतिकी उत्पत्ति और शक्ति इन दोनोंमें परस्पर अन्योन्याऽऽश्रय दोष हो जायगा। [आशय यह है कि जब स्मृतिका उदय हो, तब स्मृतिरूप कार्य 'कार्यमात्रं सकारणकम्' इस व्याप्तिके द्वारा अपनी कारणशक्तिका ग्रह करा सकेगा, और उक्त शक्तिका ज्ञान होनेपर ही स्मृतिकी उत्पत्ति हो सकती है, अतः अन्योऽन्याश्रय है।] उक्त दोषके वारणके लिए यदि कहा जाय कि [उत्तम वृद्धको 'गामानय' इस वाक्यके श्रवणके अनन्तर] मध्यम वृद्धकी (जिससे वह वाक्य काम करानेके अभिप्रायसे कहा गया है) प्रवृत्तिको देखकर प्रवृत्तिके कारण ज्ञानका [मध्यम वृद्ध उक्त वाक्यका अर्थ समझ गया और इस वाक्यका ऐसा ही अर्थ है अन्यथा ज्ञानके विना प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती इत्यादि तर्क द्वारा] अनुमान कर शब्दके आनन्तर्यसे (शब्दके श्रवणके अनन्तर तादृश अर्थज्ञानका उदय होनेसे) 'शब्द ही इस अर्थका जनक है' इस प्रकार शब्दकी अर्थजनकत्वरूप सामर्थ्यका निश्चय करके अवाप और उद्धारसे*

* जब प्रथम "गामानय" वाक्य सुना और मध्यमवृद्धके व्यवहारको देखा तब व्युत्पित्सु बालकने उक्त वाक्यका यही अर्थ है ऐसा निश्चय किया। तदनन्तर 'गां बधान' 'अश्वमानय' ऐसे वाक्य सुने और मध्यम वृद्धकी प्रवृत्ति भिन्न भिन्न प्रकारकी देखी बालकने विचार किया गो पद और आश्रय भिन्न भिन्न वाक्योंमें होते हुए भी समान है और अर्थकी भी अनुवृत्ति दिख रही है। इससे गोपदका सास्नालाङ्गूलादिमान् अर्थ है और आनयका दूर देशसे समीप देशमें लाना अर्थ है—इस प्रकारके अन्वय और व्यतिरेकसे प्रत्येक पदके अर्थके बोधक आवापोद्वापको आवापोद्धार कहते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दस्याऽयमर्थ इति नियमासिद्धिप्रसङ्गात्। द्वितीयेऽपि शक्तिसम्बन्धस्य व्यवस्थापकं संबन्धान्तरमेष्टव्यमित्यनवस्था स्यात्। शक्तिः स्वपरनिर्वाहिका इति चेत्, तथापि स्मृतिकाले किं शब्दमात्रदर्शनादर्थः स्मर्यते किं वाऽर्थगोचरशक्तिमच्छब्ददर्शनाद् उत शक्तिज्ञानजन्यसंस्काराच्छब्ददर्शनाच्च। नाद्यः, अनियमापत्तेः। न द्वितीयः, शब्ददर्शनसमय एवाऽर्थस्याऽपि दृष्टत्वेन शब्दजन्यस्मृतिवैयर्थ्यात्। न तृतीयः, तावता स्मृत्यसंभवात्। अन्यत्र

व्युत्पत्तिके समयमें ही शक्तिका निश्चय हो जायगा [स्मृतिरूप कार्यसे नहीं] अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं हो सकता। तब भी क्या शब्दमात्रमें शक्तिका निश्चय होता है? अथवा अर्थविशेषसे सम्बद्ध शब्दमें शक्तिका निश्चय होता है? यदि शब्दमात्रमें कहो, तो 'इस शब्दका यह अर्थ है' इस प्रकारके नियमकी सिद्धि नहीं बन सकेगी [क्योंकि आप तो अर्थविशेषसे असम्बद्ध शब्दमें ही शक्तिका निश्चय मानते हैं, तब नियम कैसे बनेगा]। अर्थविशेषसे सम्बद्ध शब्दमें ही शक्तिनिश्चय होता है, ऐसे द्वितीय पक्षमें भी तादृश शक्ति-सम्बन्धके व्यवस्थापक दूसरे सम्बन्धकी खोज करनी होगी, फिर उस सम्बन्धके व्यवस्थापक तीसरेका अन्वेषण करना होगा इत्यादि रीतिसे अनवस्था हो जायगी। यदि शक्ति अपनी और दूसरे सम्बन्धकी स्वयं व्यवस्थापिका है अर्थात् सम्बन्धान्तरकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहो, तो भी यह विकल्प उपस्थित होगा कि जिस समय स्मृति हो रही है, उस समय क्या शब्दमात्रके दर्शन (श्रवण) से अर्थका स्मरण होता है? या अर्थको विषय करनेवाले शक्ति-शाली शब्दसे? अथवा शक्तिज्ञानसे उत्पन्न संस्कार और शब्ददर्शन दोनोंसे? इनमें पहला पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि अनियमकी आपत्ति होगी। [यदि सामान्य शब्दश्रवणसे ही अर्थका स्मरण हो जाता है, तो प्रत्येक शब्दसे प्रत्येक अर्थका स्मरण हो जाना चाहिए। अमुक शब्दसे अमुक अर्थका ही स्मरण होता है, ऐसा नियम नहीं बनना चाहिए] दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि शब्ददर्शनके समयमें ही अर्थका भी ज्ञान हो ही जायगा, ऐसी अवस्थामें अर्थज्ञानके लिए मानी गई शब्द द्वारा अर्थकी स्मृतिका वैयर्थ्य हो जायगा। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इतना माननेपर भी स्मृतिका होना सम्भव नहीं है, कारण कि अन्य स्थलों (शुक्ति-रजत आदि)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मारकस्मार्ययोः सादृश्यविरोधिकार्यकारणभावादिसम्बन्धान्तरनियमात् शब्दार्थयोस्तदभावात्। तस्मात् पदानि स्मारकाणि, वाक्यं पुनः प्रमाणमित्येतद्वेदवादिनां प्रक्रियामात्रमिति।

अत्रोच्यते—शब्ददर्शनात् शक्तिसंस्काराच्चाऽर्थस्मृतौ न कश्चिद्दोषः। यदुक्तमन्यत्रेत्यादिना तदसत्। किमन्यत्रैव शब्देऽपि सादृश्यादिकमभ्युपेयमित्युच्यते किं वा शब्दवदन्यत्रापि शक्तिरेवाऽस्तु मा भूत्सादृश्यादिकमिति किं वा शब्दे सादृश्यादिकमूलसम्बन्धाभावात् सत्यामपि शक्तौ न स्मृतिजनकत्वमिति। नाद्यः, शब्दे सादृश्यादर्शनाद्, अदृष्टस्य च कल्पने गौरवात्। अन्यत्र तु दृष्टत्वेनाऽकल्पनीयत्वात्। न द्वितीयः, अनुभूयमानस्याऽ-

---

में स्मारक और स्मार्यमें सादृश्यके विरोधी कार्य-कारणभाव आदि सम्बन्धान्तरोंके रहनेका नियम है, अर्थात् उपरोक्त सम्बन्धोंमें से जब कोई भी एक सम्बन्ध रहेगा, तभी स्मार्यस्मारकभाव होगा [जैसे कि शुक्ति-रजतमें सादृश्य, रामार्जुनमें विरोध, और राम-दशरथमें जन्यजनकभावसे एक दूसरेका स्मरण होता है इत्यादि।] इस प्रकार शब्द और अर्थमें उपरोक्त कोई अन्य सम्बन्ध नहीं है, अतः शब्द और शब्दार्थमें स्मार्यस्मारकभाव न बन सकनेसे पद स्मारक होते हैं और वाक्य प्रमाण है, यह वेदवादी मीमांसकोंकी प्रक्रिया अपनी परिभाषामात्र ही है। इतना बौद्धकी ओरसे 'पद पदार्थका स्मारक है' इस मतमें पूर्वपक्ष हुआ।

इस पूर्वपक्षका उत्तर दिया जाता है। शब्दके साक्षात्कार और शक्तिसंस्कार—इन दोनोंसे अर्थकी स्मृति होनेमें कोई बाधा नहीं है। 'अन्य स्थलोंमें सादृश्य आदि सम्बन्ध ही स्मारक हैं' इत्यादि पूर्वोक्त नियम भी अयुक्त है, क्या अन्य स्थलोंकी भाँति शब्दस्थलमें भी सादृश्य आदि सम्बन्धोंका स्वीकार करना चाहिए? या शब्दस्थलकी भाँति अन्य स्थलोंमें भी शक्तिका ही स्वीकार करना चाहिए? सादृश्यादि सम्बन्धोंका स्वीकार नहीं करना चाहिए? अथवा शक्ति रहते हुए भी सादृश्य आदि मूल सम्बन्धोंके न रहनेसे शब्द स्मृतिका उत्पादक नहीं हो सकता? इसमें प्रथम पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि शब्दस्थलमें सादृश्य नहीं पाया जाता है और नूतन 'अदृष्ट' की कल्पना करनेमें गौरव है। अन्य स्थलोंमें तो सादृश्य आदि दृष्ट (अनुभूत) हैं, अतः नवीन कल्पना नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पलापायोगात् । न तृतीयः, शक्तस्य कार्याजनकत्वे व्याघातापत्तेः । तस्माच्छक्तिमन्ति पदानि अर्थेषु स्मृतिं जनयन्त्येव । नहि तत्रार्थैः सह पूर्वानुभवाः स्मर्यन्ते । अन्यथा घटादिवदनुभवानामपि तत्तच्छब्दार्थत्वं प्रसज्येत ।

नाऽपि पञ्चमः, कारणविषयाद्युपाधिमन्तरेण ज्ञानानां स्वरूपेषु क्वापि विशेषानुपलम्भात् । नाऽपि षष्ठसप्तमौ, अनुभवगताभ्यां ज्ञेयफलाभ्यामतिरिक्तज्ञेयफलयोः स्मृतावभावात् । नाऽप्यष्टमः, स्मरामीत्यस्याऽनुभवस्याऽन्य-

---

होती है, (अतः कुछ गौरव नहीं है)। द्वितीय विकल्प भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि जिस वस्तुका अनुभव हो रहा हो, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता, अर्थात् अन्य स्थलोंमें अनुभवसिद्ध सादृश्य आदि सम्बन्धोंका शब्ददृष्टान्तसे निषेध नहीं कर सकते । तीसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'शक्तिके रहते यदि कार्य नहीं हो तो व्याघात दोष होता है। 'यदि शक्ति हो तो कार्य अवश्य होता है' ऐसा नियम है, शक्ति रहते कार्य नहीं होता, ऐसा कहना तो 'मुझमें बोलनेकी सामर्थ्य नहीं है' इस कथनके तुल्य विरुद्ध है। ('शब्दका अर्थके साथ अर्थबोधजननरूप शक्ति ही सम्बन्ध है, उसका ग्रह व्युत्पत्तिकालमें व्यवहार-दर्शनसे हो जानेपर अन्य समयमें भी शब्द साक्षात्कारसे निरुक्त शक्तिसंस्कारके उद्बुद्ध होते ही शब्दसम्बन्धी अर्थका स्मरण हो जाता है' यह उक्त समाधानका सरल तात्पर्यार्थ है)। इससे शक्तिशाली पद अर्थविषयक स्मृति उत्पन्न करते ही हैं, यह सिद्ध हुआ। पदार्थमात्रकी स्मृतिमें अर्थोंके साथ-साथ पूर्व अनुभव (व्यवसाय) भी विषय नहीं होते। यदि पूर्व अनुभव भी स्मृतिके विषय मान लिये जायँ, तो जैसे घट पदका अर्थ घट (कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ) है, वैसे ही ज्ञानको भी घटादि पदका अर्थ मानना होगा। [इससे 'स्मृति विवेचक नहीं हो सकती है' इसमें आपने जो (पूर्वानुभवविशिष्ट अर्थका ग्रहण स्मरणाभिमानरूप) चतुर्थ विकल्प किया है, वह उपपन्न नहीं हो सका] पांचवाँ विकल्प (अपनेमें कोई एक विशेष) भी नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानोंके स्वतः निराकार होनेसे उनमें कारण या विषय आदि उपाधिके सम्पर्कके बिना स्वयं कोई विशेष उपलब्ध नहीं हो सकता। छठा और सातवां पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभवके ज्ञेय (विषय) तथा फल (प्रकटता आदि) से अतिरिक्त स्मरणका कोई ज्ञेय या फल नहीं है। आठवाँ पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्मरामि' (स्मरण करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अ विवेचकत्वे सिद्धे सति अत्र कथंचित् प्रमोपादविवेचक इति वक्तुं शक्येतापि । तदेव तावदसिद्धम् । ग्रहणवाचकशब्दपरित्यागेन स्मरणवाचकशब्दानुविद्धो ह्ययमनुभवो जायते । स कथं प्रथमतो ग्रहणस्मरणयोरसति विवेके सम्भवेत् ? तथा च विवेके सत्यनुभवः अनुभवे च सति विवेक इति स्यादन्योन्याश्रयता । तदित्थं प्रमोषणीयस्य स्मरणाभिमानस्य दुर्भणत्वात् स्मरणस्य विवेचकत्वं प्राप्नोत्येव ।

हूँ) यह स्मरणाभिमानरूप ज्ञान यदि भ्रमसे अन्य स्थलमें विवेचक (भेदक) सिद्ध हो, तो यहां (भ्रमस्थलमें) किसी प्रकार (दोष विशेषादि) से उसका प्रयोग होनेसे वह अविवेचक है, ऐसा कहना किसी प्रकार बन सकता है। परन्तु ऐसा तो है नहीं, अर्थात् स्मरण करता हूँ, यह ज्ञान कहींपर भी विवेचक नहीं है। 'स्मरामि' (स्मरण करता हूँ) यह अनुभव तो ग्रहण (अनुभव) वाचक शब्दके परित्यागसे और स्मरणवाचक शब्दके (स्मृधातुके) योगसे होता है। यदि ग्रहण और स्मरणमें उक्त अनुभव होनेके पूर्व ही भेदका (विवेकका) ग्रहण नहीं हुआ हो तो वही—'स्मरामि' (स्मरण करता हूँ) ऐसा अनुभव ही—कैसे हो सकेगा, इसके विपरीत यदि—'स्मरामि' अनुभव होनेपर ही विवेक मानो, तो विवेक होनेपर अनुभव और अनुभव होनेपर विवेक इस प्रकार अन्योन्याश्रय हो जायगा। (जैसे सास्नालाङ्गूलादिविशिष्ट आकृतिमें एकशफादि आकृतिसे स्वतःसिद्धभेदमूलक 'गौ' इत्यादि व्यवहार होता है एवं स्मरण और अनुभवमें स्वतःसिद्धभेदमूलक ही 'स्मरामि' अनुभव है, न कि यह अनुभव स्वयं भेदक है। ऐसा प्रतिपक्षी वेदान्तीका सरल तात्पर्यार्थ हुआ। इसलिए इस पूर्वोक्त रीतिसे अपलापयोग्य उस स्मरणाभिमानका निरूपण नहीं बन सकता है, अतः स्मरणमें विवेचकत्व सुतरां प्राप्त हो जाता है।

मीमांसक पुनः पूर्वपक्ष करता है—अनुभव और स्मरण यदि दोनोंमें घट, पट आदि अर्थमात्र विषय होते हैं, तो इसमें परस्पर भेद कैसे होगा ? इसलिए भेदकी प्रतीति उपपन्न करनेके लिए आपको (वेदान्तीको) भी स्मरणमें पूर्वानुभवविशिष्ट अर्थविषय होता है, ऐसा अवश्य मानना ही होगा, यही हमारा स्मरणाभिमान होगा। (तब उसके दोषवशात् प्रमुषित होनेसे स्मरण विवेचक नहीं हो सकता)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ननु ग्रहणस्मरणयोरर्थमात्रविषयत्वे भेदाभावप्रसङ्गेनाऽवश्यं त्वयाऽपि स्मृतेः पूर्वानुभवविशिष्टार्थविषयत्वं स्वीकार्यं तदेव स्मरणाभिमानोऽस्त्विति चेद्, नः कारणविशेषादेव भेदसिद्धेः। अन्यथा त्वन्मतेऽपि पूर्वानुभवगोचरानुमानज्ञानात् स्मृतेः को भेदः स्याद्? विषयस्य समत्वात्। ननु स इत्याकारेण स्मृतिर्ज्ञानानुमानाद्भिद्यत इति चेत्, कोऽयं स इत्याकारः; किं परोक्षदेशकालादिविशिष्टता उत पूर्वानुभवसंभिन्नता किं वा संस्कारजन्यत्वम्? नाद्यः, अनुमानादिष्वपि स्मृतित्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, ज्ञानानुमानेऽपि प्रसङ्गात्। तृतीये तु कारणविशेष एव भेदहेतुः स्यात्।

अस्तु तर्हि प्रकृतेऽपि संस्कारजन्यैव रजतस्मृतिरिति चेद्, नः रजतस्य

उत्तर देते हैं—नहीं (उपर्युक्त भेद नहीं है) कारणविशेषसे ही भेदकी सिद्धि होती है। (स्मृतिका कारण संस्कार है और अनुभवका इन्द्रिय-संप्रयोग आदि कारण है, अतएव उनका भेद है, यह भाव है)। यदि कारणविशेष द्वारा भेद न मानो, तो पूर्वानुभवको विषय करनेवाले अनुमान और स्मृतिमें तुम्हारे मतमें भी क्या भेद होगा? क्योंकि दोनों स्थलोंमें पूर्वानुभव-विशिष्ट अर्थ समान है। स्मृतिमें 'सः' (वह) ऐसा आकार होता है, वही आकार व्यवसायविषयक ज्ञानानुमानसे स्मृतिका भेद करता है, ऐसा यदि आप कहें, तो बतलाइए 'सः' यह आकार परोक्ष देशकालादिके सम्बन्धका सूचक है? या पूर्व अनुभवके सम्पर्कका बोधक है अथवा संस्कारसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा अवगम कराता है? पहला पक्ष नहीं कह सकते। अनुमान आदि ज्ञानोंमें भी स्मृतिलक्षणकी अतिव्याप्ति हो जायगी (इन ज्ञानोंमें भी परोक्ष देश, काल आदिका सम्बन्ध रहता है)। द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि ज्ञानानुमानमें भी प्रसङ्ग हो जायगा (उसमें भी व्यवसायका सम्बन्ध रहता है)। तीसरा पक्ष माननेमें तो कारणविशेष ही भेदका कारण निश्चित होगा।

यदि स्मृति और अनुभवमें कारणविशेष संस्कार ही भेदक है, तो भ्रममें भी संस्कार ही स्मृति उत्पन्न करेगा, इस आशयसे मीमांसक शङ्का करता है—'प्रकृतमें (भ्रमस्थलमें) भी संस्कार द्वारा उत्पन्न हुई रजतकी स्मृति ही है।'

समाधान—ऐसा ठीक नहीं है, (भ्रमस्थलमें भी रजत सामने स्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरोवस्थितत्वेन प्रतिभासादित्युक्तोत्तरत्वात् । न च पुरोवस्थितत्वमविवेककृतमिति वक्तुं शक्यम्, अविवेकस्य भ्रमं प्रति अप्रयोजकत्वात् । तथा हि—किं गृह्यमाणयोरविवेकः किं वा गृह्यमाणस्मर्यमाणयोरुत स्मर्यमाणयोः? नाद्यः, स्वप्नदशायामात्मव्यतिरिक्तस्य कस्याप्यग्रहणेन द्वयोर्गृह्यमाणयोरभावे तदविवेकस्य भ्रमप्रयोजकस्याप्यभावेन भ्रमाभावप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, स्वप्न एव गृह्यमाणेनात्मना स्मर्यमाणस्य नीलादेरविवेके सत्यहं

है, ऐसा प्रतिभासित होता है, यह उत्तर पहले ही दिया जा चुका है (स्मरण-विषयकी सामने अवस्थिति नहीं हो सकती)। रजत (भ्रमविषयकी सामने अवस्थिति अविवेकसे मालूम होती है, वस्तुतः सामने नहीं है) ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि भ्रमके प्रति अविवेक प्रयोजक नहीं है। (ऐसा कोई नियम नहीं है कि अविवेकसे ही भ्रम हो), अविवेककी भ्रमप्रयोजकताका निरास करते हैं—देखिए, क्या अनुभवमें आनेवाले ही दो पदार्थोंका अविवेक भ्रमप्रयोजक है? अथवा अनुभवविषय और स्मरणविषयका अविवेक भ्रमप्रयोजक है? या स्मरणके विषयभूत दो पदार्थोंका अविवेक भ्रम प्रयोजक है? इनमें पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि स्वप्न अवस्थामें आत्मासे अतिरिक्त किसी भी पदार्थका ग्रहण नहीं होता है, अतः उसमें अनुभवके विषयभूत दो पदार्थोंका अभाव होनेसे उनका अविवेकरूप भ्रमका प्रयोजक भी नहीं है, इससे स्वाप्न पदार्थ भ्रमविषय नहीं कहे जा सकेंगे। द्वितीय विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्वप्नमें ही अनुभवके विषयीभूत आत्माके साथ स्मरणविषय नीलादिका अविवेक होनेपर 'अहं नीलः' (मैं नील हूँ) इस प्रकारका प्रतिभास प्रसक्त होगा। स्वप्नदशामें अहं* प्रतिभास जागरके तुल्य ही है। वही आत्मा है, वह तो स्वप्नमें सत्य ही है, इतर पदार्थ काल्पनिक होनेसे अहमात्मक आत्मामें ही अध्यस्त हैं, अतः आत्मासे भिन्न कोई भी पदार्थ अनुभवका विषय नहीं है। जो भासित होता है, वह मीमांसकमतमें स्मरण-विषय है, इसमें गृह्यमाण दो पदार्थोंके न होनेसे पूर्वपक्षका खण्डन तथा अनुभूयमान आत्मा और स्मर्यमाण

* यद्यपि यह भी वेदान्तीके मतमें भ्रम ही है, तथापि अन्य वादीसे सम्प्रतिपन्न जागर-तुल्यताको लेकर अहंप्रतिभास ही आत्मप्रतिभास है और वह जागरतुल्य सत्य है, ऐसा मानकर प्रश्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीलमिति प्रतिभासप्रसङ्गात्। तृतीये तु परोक्षमेव सर्वं भ्रान्तावभासेत, सर्वस्याऽपि स्मर्यमाणत्वात्। एवं च सति प्रकृतस्य पुरोवस्थितरजतज्ञानस्य स्मृतित्वानुमाने परोक्षावभासित्वोपाधिर्द्रष्टव्यः।

यथार्थानुमानस्य चाऽयं प्रतिप्रयोगः। विवादाध्यासिताः प्रत्यया न यथार्थाः, बाध्यमानत्वाद्, भ्रान्तिव्यवहारवत् इति। तस्माद् ज्ञानद्वैराश्य-दुराग्रहं परित्यज्य तृतीयं भ्रान्तिज्ञानमङ्गीकर्तव्यम्।

ननु तर्हि मा भूदख्यातिः; अस्त्वन्यथाख्यातिः; देशकालान्तरगतं

(मीमांसक रीतिसे) नीलादिका अविवेक होनेसे दूसरे पक्षका खण्डन हुआ।) तीसरा पक्ष मान लेनेसे तो भ्रममें सब पदार्थ परोक्ष ही भासित होंगे, क्योंकि सभी तो स्मरणके विषय हैं। [यदि सभी स्मर्यमाणोंका अविवेक ही भ्रम-प्रयोजक है, तो स्मर्यमाण सभी परोक्ष होते हैं, इससे उन सबका भेदग्रह नहीं हुआ, अतः सब भ्रममें भासित होनेवाले पदार्थ परोक्ष ही होंगे। तब 'इदं रजतम्' (यह रजत है) ऐसा प्रत्यक्षावभासका सूचक इदमादि शब्दोंसे अभि-लाप नहीं बनेगा, यह तात्पर्य है]। इस प्रकारके निर्णयसे सिद्ध हुआ कि मीमांसकोंका पूर्वोक्त रजतज्ञान भी अध्यास नहीं है, किन्तु स्मृति है इत्यादि पृष्ठ संख्या ९९ में कहे गये अनुमानमें परोक्षत्वावभासित्व उपाधि लगानी चाहिए। (इससे उक्त अनुमान दूषित हुआ) एवं सभी ज्ञान यथार्थ ज्ञान हैं इत्यादि पृ० संख्या ९८ में प्रतिपादित अनुमानका प्रतिपक्षी अनुमानप्रयोग इस प्रकार करना चाहिए—विवादयुक्त (भ्रमादि) ज्ञान यथार्थ नहीं हैं, बाधके विषय होनेसे, भ्रान्तिसे उत्पन्न *व्यवहारके समान। अतः मीमांसकको ज्ञानके केवल ग्रहण और स्मरण दो ही राशियाँ हैं, ऐसा दुराग्रह छोड़कर तीसरा भ्रमज्ञान मानना ही चाहिए। इससे मीमांसकसंमत भ्रमविषयक अख्यातिवादका खण्डन हुआ।

अब नैयायिक सम्मत अन्यथाख्यातिवादका निराकरण करनेके लिए शङ्का करते हैं—(स्मरणाभिमानके प्रमोषके उपपन्न न हो सकनेसे) भ्रम भले ही अख्याति न हो, परन्तु अन्यथाख्याति तो हो सकता है। काच आदि दोषोंसे दूषित

* यद्यपि भ्रममें विवाद ही हैं कि वह यथार्थ है या अयथार्थ। परन्तु तज्जनित 'इदं रजतम्' इत्यादि शब्दाभिलापरूप व्यवहार और रजतार्थीके प्रवृत्तिरूप व्यवहारका अयथार्थत्वरूप बाधि-तत्व सबको ही सम्प्रतिपन्न है, अतः व्यवहारके समान, यह दृष्टान्त दिया गया है, यह भाव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हि रजतं शुक्तिसंप्रयुक्तेन दोषोपहितेन्द्रियेण शुक्त्यात्मना गृह्यते। न चैवमननुभूतस्याऽपि ग्रहणप्रसङ्गः, सादृश्यादेर्नियामकत्वादिति; तदेतदसत्, किं ज्ञानेऽन्यथात्वं किं वा फले उत वस्तुनि ? नाऽऽद्यः, रजताकारज्ञानं शुक्तिमालम्बत इति हि ज्ञानेऽन्यथात्वं वाच्यम्। तत्र शुक्तेरालम्बनत्वं नाम किं ज्ञानं प्रति स्वाकारसमर्पकत्वम् ? उत ज्ञानप्रयुक्तव्यवहारविषयत्वम् ? नाऽऽद्यः, रजताकारग्रस्तं ज्ञानं प्रति शुक्त्याकारसमर्पणासंभवात्। न द्वितीयः, व्याघ्रादिदर्शनप्रयुक्तव्यवहारविषयस्य खड्गकुन्तधनुरादेर्व्याघ्रादिज्ञानालम्बन-

---

इन्द्रियका शुक्तिसे सम्पर्क होनेपर दूसरे देश (आपण आदि) तथा दूसरे कालमें विद्यमान रजत एतद्देशकालगत) शुक्तिरूपसे (शुक्तिके साथ अभेदेन) गृहीत होता है। यदि अन्य देशकालगतका भी दोषसे अन्यत्र अन्यात्मना भान हो सकता है, तो जिस पदार्थका कभी भी अनुभव नहीं हुआ है, उसका भी ग्रहण हो जाना चाहिए, इस प्रकारका अतिप्रसङ्ग नहीं दे सकते, क्योंकि अन्यथाभान होनेमें सादृश्य आदिका ज्ञान नियामक है। (अननुभूतमें सादृश्यज्ञान नहीं होता है। आदि पदसे काचादि दोषका समवधान लेना चाहिए। इस शङ्काका खण्डन करते हैं—यह (अन्यथाख्याति) कहना उचित नहीं है। आप जिस पदको अन्यथाख्याति कहते हैं, उस पदसे तीन प्रकारके अन्यथात्वका भान हो सकता है—एक ज्ञानका अन्यथात्व, दूसरा ज्ञानके फल प्रकटता अथवा अनुव्यवसाय में अन्यथात्व, तीसरा ज्ञान विषयका अन्यथात्व। आप किसमें अन्यथात्व मानते हैं ? इस आशयसे विकल्प करते हैं—क्या ज्ञानमें अन्यथात्व मानते हो ? अथवा फलमें ? या वस्तुमें (ज्ञानविषयमें) ? पहला पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि रजताकार ज्ञान हो और उसका आलम्बन शुक्ति हो, ऐसा ही अन्यथात्व ज्ञानमें कहना होगा, उसमें शुक्तिका आलम्बनत्व क्या पदार्थ है ? इस जिज्ञासाके उत्तरमें ज्ञानको अपना आकार समर्पण करना ? अथवा ज्ञानजनित व्यवहारका (शब्दाभिलाप अथवा हानोपादानरूप प्रवृत्तिका) विषय होना आलम्बनत्व है ? इन दोनोंमें से एकको ही आप कहेंगे। इनमें प्रथम पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि जो रजताकारसे घिरा हुआ है, उस ज्ञानको शुक्ति अपना आकार दे सकती है यह असम्भव है। द्वितीय विकल्प भी नहीं हो सकता, क्योंकि व्याघ्र आदिके (हिंस्रक जन्तुके) दर्शन—साक्षत्कारात्मक ज्ञान—होनेसे किये गये प्रहार आदि व्यवहारके विषय खड्ग,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वप्रसङ्गात् । नाऽपि फलेऽन्यथात्वम्, फलस्य स्फुरणस्य भ्रान्तौ सम्यग्ज्ञाने वा स्वरूपतो वैषम्यादर्शनात् । वस्तुन्यपि कथमन्यथात्वम् ? किं शुक्तिकाया रजततादात्म्यं किं वा रजताकारेण परिणामः ? आद्येऽपि किं शुक्तिरजतयोरत्यन्तं भेदः किं वा भेदाभेदौ ? नाऽऽद्यः, अत्यन्तभिन्नयोर्वास्तवतादात्म्यासम्भवात् ; अनिर्वचनीयत्वस्य त्वयाऽनभ्युपगमात् । शून्यतादात्म्यप्रतीतौ गुणगुण्यादावपि तत्संभवेन भ्रान्तित्वं दुर्वारम्, समवायस्य प्रक्रियामात्रसिद्धस्य तादात्म्यानतिरेकात् । भेदाभेदपक्षे तु खण्डो गौरिति-

---

भाला, धनुष आदि प्रहारसाधन व्याघ्रादिज्ञानके विषय हो जायँगे । और फलमें भी अन्यथात्व नहीं बन सकता, क्योंकि स्फुरणरूप फलका (प्रकटतारूप माननेसे जो वस्तुनिष्ठ होता है अथवा अनुव्यवसायात्मक ज्ञानरूप माननेसे आत्मनिष्ठ होता है: उसका) भ्रान्तिज्ञानमें अथवा सम्यक्ज्ञानमें स्वरूपतः कोई वैषम्य (भेद) नहीं देखा जाता । तीसरे पक्षमें कहा गया वस्तुमें अन्यथात्व क्या शुक्तिका रजतके साथ तादात्म्य (अभेद) है ? या शुक्तिका रजतके आकारसे परिणाम है ? यदि प्रथम पक्ष मानते हो, तो क्या शुक्ति और रजतका अत्यन्त भेद मानते हो ? या भेदाऽभेद ? अन्त्यन्त भेद मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अत्यन्त भिन्न पदार्थोंका वास्तविक तादात्म्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि अनिर्वचनीय (मिथ्या) पदार्थका आप स्वीकार करते ही नहीं हैं । [यदि अनिर्वचनीय पदार्थका स्वीकार किये बिना ही अवास्तविक तादात्म्य माना जाय, तो तादात्म्यके असत् हो जानेसे वन्ध्यापुत्र आदिकी भाँति अपरोक्षरूपसे उसका प्रतिभास नहीं हो सकता । किंच, सामान्य, विशेष, गुण और गुणियोंका तादात्म्य भी असत् हो जानेसे भ्रम कहलाएगा, इस आशयसे कहते हैं—] शून्यतादात्म्यकी प्रतीति माननेपर गुणगुण्यादि स्थलमें भी (अत्यन्तभेदवादीके मतमें) अवास्तव तादात्म्यका सम्भव होनेसे भ्रान्तिका प्रसङ्ग नहीं हटाया जा सकता । अपनी प्रक्रियासे—परिभाषामात्रसे—सिद्ध समवाय तो तादात्म्यसे अतिरिक्त नहीं है । ['नीलो गौः' इत्यादि गुणगुणिभावस्थलमें सामानाधिकरण्यप्रतीतिका आलम्बन तादात्म्य नहीं है, किन्तु समवाय है, और वह समवाय सत् ही है, इससे शून्य संसर्ग नहीं है, इस पूर्वपक्षके उत्तरमें समवाय तादात्म्यसे अतिरिक्त कहा गया है, यह भाव है] । दूसरे भेदाऽभेदपक्षमें तो 'खण्डो गौः' आदि खण्डनामात्मक गुणविशिष्ट सामान्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वदभ्रान्तिः स्यात्। परिणामपक्षेऽपि बाधो न स्यात्—विमतं रजतज्ञानमबाध्यम्, परिणामज्ञानत्वात्, क्षीरपरिणामदधिज्ञानवत्। ततः क्षीरवदेव शुक्तिः पुनर्न दृश्येत। ननु कमलस्य विकाशरूपपरिणामहेतोः सूर्यतेजसोऽपगमे पुनर्मुकुलीभाववद्रजतपरिणामहेतोर्दोषस्याऽपगमे पुनः शुक्तिभावोऽस्तु, मैवम्; विकसितमेव मुकुलमासीदितिवद्रजतमेव शुक्तिरासीदिति प्रतीत्यभावात्। कथंचित्तद्भावेऽपि न परिणामपक्षो युक्तः, निर्दोषस्याऽपि रजतप्रतीतिप्रसङ्गात्। नह्येकमेव क्षीरं दधिरूपेण कंचित्पुरुषं प्रति परिणतमन्यं प्रति नेति दृष्टचरम्। तस्मान्नाऽन्यथाख्यातिः सुनिरूपा।

विशेषभाव स्थलकी नाईं 'इदं रजतम्' यह प्रतीति भी भ्रम नहीं होगी। यदि परिणामपक्ष माना जाय, तो उसका बाध नहीं होगा, क्योंकि इसमें अनुमान होगा कि 'विमत (भ्रमात्मक) रजतज्ञान बाध्य नहीं है, परिणामज्ञान होनेसे, दूधके परिणामभूत दधिके ज्ञानकी तरह। तब तो (ऐसा माननेसे) दूधकी भाँति (जैसे दधिरूपमें परिणत होनेपर दूधका दर्शन नहीं होता, वैसे ही) शुक्तिका पुनः दर्शन ही नहीं होगा ? [परिणाम होनेपर भी कारणकी निवृत्ति होनेसे परिणामीके दर्शनका दृष्टान्त द्वारा वादी समर्थन करता है]—जैसे कमलके विकासरूप परिणामके कारणभूत सूर्यप्रकाशके अस्त होनेपर फिर कमलका मुकुलीभाव (बंधी हुई कलीका रूप) देखा जाता है, वैसे ही रजतरूप परिणामके कारण काच आदि दोषोंके निकल जानेपर पुनः शुक्तिका रूप देखा जा सकता है। उत्तर देते हैं—ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे खिला हुआ ही कमल बँधी हुई कलीके रूपमें हो गया है, वैसे ही रजत ही शुक्तिकाके रूपमें हो गया है, ऐसी प्रतीतिका अभाव है (इससे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें अत्यन्त वैषम्य हो गया)। कथंचित् (तुष्यतु दुर्जनन्यायसे) तादृश प्रतीतिका सद्भाव मान भी लिया जाय, तो भी परिणाम पक्ष युक्तिसंगत नहीं है; कारण कि जिस पुरुषके नेत्रोंमें काचादि दोष नहीं हैं, उसको भी रजतभ्रम होना चाहिए। एक ही (वही) दूध किसी-किसी पुरुषके लिए तो दधिरूपसे परिणत हो जाय और किसी-किसी के प्रति न हो, ऐसा अब तक कहीं देखा या सुना नहीं गया है। इसलिए अन्यथाख्यातिका भी निरूपण करना नहीं बन सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तु तर्ह्यात्मख्यातिः—विमतं रजतं बुद्धिरूपम्, संप्रयोगमन्तरेणाऽपरोक्षत्वाद्, बुद्धिवत्। ननु चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य चित्तचैत्या उत्पद्यन्त इति हि सौगतानां मतम्। तत्र न तावत् सहकारिप्रत्ययाख्यादालोकादे रजताकारोदयः संभवति, तस्य स्पष्टतामात्रहेतुत्वात्। नाऽप्यधिपतिप्रत्ययाख्यात् चक्षुरादेः, तस्य विषयनियममात्रहेतुत्वात्। नाऽपि समनन्तरप्रत्ययाख्यात् पूर्वज्ञानात्; विजातीयघटज्ञानानन्तरं विजातीयरजतभ्रमोदयदर्शनात्। नाऽप्यालम्बनप्रत्ययाख्याद्बाह्यात्, विज्ञानवादिना तदनङ्गीकारात्।

अच्छा तो भ्रम आत्मख्याति ही मान लिया जाय, [यद्यपि पूर्वोक्त दूषणोंसे शुक्तिकाका रजताकारमें परिणाम नहीं बन सकता, तथापि दोषदूषित इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ ही चाक्षुषादि ज्ञान रजतादिरूपसे परिणत हो सकता है, ऐसा अन्यथाख्यातिको माननेवाले कुछ आचार्य मानते हैं, उनके मतका अथवा विज्ञानवादीके मतका खण्डन करनेके लिए आत्मख्याति मानकर यह पूर्वपक्ष किया गया है।] क्योंकि विमत (भ्रमविषय) रजत बुद्धिरूप है, इन्द्रियसन्निकर्षके बिना अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होनेसे, बुद्धिके समान, इस प्रकार अनुमान हो सकता है।

शङ्का—चार प्रकारके (सहकारी प्रत्यय १, अधिपति प्रत्यय २, समनन्तर प्रत्यय ३ और आलम्बन प्रत्यय ४ इस प्रकारके चार) हेतुओंकी अपेक्षा करके चित्त और चैत्य (ज्ञान और ज्ञानके विषय सुख-दुःख) उत्पन्न होते हैं, ऐसा बौद्ध लोग मानते हैं। परन्तु इन चारोंमें सहकारी प्रत्ययके नामसे पुकारे जानेवाले आलोक आदिसे रजतके आकारका उदय नहीं हो सकता, क्योंकि आलोक आदि तो स्पष्टतामात्रके प्रति ही हेतु हैं। अधिपति प्रत्ययसे अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियोंसे भी रजताकार नहीं बन सकता, क्योंकि चक्षुरादि तो केवल विषयके नियममात्रके हेतु हैं। [अर्थात् उत्पन्न हुए रसादिज्ञानमें रसादिविषयमात्रका नियमन ही चक्षुरादि अधिपति प्रत्यय करते हैं, नवीन आकारके उत्पादक नहीं हैं]। समनन्तर प्रत्यय नामक पूर्वज्ञानसे भी रजताकार नहीं होता, क्योंकि विजातीय घटज्ञानके अनन्तर विजातीय रजतभ्रमका उदय देखा जाता है। [समनन्तर प्रत्यय केवल सजातीय उत्तरज्ञानमात्र कहलाता है, विजातीय ज्ञानकी उत्पत्ति करानेमें उसकी सामर्थ्य नहीं है]। आलम्बन प्रत्यय नामक बाह्य पदार्थसे भी नहीं कह सकते, क्योंकि जब विज्ञानवादीके मतमें बाह्य पदार्थका स्वीकार ही नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ततः कथं विज्ञानस्य रजतकार इति चेत्, संस्कारसामर्थ्यादिति ब्रूमः। ननु संस्कारस्याऽपि स्थायित्वे क्षणिकं सर्वमिति सिद्धान्तहानिः। क्षणिकत्वेऽपि तस्य ज्ञेयत्वेन विज्ञानमात्रवादहानिरिति चेद्, न; अनादिसिद्धज्ञानसन्ततौ यदा कदाचित्पूर्वं रजतज्ञानमुत्पन्नं तदेव संस्कार इत्यङ्गीकारात्। यद्यपि संस्कारो विजातीयानेकज्ञानव्यवहितस्तथापि कदाचित्सजातीयं रजतज्ञानान्तरमुत्पादयति। यथा व्रीहिबीजमनेकाङ्कुरादिकार्यव्यवधानेन पुनः सजातीयबीजान्तरमुत्पादयति तद्वत्। अथ न पूर्वबीजादुत्तरबीजोत्पत्तिः, किन्तु पूर्वबीजजन्याङ्कुरादिसन्तानादिति मन्यसे? तर्ह्यत्रापि पूर्वरजतज्ञानजन्यज्ञानसन्तान एव संस्कारोऽस्तु। एवं पूर्वरजतज्ञानमपि पूर्वरजतज्ञानादुत्पद्यते। ततोऽनादिवासनाप्रापितं रजतं बुद्धिरूपमेव सद् भ्रान्त्या बहिर्वदवभासते इति।

है, तब विज्ञानको रजतका आकार कैसे प्राप्त हो सकेगा? बौद्ध उक्त शङ्काका समाधान करता है कि संस्कारकी सामर्थ्यसे ही ज्ञान रजताकार होगा, ऐसा हम कहते हैं। वादी शङ्का करता है—यदि संस्कार फिर स्थायी माना जाय, तो 'सब क्षणिक ही हैं' ऐसी प्रतिज्ञा न बन सकनेसे आपके सिद्धान्तकी हानि होगी। यदि संस्कार भी क्षणिक ही माना जाय, तो वह भी ज्ञेय हो जायगा, इससे विज्ञानमात्रवादकी (विज्ञानसे इतर पदार्थ कुछ नहीं है इस मतकी) हानि होगी। बौद्ध समाधान देता है—नहीं, हानि नहीं होगी, अनादिसिद्ध ज्ञानसन्तानमें (बराबर चलनेवाली ज्ञानधारामें) किसी समय पूर्वमें उत्पन्न हुआ, रजतज्ञान ही संस्कार है, ऐसा अङ्गीकार किया गया है। यद्यपि संस्कार विजातीय घट, पट आदि विषयक अनेक ज्ञानोंसे व्यवहित हो गया है, तथापि कदाचित् (उत्पन्न पूर्वज्ञान) सजातीय दूसरे रजतज्ञानको उत्पन्न कर देता है। दृष्टान्त देते हैं—जैसे व्रीहिका बीज अनेक अङ्कुर आदि कार्योंके व्यवधान रहते भी सजातीय दूसरे व्रीहिबीजोंको उत्पन्न करता है, वैसे ही व्यवहित भी संस्कार सजातीय ज्ञान उत्पन्न कर सकता है। यदि पूर्व बीजसे उत्तर बीजकी उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु पूर्व बीजसे उत्पन्न हुए अङ्कुरादिकी परम्परासे बीजान्तरकी उत्पत्ति होती है, ऐसा मानते हो, तो प्रकृतमें भी पूर्व रजतज्ञानसे उत्पन्न ज्ञानपरम्पराको ही संस्कार समझ लीजिए। 'इस प्रकार प्रथम रजतज्ञान भी पूर्व रजतज्ञानसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अचोच्यते—किं तद्रजमलौकिकत्वाज्जन्मरहितम् उत लौकिकरजतवदेव जायते ? आद्ये जायमानज्ञानस्वरूपं न स्यात् । द्वितीयेऽपि किं बाह्यार्थाज्जायते उत ज्ञानात् ? नाऽऽद्यः; त्वया बाह्यार्थस्याऽनङ्गीकारात् । ज्ञानमपि विशुद्धं तावन्न जनकम् ; विशुद्धज्ञानस्य मोक्षरूपत्वात् । अथ दुष्टकारणजन्यज्ञानाद्रजतोत्पादः, तथाऽपि किं जनकप्रतीतिरेव रजतं गृह्णाति अन्या वा ? नाऽऽद्यः, क्षणिकयोर्जन्यजनकयोर्भिन्नकालीनत्वेनाऽपरोक्षरजतप्रतीत्यभावप्रसङ्गात् । अन्यप्रतीतिरपि न तावददुष्टकारणजन्या रजतग्राहिणी, अतिप्रसङ्गात् । दुष्टकारणजन्या अपि यदि रजतजन्या तदा रजतस्याऽर्थक्रिया-

---

उत्पन्न होता है । इससे अनादि वासनाके द्वारा उपस्थापित रजत ज्ञानरूप ही होता हुआ भ्रमसे बाहरके जैसा प्रतीत होता है ।

अब पूर्वोक्त पूर्वपक्षका उत्तर कहा जाता है—क्या वह रजत अलौकिक होनेसे जन्मरहित है ? या लौकिक रजतकी नाईं ही उत्पन्न होता है ? यदि जन्मरहित है, तो उत्पन्न होनेवाले ज्ञानका वह स्वरूप नहीं हो सकता । यदि जन्म माना जाय, तो उसका जन्म बाह्य अर्थसे होता है ? या ज्ञानसे ? पहला पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि बाह्य अर्थका तुम्हारे मतमें अङ्गीकार ही नहीं किया गया है । ज्ञानसे मानना भी नहीं बनता, क्योंकि विशुद्ध ज्ञान तो उत्पन्न करनेवाला हो ही नहीं सकता, क्योंकि विशुद्ध ज्ञान मोक्षरूप है । यदि दूषित कारणोंसे उत्पन्न ज्ञानसे रजतकी उत्पत्ति मानो, तो हम विकल्प करेंगे कि क्या रजतकी जनक प्रतीति ही रजतको ग्रहण करती है ? या दूसरी प्रतीति ? पहला विकल्प नहीं मान सकते, क्योंकि जन्य (उत्पन्न होनेवाला) और जनक (उत्पन्न करनेवाला) दोनों ही क्षणिक हैं, अतः उनके भिन्नकालिक होनेसे रजतकी प्रत्यक्ष प्रतीतिके अभावका प्रसङ्ग हो जायगा । [जिस कालमें जब तक जनककी प्रतीति है, तब तक जन्य उत्पन्न ही नहीं हुआ, इससे उस कालमें जन्यकी प्रतीति नहीं हो सकती और जन्यके उत्पन्न होनेपर क्षणिक जनककी प्रतीति जब विनष्ट हो गई, तब जनकप्रतीतिस्वरूप जन्यकी (रजतकी) प्रतीतिका प्रत्यक्ष कैसे होगा, यह भाव हुआ ।] दूसरी प्रतीति भी अदूषित (शुद्ध) कारणोंसे उत्पन्न होकर भ्रमविषय रजतको ग्रहण करानेवाली नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा माननेसे अतिप्रसङ्ग हो जायगा अर्थात् सभी यथार्थज्ञान भ्रमके उत्पादक हो जायंगे । दूषित कारणोंसे उत्पन्न प्रतीति भी यदि रजतसे उत्पन्न हुई है, तो रजतको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारित्वेन सत्त्वे सति बाह्योऽर्थोऽङ्गीकार्यः स्यात् । रजताजन्यत्वे तु न रजतं तद्विषयः स्यात् ; ज्ञानाकारार्पको हेतुर्विषय इत्यङ्गीकारात् । तस्मादात्मख्यातिपक्षे रजतमेव न प्रतीयेत ।

ननु तवाऽपि रजतज्ञानस्य स्मृतित्वे स्यादख्यातिर्ग्रहणत्वे चाऽन्यथाख्यातिः आत्मख्यातिर्वा स्यात् , नहि ज्ञानस्य स्मृतिग्रहणाभ्यामन्यः प्रकारः संभवतीति चेद्, मैवम् ; किं विलक्षणसामग्र्यनिरूपणात्तदसंभवः ? किं वा विलक्षणज्ञानस्वरूपानिरूपणाद् उत विलक्षणविषयानिरूपणात् ? नाऽऽद्यः; संप्रयोगसंस्कारदोषाणां सामग्रीत्वात् । न च वाच्यं दोषः प्रतिबन्धकत्वेन पूर्वप्राप्तकार्यानुदयस्यैव हेतुर्नत्वपूर्वकार्योदयस्येति ; अनुदयस्य प्रागभाव-

---

अर्थक्रियाकारित्व (व्यवहारप्रयोजकत्व) होनेसे उसके सत् हो जानेपर बाह्य अर्थ मानना ही होगा, और वह प्रतीति यदि रजतसे जन्य नहीं है, तो उस प्रतीतिका विषय रजत नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञानमें आकारका समर्पक हेतु ही विषय होता है; ऐसा आपके मतमें अङ्गीकार किया गया है, इससे आत्मख्यातिपक्षमें रजतकी प्रतीति ही नहीं बन सकती ।

विज्ञानवादी शङ्का करता है—तुम्हारे मतमें भी यदि रजतकी स्मृति मानी जाय, तो अख्यातिवाद प्रसक्त होगा, और यदि रजतका ग्रहण (अनुभव) माना जाय, तो सुतरां अन्यथाख्याति या आत्मख्याति ही प्रसक्त होगी, क्योंकि स्मरण और ग्रहणसे अतिरिक्त ज्ञानका कोई तीसरा प्रकार ही नहीं होता है । वेदान्ती समाधान देता है—नहीं, (आप ज्ञानके तृतीय प्रकारका असम्भव कैसे कहते है ?) क्या विलक्षण सामग्रीका निरूपण न होनेसे तृतीय प्रकारका असम्भव है ? या विलक्षण ज्ञानके स्वरूपका निर्वचन नहीं किया जा सकता है, इससे उसका असम्भव है ? अथवा विलक्षण विषयका निरूपण न हो सकनेसे उसका असम्भव है ? पहला विकल्प युक्त नहीं है, क्योंकि संप्रयोग, संस्कार, और दोषात्मक सामग्री उस स्थलमें विद्यमान ही है [अर्थात् शुक्तिसे इन्द्रियसंप्रयोग, पूर्वानुभूत रजतसंस्कार, विषयगत चाकचिक्यादि और इन्द्रियगत काचादि दोषोंके रहते हुए सामग्रीका अभाव नहीं कह सकते, यह भाव है] और यह कहना भी उचित नहीं है कि दोष प्रतिबन्धक ही होते हैं, अतः दोष प्राप्त कार्यके उदयका अभाव ही करते हैं, किसी अपूर्व कार्यके उत्पन्न करनेमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपस्याऽनादित्वेन दोषाजन्यत्वात् । वातपित्तादिदोषाणां चाऽपूर्वकार्योत्पादकत्वदर्शनात् । न च दोषस्य संस्कारोद्बोधकत्वेनाऽन्यथासिद्धिः, तदुद्बोधस्याऽवान्तरव्यापारत्वात् । नह्युद्यमननिपतने कुर्वन् कुठारः छिदिक्रियां प्रत्यहेतुर्भवति ।

ननु संप्रयोगस्येदन्तामात्रज्ञानोपक्षीणत्वात् संस्कारस्य स्मृतिजनकत्वेऽपि त्वयाऽत्र स्मृतेरनङ्गीकृतत्वादोषस्य च स्वातन्त्र्येण ज्ञानहेतुत्वादर्शनाद् रजतावभासः कथमिति चेत् , उच्यते—प्रथमं दोषसहितेनेन्द्रियेणेदन्तामात्रविषयाऽन्तःकरणवृत्तिर्जन्यते, तत इदन्तायां तद्ग्राहकवृत्तौ च चैतन्यमभि-

---

हेतु नहीं होते हैं', क्योंकि उदयका अभाव प्रागभावरूप है, अतः वह नित्य है, जन्य नहीं है, इस अवस्थामें दोषसे जन्म नहीं हो सकता है। और वात, पित्त आदि दोषोंको अपूर्व कार्यकी (ज्वरादिकी) उत्पत्ति करते हुए देखा गया है। दोष संस्कारके उद्बोधनमात्र करा देनेसे ही अन्यथासिद्ध हैं (अतः अपूर्व कार्यके प्रति हेतु नहीं हो सकते) ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोषोंमें संस्कारका उद्बोधन करना तो अवान्तर व्यापार है [प्रधान व्यापार तो अपूर्व कार्य उत्पन्न करना ही है] ऊपर उठता और नीचे गिरता हुआ (उद्यमन और निपतन करता हुआ) कुठार छेदनक्रियाके प्रति अहेतु नहीं होता है। [अर्थात् वह छेदनके प्रति हेतु ही हैं, उसके उद्यमन-निपतनरूपी आवान्तर व्यापारोंसे छेदनके प्रति अन्यथासिद्धि नहीं हो सकती ।]

पुनः बौद्ध शङ्का करता है—इन्द्रियसम्प्रयोग केवल इदन्ताका ज्ञान कराकर सामर्थ्य हीन हो गया [इससे सम्प्रयोगमें भ्रमात्मक अपूर्व ज्ञान उत्पन्न करानेकी सामर्थ्य नहीं है] अतः संस्कार यद्यपि स्मृतिका जनक है, तथापि आप वेदान्ती (भ्रम स्थलमें) स्मृतिको मानते ही नहीं। [इससे 'भ्रमरूप' अपूर्व कार्यके प्रति संस्कारको भी हेतुत्व नहीं हो सकता।] और दोष स्वतन्त्र रूपसे ज्ञान उत्पन्न करते हुए नहीं देखे गये हैं (अतः दोष भी भ्रमके हेतु नहीं हो सकते) तब आपके (वेदान्तीके) मतमें 'भ्रममें' रजतका प्रत्यक्ष कैसे होगा ? उत्तर देते हैं—पहिले दोषयुक्त इन्द्रियसे 'इदम्' को ही विषय करनेवाली अन्तःकरणकी वृत्ति उत्पन्न होती है, तदन्तर इदन्तामें और इदन्ताके ग्राहक वृत्तिमें चैतन्य अभिव्यक्त होता है, तादृश चैतन्यमें विद्यमान अविद्या दोषसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यज्यते, तच्चैतन्यनिष्ठा चाऽविद्या दोषवशात् संक्षुभ्यति, तत्रेदमंशावच्छिन्नचैतन्यस्थाऽविद्या संक्षुभिता सती सादृश्यादुद्बोधितरूप्यसंस्कारसहायवशाद् रूप्याकारेण विवर्त्तते। वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्थाऽविद्या तु रूप्यग्राहिवृत्तिसंस्कारसहकृता वृत्तिरूपेण विवर्त्तते; तौ च रूप्यविवर्त्तवृत्तिविवर्त्तौ स्वस्वाधिष्ठानेन साक्षिचैतन्येनाऽवभास्येते इत्येवं रजतावभासः। यद्यप्यत्राऽन्तःकरणवृत्तिरविद्यावृत्तिश्चेति ज्ञानद्वयम्, तथाऽपि तद्विषयः सत्यानृतयोरिदंरजतयोरन्योन्यात्मतयैकत्वमापन्नस्ततो विषयावच्छिन्नफलस्याऽप्येकत्वेन ज्ञानैक्यमप्युपचर्यते। नाऽपि द्वितीयतृतीयौ, मिथ्याज्ञानमिथ्याविषययोर्निरूपणात्।

यद्यप्यत्र संप्रयोगसंस्कारौ निरपेक्षावेव प्रमितिस्मृत्योर्जनने समर्थौ, तथापि प्रमितिस्मृतिनैरन्तर्योत्पत्तिमात्रेण प्रवृत्त्यसंभवादुभाभ्यां संप्रयोगसंस्का-

---

संक्षुब्ध होती है। उनमें इदम् अंशसे अवच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाली अविद्या संस्कारवश क्षुब्ध होती हुई सादृश्यसे उद्बुद्ध हुए रजतसंस्कारकी सहायतासे रजतके आकारमें विवर्तरूप परिणामको प्राप्त हो जाती है। और वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्यगत अविद्या तो रजतको ग्रहण करनेवाली वृत्ति सँस्कारसे सहकृत होकर रजतको विषय करनेवाली वृत्तिके रूपसे बदल जाती है, ये दोनों अर्थात् रजतविवर्त और वृत्तिविवर्त अपने-अपने अधिष्ठानभूत साक्षिचैतन्य द्वारा प्रकाशित होते हैं, इस प्रक्रियाके अनुसार हमारे मतमें रजतका अवभास सिद्ध होता है। यद्यपि उक्त प्रक्रियामें अन्तःकरणवृत्ति और अविद्यावृत्ति ये अलग अलग दो ज्ञान है; तथापि उन दोनोंके विषय सत्य—इदम् अंश—और मिथ्या—रजत अंश—परस्परतादात्म्यापन्न होनेसे एक हो गये हैं, इससे विषयावच्छिन्न फल (प्रकटनादि) के भी एक हो जानेसे 'इदं रजतम्' इत्याकारक ज्ञानका भी एक ही होना गौणवृत्तिसे व्यवहार किया जाता है। मिथ्याज्ञान और तादृश विषय नहीं है, इस प्रकारके पूर्वोक्त द्वितीय और तृतीय विकल्प भी संगत नहीं हैं, क्योंकि मिथ्याज्ञान और मिथ्या विषयका निरूपण हो ही गया है।

यद्यपि प्रकृतमें इन्द्रियसप्रयोग और संस्कार एक दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए ही प्रमाज्ञान और स्मरणको उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं, तथापि यथार्थ ज्ञान और स्मृतिका अव्यवधान हो जानेसे ही (रजतार्थीकी) प्रवृत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बृहदारण्यकवार्तिकसार

अनुवादक—म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालुजी द्विवेदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
अन्तःकरणविशिष्ट आत्माके ज्ञानके कर्माङ्ग होनेपर भी परात्मज्ञान कर्माङ्ग नहीं हो सकता	६५	१
आत्मामें प्रतीत होनेवाले कर्तृत्वादि काल्पनिक हैं	६६	१
श्रवण आदिके अनुष्ठानकालमें अन्य कर्मोंके अनुष्ठानमें अनुपपत्ति ...	७२	१
इच्छादि पदार्थोंकी अविद्यासे उत्पत्ति	८६	१
वेदान्तवाक्य ध्यानादिपरक नहीं हो सकते	८८	१
अविवेकी पुरुषके प्रति कर्मोंका विधान	९१	१
भेदाभेदवादियोंका खण्डन	९५	१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाढं कर्त्रात्मधीः कर्महेतुश्चेदस्तु तावता ।
किमायातं कर्मघातिपरब्रह्मात्मवेदने ॥ ५९ ॥
वर्णाश्रमवयोवस्थाध्यासं कर्मोपजीवति ।
वर्णाश्रमादि हन्त्येतत् परब्रह्मात्मवेदनम् ॥ ६० ॥

उसे ही कहते हैं—'वाढं कर्त्रात्मधीः' इत्यादिसे ।

यदि कहो कि द्वितीय पक्षाभिप्रेत अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा कर्ता है, तो यह भी ठीक है, क्योंकि अन्तःकरणविशिष्ट आत्माके कर्माङ्ग होनेपर भी कर्मके घातक परब्रह्मात्मवेदनमें क्या हानि हुई ? अर्थात् वह तो कर्माङ्ग नहीं है, प्रत्युत कर्मविरोधी है, इसीलिए वह कर्मघाती कहा गया है, कर्मघाती कर्मोपकारक नहीं हो सकता । प्रमाण द्वारा अङ्गाङ्गीभावका निर्णय होता है । आत्मज्ञान कर्माङ्ग है, इसमें क्या प्रमाण है ? श्रुति है अथवा दूसरा कोई प्रमाण ? श्रुति प्रमाण तो नहीं है, क्योंकि 'य एवं विद्वान् यजते' इत्यादि श्रुतिवाक्य हेत्वादिज्ञानका अनुवाद कर केवल उसीके यागाङ्गत्वका विधान करता है, आत्मज्ञानके कर्माङ्गत्वका विधान नहीं करता है, क्योंकि यह श्रुति कर्मप्रकरणस्थ है । आत्मप्रकरणस्थ नहीं है; अतः उक्त वाक्य प्राकरणिक अर्थका विधायक है, अप्राकरणिक अर्थका विधायक नहीं है । द्वितीय विकल्पके आश्रयणमें यदि अर्थापत्ति अभिप्रेत है अर्थात् देहभिन्न आत्मविज्ञानके विना पारलौकिक फलमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती; इसलिए पारलौकिक फलके साधनमें प्रवृत्तिकी अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण है; तो वह अर्थापत्ति अन्तःकरणविशिष्ट आत्मविषया है ? या केवल आत्मविषया ? प्रथम पक्षमें विशिष्टके कल्पित होनेसे वह शुद्ध आत्मविषयक नहीं है, अतः उसके कर्माङ्ग होनेपर भी शुद्ध आत्मज्ञान कर्माङ्ग नहीं है; दूसरे पक्षमें अज्ञानविशिष्ट ही कर्माधिकारी होता है, शुद्धात्मज्ञानी मुक्तके समान अधिकारी ही नहीं है ॥ ५९ ॥

इसमें प्रमाण कहते हैं— 'वर्णाश्रम' इत्यादिसे ।

'ब्राह्मणो यजेत' 'गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत' 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इत्यादि विधिवाक्य वर्णाश्रमावस्थाध्यासविशिष्ट पुरुषके उद्देश्यसे तत्तत्कर्मके विधायक हैं । इसलिए अध्यासविशिष्ट आत्मज्ञान ही कर्माङ्ग हो सकता है, परब्रह्मात्मवेदन तो पूर्वोक्ताध्यासका निवर्त्तक है, उपकारक नहीं है, कर्तृत्वादि आत्मामें कल्पित हैं, सत्य नहीं हैं, अतः उनके ज्ञानसे निवृत्त होनेमें कोई आपत्ति नहीं है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्तृभोक्तादिरूपत्वं प्रत्यगज्ञानहेतुजम् ।
ज्ञाते प्रतीचि तद्रूपमपैति स्वाप्नरूपवत् ॥ ६१ ॥

मोक्ष आत्मस्वरूपावस्थानस्वरूप है। आत्मज्ञानसे अज्ञानके निवृत्त होनेपर वह स्वयंसिद्ध हो जाता है; उसमें साधनान्तरकी आवश्यकता नहीं है।

यहांपर यह शङ्का होती है कि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इत्यादि श्रुतियोंसे जब आत्माकी असङ्गता सिद्ध है, तब उसमें कर्तृत्वादिका सङ्ग कैसे है ? यदि वह सङ्ग अज्ञाननिमित्तक है, तो शङ्का होती है कि अज्ञानका आत्माके साथ सङ्ग कैसे ? यदि निमित्तसे हो सकता तो उसमें भी निमित्तान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्था दोष होगा। और यदि अनिमित्तक मानें तो अविद्या की निवृत्तिसे; कर्तृत्वादिकी निवृत्ति कैसे होगी ? क्योंकि निमित्तकी निवृत्तिसे नैमित्तिककी निवृत्ति होती है, जब कर्तृत्वादिके साथ अविद्याका निमित्तनैमित्तिकभाव सम्बन्ध ही नहीं है तो अविद्याकी निवृत्ति होनेपर भी कर्तृत्वादिकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

उत्तर—सादिमें निमित्तनैमित्तिकभावकी अपेक्षा होती है, अनादिमें नहीं अविद्याध्यास आत्मामें अनादि है। इसलिए निमित्तान्तरकी आवश्यकता नहीं है अथवा स्वपरसाधारण अविद्या ही निमित्त है, कर्तृत्वादि कल्पित हैं वास्तविक नहीं हैं, इसमें प्रमाण है अनुमान—कर्तृत्वाद्यनात्मा अविद्याधीनः, कार्यत्वात्, रज्जुसर्पवत्। अनात्मस्वरूप साक्षिवेद्य है, अतः साक्षिसम्बन्धके बिना साक्षिवेद्यत्वानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति भी प्रमाण है ॥६०॥

इसपर कहते हैं—'कर्तृभोक्तादि०' इत्यादिसे।

कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सकल अनात्म पदार्थ प्रत्यग् आत्माके अज्ञानरूप हेतुसे उत्पन्न अर्थात् स्वात्म यथार्थाज्ञानहेतुक हैं, अतः आत्मयथार्थज्ञान होनेपर [ज्ञाते प्रतीचि] स्वाप्निक दृश्यके समान सब निवृत्त हो जाते हैं ॥६१॥

यह शङ्का होती है कि आत्मा चेतन होनेसे वास्तविक कर्ता-भोक्ता हो सकता है, फिर कर्तृत्व-भोक्तृत्वको कल्पित माननेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—असल बात यह है कि आत्मा असंग है, स्वतः कर्ता-भोक्ता नहीं है, किन्तु कर्महेतुके सम्बन्धसे आत्मामें भी कर्महेतुत्वकी प्रतीति होती है, कर्मके हेतु हैं— पुण्य और पाप। 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा पापः पापेन' इत्यादि श्रुतिसे पूर्व पुण्य उत्तर पुण्य कर्ममें निमित्त हैं एवं पाप भी पापकर्ममें निमित्त हैं। कर्मफल-भोग राग द्वारा कर्ममें कारण है। अनुपभुक्तमें राग नहीं होता। रागके बिना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दारपुत्रधनादीनि कर्मसाधनतां ययुः ।
यानि तान्यपयान्तीति किमु वक्तव्यमात्मनः ॥ ६२ ॥
देहतद्बाह्यरूपं यद्विशेषणमुदीयते ।
प्रतीचो निर्विशेषस्य तदज्ञानं विना नहि ॥ ६३ ॥
चोरोऽसौ मामभिप्रैतीत्येवं चोरविशेषणम् ।
स्थाणौ सम्भावयत्यज्ञो न त्वभिज्ञस्तमो विना ॥६४॥

उसके साधनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, तथा कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियसे विकल अन्ध, पङ्गु आदिका यागमें अधिकार ही नहीं है। 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेत्' इत्यादि श्रुतिसे मन भी निमित्त है। देहके बिना इन्द्रियादि व्यापार नहीं हो सकते। इसलिए 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादि श्रुतिसे इन्द्रियाश्रयशरीर विशिष्ट ब्राह्मणत्वादि जातिमान् पुरुष ही तत्-तत् कर्मोंका अधिकारी है। स्त्री, पुत्र, धनादि भी निमित्त हैं। स्त्री, पुत्र और धनसे युक्त पुरुषका अग्न्याधानादिमें अधिकार है; अतः इन कर्माधिकार निमित्तोंके संगके बिना स्वतः असंग आत्मामें कर्तृत्वादि सम्बन्ध कहां ?

इसे कहते हैं—'दारपुत्रधनादीनि' इत्यादिसे।

स्त्री, पुत्र, धनादि कर्मसाधन हैं, इनका सम्बन्ध आत्मामें वास्तविक न होनेसे यदि ये आत्मयथार्थज्ञानसे निवृत्त हो जाते हैं, तो एतन्निमित्तक कर्तृत्वादि सम्बन्ध भी निवृत्त हो जाता है, इसमें कहना ही क्या है ? ॥ ६२ ॥

देह और उससे भिन्न प्रत्यगात्मामें जो विशेषणरूपसे प्रतीत होते हैं, वे अज्ञानके बिना नहीं हो सकते ॥ ६३ ॥

तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा स्वतः कर्माधिकारी नहीं है, तो पूर्वोक्त हेतु द्वारा भी कैसे अधिकारी होगा ? यदि अग्नि स्वतः शीतस्वभाव नहीं है, तो वायुके सम्बन्धसे भी वह जलादिके समान शीत नहीं हो सकती। यद्यपि निर्विशेष आत्मामें स्वतः कर्तृत्वादि शक्ति नहीं है; फिर भी द्वैतवादी लोग पूर्वोक्त साधनविशिष्टमें कर्तृत्वादिको वास्तविक मानते हैं। स्वतः अप्रकाशशील घटादि प्रदीपद्वारा प्रकाशित होता ही है, घटमें प्रकाशसम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है, किन्तु प्रदीपनिमित्तक है। प्रदीपके निवृत्त होनेपर घटमें प्रकाशसम्बन्ध भी निवृत्त हो जाता है, यह विचारशील अवश्य कहेंगे। और इसपर दृष्टि अवश्य दीजिये कि अन्य पदार्थ अन्यमें—स्वभिन्नमें—विशेषण तथा अन्यका—स्वभिन्नका—वास्तविक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करोम्यन्धो द्विजो बालो दग्धश्छिन्नोऽहमित्यपि ।
नाविद्यामन्तरेणैतैः प्रत्यगात्मा विशिष्यते ॥ ६५ ॥

स्वरूप हो सकता है या नहीं ? नहीं हो सकता है, यही कहना उचित है, क्योंकि गऊ और महिष एक दूसरेसे भिन्न हैं; इसलिए न तो गऊ महिषकी विशेषण ही हो सकती है, और न स्वरूप ही हो सकती है। यदि अन्य अन्यका कहींपर विशेषण या स्वरूप देखा जाय, तो उसे अज्ञानप्रयुक्त ही हुआ समझना चाहिए, अन्यथा वैसा हो नहीं सकता, इस भावसे कहते हैं—'चोरोऽसौ' इत्यादिसे।

मन्दान्धकारमें सामने स्थाणुको देखकर यह चोर है और मेरे सामने आ रहा है, इस प्रकार अज्ञानवश स्थाणु चोरमें विशेषणरूपसे प्रतीत होता है, वास्तविक नहीं। जो वस्तुतः स्थाणुको जानता है, वह ऐसी कल्पना नहीं करता, इसलिए यह मानना आवश्यक है कि अज्ञानसे ही स्थाणु पुरुषमें विशेषण होता है, अन्यथा नहीं।

शङ्का—अज्ञानके बिना भी दूसरा दूसरेमें विशेषणरूपसे देखा जाता है, जैसे 'दण्डी पुरुषः' 'राजाश्वः' इत्यादि।

उत्तर—हां, देखा जाता है; किन्तु आपने हमारा अभिप्राय नहीं समझा। हमारा अभिप्राय यह है कि विशेषणविशेष्यभाव दो प्रकारका होता है, एक भेदाग्रहपूर्वक और दूसरा भेदाग्रहपूर्वक। 'दण्डी पुरुषः' इत्यादि स्थलमें जो विशेषण-विशेष्यभाव है, वह भेदाग्रहपूर्वक है, वह अज्ञानके बिना भी होता है। द्वितीयमें—भेदाग्रहपूर्वक विशेषणविशेष्यभावमें—अज्ञानके बिना अन्य वस्तु अन्य वस्तुमें विशेषण नहीं हो सकती। 'गौरोऽहं' 'कृशोऽहम्' इत्यादि स्थलमें भी गौर और कृशादिका आत्माके साथ जो विशेषणविशेष्यभाव प्रतीत होता है, वह भेदाग्रहपूर्वक है, अर्थात् यद्यपि आत्मा और शरीरका भेदभान नहीं है, तो भी विशेषणविशेष्यभाव है, अतः यह भी अज्ञाननिमित्तक है। इसी तरह 'चौरोऽयम्' इत्यादि स्थलमें भी अज्ञाननिमित्तक विशेषणविशेष्यभाव है। भेदज्ञान होनेपर उक्त विशेषणविशेष्यभावकी भी निवृत्ति हो जाती है ॥६४॥

मैं अन्ध हूँ, बालक हूँ, द्विज हूँ, दग्ध हूँ, छिन्न हूँ, मैं करता हूँ, इत्यादिसे अन्धादिकी आत्मामें जो विशेषणरूपसे प्रतीति होती है, वह अज्ञान ही से होती है। आत्माका यथार्थज्ञान होनेपर ये विशेषणभावसे प्रतीत नहीं हो सकते ॥६५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इयमेवात्मनोऽविद्या कर्माधिकृतिकारणम् ।
अधिक्रियन्ते येनैते बृहस्पतिसवादिषु ॥ ६६ ॥
सर्वकर्मसमुच्छेदि ज्ञानं वेदान्तमानजम् ।
तन्मूलाज्ञानघातित्वान्नाऽस्य कर्माङ्गता ततः ॥ ६७ ॥

जिनका परस्पर भेद नहीं ज्ञात है, ऐसे स्थाणु-चोरकी तरह शरीरादि और आत्माका विशेषणविशेष्यभाव अविद्यानिमित्तक ही सही, परन्तु प्रकृत धर्माचरणमें विशेष क्या हुआ ? इसे कहते हैं—'इयमेवात्मनोऽविद्या' इत्यादिसे ।

यह अविद्या अर्थात् अविद्याधीन विशेषणविशेष्यभाव कर्मसम्बन्ध-निमित्तक ब्राह्मणत्वाभिमानका हेतु होनेसे कर्माधिकारका हेतु है, 'ब्राह्मणो वैश्वदेवेन यजेत' इत्यादि श्रुतिसे विहित वैश्वदेव आदि यागोंका ब्राह्मणत्वाभिमानी पुरुष अर्थात् 'मैं ब्राह्मण हूँ' इस प्रकार अपनेको ब्राह्मण समझनेवाला पुरुष ही कर्ता प्रतीत होता है । ब्राह्मणत्वके अभिमानके अविद्या-प्रयुक्त होनेसे उक्त उन-उन बृहस्पतिसव आदि यज्ञोंका अविद्यावान् पुरुष ही अधिकारी है ॥ ६६ ॥

शुद्धात्मज्ञानं कर्माङ्गम्, आत्मज्ञानत्वात्, इतरात्मज्ञानवत्, अर्थात् शुद्ध आत्माका परिज्ञान कर्मका अङ्ग है, आत्माका ज्ञान होनेसे, अन्य आत्मज्ञानके समान, इस अनुमानसे शुद्ध आत्माके परिज्ञानकी भी कर्मोंके अङ्गरूपसे प्रतीति होती है । इस शङ्कापर कहते हैं—'सर्वकर्म' इत्यादिसे । 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वेदान्त-वाक्योंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान, कर्मोंकी मूलभूत अविद्याका निवर्तक होनेसे, सब कर्मोंका नाशक है, अतः यह ज्ञान कर्मका अङ्ग नहीं हो सकता ।

शङ्का—शुद्ध आत्माका ज्ञान सब कर्मोंका नाशक है ? इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—श्रुति, स्मृति आदि तथा अनेक तत्त्वदर्शी विद्वानोंका अनुभव ही उक्त अर्थमें प्रमाण है ।

उनमें 'क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' यह श्रुति है और 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' इत्यादि स्मृति है । इन विविध श्रुत्यादि प्रमाणोंसे यह निश्चित होता है कि उत्पन्न हुआ निरतिशयानन्दैक-रसस्वरूप अद्वैत ब्रह्मज्ञान सम्पूर्ण अविद्यादि क्लेशोंको और उनके निदानभूत अज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यच्चोक्तमर्थवादत्वं ब्रह्मज्ञानफलस्य तत् ।
अभ्युपैम्यर्थवादत्वं वचसोऽन्यपरत्वतः ॥ ६८ ॥

एवं तन्मूलक सारे द्वैत-प्रपञ्चको नष्ट करता है। यदि द्वैताभाव होनेसे साध्य-साधनभाव ही नहीं रहता, तो कर्माङ्ग कैसे होगा ?

शङ्का—अच्छा, तो यह बतलाइए कि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होकर अज्ञान आदिका नाशक होता है अथवा अनुत्पन्न होकर नाशक होता है ? यदि प्रथम पक्षका अङ्गीकार किया जाय, तो ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध होनेसे जबतक अज्ञान रहेगा, तबतक ज्ञानकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती, और यदि यह न माना जाय, तो उनका विरोध ही होगा। द्वितीय पक्षका स्वीकार करनेपर जब ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हुआ, तो ज्ञान अज्ञानका निवर्तक कैसे हो सकता है ? यदि असत् ज्ञान अज्ञानका निवर्तक हो, तो संसारमें स्थित सभी पुरुषोंका अज्ञान निवृत्त हो जाना चाहिए।

समाधान—चित्तके विमल होनेपर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और उससे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। जैसे कि प्रदीपका आलोक उत्पन्न होकर ही अन्धकारको नष्ट करता है, यह लोकमें आप स्वयं अनुभव करते ही हैं, फिर इस विषयमें अधिक कहनेकी क्या आवश्यकता है ? इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्ध आत्माका परिज्ञान कर्मोंके प्रति अङ्गभूत नहीं है। इस परिस्थितिमें अर्थात् आत्मज्ञानके अन्य शेष न होनेमें आत्मज्ञानके फलकी—ब्रह्मभावकी—बोधक श्रुतियाँ अर्थवाद नहीं हो सकतीं ॥ ६७ ॥

यद्यपि विचारसे आत्मज्ञानके फलकी बोधक श्रुतियाँ अर्थवाद नहीं हैं, यह निर्णय कर चुके हैं, तथापि आपके आग्रहसे अभ्युपेत्यवादका अङ्गीकार करके यदि अर्थवाद माना जाय, तो भी समाधान हो सकता है, इसे कहते हैं—**'यच्चोक्तम्'** इत्यादिसे।

जो आपने कहा है कि ब्रह्मज्ञानके फलका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ अर्थवाद हैं। यद्यपि वह मेरा सिद्धान्त नहीं है, तथापि उनके अन्यपरक—ब्रह्मात्मैक्यपरक—होनेसे आग्रहवश उनको अर्थवाद मान भी लें, तो कोई हानि नहीं है ॥ ६८ ॥

यहाँपर यह प्रश्न होता है कि क्या वह भूतार्थवाद है या गुणवाद है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोधानुपलम्भेनापापश्लोकश्रुतेरिव ।
नैवाभूतार्थवादत्वं किन्तु भूतार्थवादता ॥ ६९ ॥

(वाच्य अर्थके साथ यदि अन्य किसी प्रमाणका विरोध न हो, तो उस अर्थ-वादको भूतार्थवाद कहते हैं, अन्यथा वह गुणवाद कहा जाता है) इसी भावसे कहते हैं—'विरोधानुपलम्भेन' इत्यादिसे ।

विरोधके न होनेसे वह अपापश्लोक श्रुतिके समान अभूतार्थवाद नहीं है, किन्तु, भूतार्थवाद ही है, भूतार्थवादका स्वार्थमें भी तात्पर्य रहता है। सारांश यह है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि ब्रह्म-स्वरूपके निरूपणके लिए प्रवृत्त श्रुतियाँ प्रधान हैं और 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि गौण हैं, क्योंकि गुणप्रधानभावके बिना एक वाक्यका दूसरे वाक्यके साथ मिलकर वाक्यैकवाक्यतासे एक अर्थका बोधन नहीं हो सकता। इसलिए गुणत्वरूप अन्य शेष होनेपर भी वह स्वार्थमें प्रमाण होता ही है, गुणवादके समान अप्रमाण नहीं होता। जैसे कि 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इस वाक्यका, जुहू द्वारा कर्मशेष होनेपर भी अपापश्लोकश्रवणरूप फलमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु जुहूके अङ्गत्वमें है। पर्णताका फल पापश्लोक-श्रवणाभाव नहीं है। प्रकृतमें 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि आत्मज्ञानफलकी बोधक श्रुति प्रधानभूत पूर्वोक्त 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि वाक्यकी अपेक्षा गौण होनेपर भी ब्रह्मज्ञानके फलांशमें प्रमाण ही है—ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मस्वरूपप्राप्तिरूप फल होता है, अन्य उपायसे नहीं।

'यस्य पर्णमयी' इत्यादि वाक्य तो पर्णतामें जुह्वङ्गत्वका बोधन करके सार्थक हो जाता है, इसलिए काम्य अर्थका बोधक नहीं है। यदि वाक्यका दोनोंमें तात्पर्य मानें, तो वाक्यभेद हो जायगा, अतः फलका श्रवण केवल स्तुतिमात्र है, भूतार्थवाद नहीं है। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि वाक्यका यदि ब्रह्मभावरूप फलमें तात्पर्य न होगा, तो यह वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा। इसलिए यह पर्णताके समान केवल स्तुतिमात्रफलक नहीं है, किन्तु भूतार्थवाद—सत्यार्थवाद—है, अतः स्वार्थमें प्रमाण है। जैसे दर्शपूर्णमासप्रकरणमें पठित 'दर्शपूर्णमासाविज्येते' इस प्रकारका अर्थवाद वाक्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्यादिका वाक्यशेष होनेपर भी भूतार्थवाद ही है। वैसे ही ब्रह्मज्ञानके फलकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुतो विरोधः शङ्क्येत प्रत्यक्षे ब्रह्मधीफले ।
ब्रह्मत्वमात्मनो दृष्ट्वा नोत्तरेत्संसृतिं कथम् ॥ ७० ॥

बोधक उक्त श्रुति भी भूतार्थवाद ही है, अन्यथा ज्ञानके अनुभूयमान श्रौतफलके साथ विरोध होगा ।

शङ्का—'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' इत्यादि वाक्यसे दर्श आदिका विधान है, अतः 'स्वर्गाय' इत्यादि वाक्य अनुवादक हो सकता है, अन्य प्रमाणसे प्रसिद्ध अर्थका पुनः कथन अनुवाद है, प्रकृतमें ब्रह्मभावापत्तिरूप अर्थ अन्य किसी प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए 'ब्रह्म वेद' इत्यादि अनुवाद कैसे हो सकता है ?

समाधान—यद्यपि अन्य वाक्यसे ब्रह्मभावापत्तिरूप फल प्रसिद्ध नहीं है, तथापि विद्वानोंके प्रत्यक्ष अनुभवसे उसकी प्रसिद्धि है; शब्दप्रमाणसे प्रसिद्धि अनुवादमें अपेक्षित है, प्रमाणान्तरसे प्रसिद्धि नहीं, यह नहीं है । इसीसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' यह वाक्य प्रत्यक्षप्रसिद्ध अर्थका बोधक होनेसे अनुवादक माना गया है ।

निचोड़ अर्थ यह निकला कि शुद्ध आत्माका विज्ञान मुक्तिका कारण है, वह कर्मविधिका स्पर्श भी नहीं करता, अतः कर्मशेष नहीं है । कर्मविधि अभ्युदयमें कारण है और आत्मज्ञान मुक्तिका कारण है । इसीसे ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा आदिकी भिन्नता और अधिकारीका भेद भी उचित प्रतीत होता है । कर्तृत्व आदि अभिमानसे कर्मानुष्ठान होता है । श्रवण आदिमें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति अभिमानरहित है, इसीसे मुमुक्षुको कर्मोंकी अभिलाषा नहीं होती है, और कर्म मुक्तिके विरोधी भी हैं ।

'धर्मरज्ज्वा व्रजेदूर्ध्वं पापरज्ज्वा व्रजेदधः' ।

अर्थात् धर्मरूप रस्सीसे स्वर्गको जाता है और पापरूप रस्सीसे नरकमें जाता है, इत्यादि स्मृतियोंसे कर्मोंका फल बन्धन ही है और मुमुक्षु चाहता है—बन्धनसे मुक्ति । इस परिस्थितिमें वह अपने अभीष्ट फलके साथ विरोध रखनेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करेगा ही क्यों ? अर्थात् नहीं करेगा, प्रत्युत उनका त्यागकर श्रवण, मनन आदिमें ही प्रवृत्त होगा ॥६८,६९॥

श्रवण आदि करता हुआ मुमुक्षु बीच-बीचमें यदि कर्मोंका अनुष्ठान करे, तो क्या अनुपपत्ति है ? इस शङ्काके परिहारके लिए कहते हैं—'कुतो विरोधः' इत्यादिसे ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मज्ञानियोंमें भी सांसारिक कर्तृत्व आदि धर्मोंका अभिमान देखा जाता है, अतः मुमुक्षु भी यथावकाश कर्म कर सकते हैं, इसमें विरोध ही क्या है? ब्रह्मज्ञानका ब्रह्मात्मदर्शनरूप फल प्रत्यक्ष है, अतः वह संसारके पार क्यों नहीं उतरेगा? ॥७०॥

[आशय यह है कि प्रवृत्तिके प्रति राग आदि मल ही कारण हैं, श्रवण आदिसे विवेक, वैराग्य आदि भावना द्वारा राग आदि मलोंके निःशेष निवृत्त हो जानेपर जब चित्त शुद्ध हो जाता है, तब उन राग आदिकी सम्भावना नहीं रहती, फिर कर्ममें मुमुक्षुकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? पूर्वाभ्यासवश कर्म करनेकी इच्छा उसे हो सकती है, यह भी शङ्का ठीक नहीं है, कारण कि किसीको अपने गाँवपर जानेकी इच्छा हुई, किन्तु ग्राम-प्राप्तिके मार्ग दो हैं—एक मार्ग तो ऐसा है, जिसमें खाने पीनेका सामान स्थान-स्थान पर मिलता है, किनारे-किनारे मनोरम फल-पुष्पोंसे भरपूर वृक्ष-वाटिका लगी है, हिंस्र जन्तु तथा चोरोंका बिलकुल भय नहीं है, सब तरहसे सुगम एवं सीधा है। और दूसरा मार्ग ठीक इससे विपरीत है अर्थात् जहाँ तहाँ अनेक घातुक प्राणियोंसे मार्ग भरपूर है।

अब आपसे पूछा जाता है कि इन दो मार्गोंमें से दूरदर्शी विद्वान् किस मार्गका आश्रयण करेगा? मेरा तो दृढ़ विश्वास है—आप यही कहेंगे कि प्रथम मार्गका ही विद्वान् आश्रयण करेगा।

और प्रकृतमें इस विषयपर भी विचार कर लेना अत्यन्त उपयुक्त है कि क्या विद्वान् स्वतः अपनेको कर्माधिकारी समझता है या अनात्मवस्तुके सम्बन्धसे? उसमें भी अनात्मवस्तुका सम्बन्ध स्वाभाविक है या अविद्यानिमित्तक? असङ्ग आत्मामें अनात्मवस्तुका सम्बन्ध स्वाभाविक तो हो नहीं सकता, अतः आविद्यिक कहना होगा, परन्तु यह कैसे हो सकता है, क्योंकि अविद्याके निवृत्त हो जानेपर तन्मूलक कर्तृत्व आदि धर्मोंके भी निवृत्त हो जानेसे—'सब धर्मोंसे शून्य तथा निष्क्रिय मैं हूँ, कारण कि व्यापक आत्मामें क्रिया नहीं रह सकती' ऐसा जो अपनेको मानता है, भला वह कैसे कर्म कर सकता है?

और यह भी विचारना चाहिए कि वह विद्वान् कर्ममें किस लिए प्रवृत्त होगा? क्या स्वर्ग आदि फलके लिए या मुक्तिके लिए या मुक्तिसाधन ज्ञानके लिए? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि जब वैराग्य आदिकी भावनासे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐहिक और आमुष्मिक फलमें रागकी निवृत्तिसे जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, उसको फिर स्वर्ग आदिमें राग होगा ही कहाँसे। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि मुक्ति तो स्वकीय आत्मरूप होनेसे नित्य प्राप्त ही है, अप्राप्त वस्तुमें क्रियाकारकभावकी अपेक्षा होती है, नित्य-प्राप्तमें नहीं होती। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे यदि वृत्तिरूप साक्षात्कार अभीष्ट है, तो वह प्रत्ययैकतानतारूप ध्यानसे ही होता है, अतः उसके लिए कर्मकी आवश्यकता नहीं है।

तात्पर्य तो यह है कि मुक्ति नित्य है, जन्य नहीं। जन्य और उत्पाद्य फलके लिए कर्मोंकी अपेक्षा होती है, नित्य फलके लिए नहीं। स्वर्ग आदिके लिए विद्वान् भी कर्म करेगा, यह तो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इत्यादि स्मृति-वाक्योंसे कर्मोंमें मोक्षविरोधिता जानकर उनमें मुमुक्षु प्रवृत्त ही कैसे हो सकता है? अल्पज्ञ मूर्ख पुरुष भी पूर्वमें जानेकी इच्छासे पश्चिमकी तरफ नहीं जाता, तो फिर विद्वान् विपरीत कर्म कैसे करेगा? यदि करे, तो उसे विद्वान् ही नहीं कहना चाहिए।

और यह अनेक बार कह चुके हैं कि अविद्यावान् ही कर्माधिकारी है, विद्यासे सविलास अविद्याकी निवृत्ति हो जानेसे कार्य करनेकी सामग्री ही विद्वान्में नहीं है, तो वह कर्म कैसे करेगा? यह भी प्रसिद्ध है कि अविवेकपूर्वक ही कर्ममें पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है। विद्यावान् पुरुषमें अविवेककी सम्भावना नहीं हो सकती, फिर उसकी कर्ममें प्रवृत्ति कैसे होगी?।

शङ्का—कृतकृत्य विद्वान् भी मनोविनोदके लिए कर्म कर सकता है। जैसे यद्यपि परब्रह्म परमात्मा आप्तकाम है, तथापि क्रीड़ार्थ जगत्की रचना करता है।

समाधान—यह आपकी शङ्का ठीक नहीं है, कारण कि परमात्मा तो स्वतः शक्तिमान् है, अतः वह सृज्यमान प्राणियोंके अदृष्टसे सृष्टि करता है अर्थात् समस्त ब्रह्माण्डको उत्पन्न करता है, और विद्वान् तो उपकरणरहित है, अतः सर्वथा असमर्थ है।

शङ्का—तत्त्वके ज्ञानसे सम्पूर्ण प्राक्तन अज्ञानोंका नाश होनेपर भी पुनः उत्पन्न अन्य अज्ञानसे विद्वान् कर्म कर सकता है।

समाधान—यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर आत्मा कूटस्थ हो जाता है, अतः वह स्वयं अज्ञानोत्पत्तिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तीर्य संसृतिं भूयः कर्तृत्वादीन्न वीक्षते ।
रोगादिवदनर्थत्वात् कर्तृत्वादिजिहासतः ॥ ७१ ॥

कारण हो नहीं सकता । अद्वितीय होनेसे अन्य हेतुकी सम्भावना भी नहीं हो सकती, और अनिमित्त कार्यकी उत्पत्ति व्याघात आदि दोषसे नहीं होती, इससे अज्ञानान्तर द्वारा भी शङ्का ठीक नहीं है । और

'अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च ।'

'किमिच्छिन् कस्य कमाय शरीरमनुसंज्वरेत् ।'

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।'

इत्यादि शास्त्रोंसे भी विद्वानोंका कर्माधिकार निषिद्ध किया गया है, अतः विरक्त तथा जिसने सब कर्मोंका परित्याग किया है वही पुरुष मोक्षका अधिकारी है और इससे विपरीत पुरुष कर्मानुष्ठानका अधिकारी है, ऐसा सभी शास्त्रोंका निष्कर्ष है ।

शङ्का—यदि अज्ञानसे युक्त पुरुष ही कर्मोंका अधिकारी है, तो सुषुप्ति-दशामें भी अज्ञान रहता है, इसलिए क्या उस दशामें भी शास्त्रसिद्ध कर्मोंका अधिकारी पुरुष हो सकता है ?

समाधान—नहीं, नहीं हो सकता है, क्योंकि अज्ञानसे अज्ञानमूलक शरीरेन्द्रियादिका अभिमान लेना चाहिए, यह तात्पर्य है । सुषुप्ति-दशामें उक्त अहङ्कार नहीं है, अतः उस दशामें कर्माधिकार हो ही नहीं सकता ।]

यदि शङ्का हो कि मुमुक्षुको भी प्रारब्ध कर्मसे शरीर आदिका अभिमान तो रहता ही है; अतः उसका भी कर्माधिकार अनिवार्य ही होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि मुमुक्षु पुरुष देहाभिमानको मिथ्या समझता है, अतएव तादृश अभिमानसे साध्य कर्ममें श्रद्धा-शून्य पुरुष प्रवृत्त ही नहीं होगा। श्रद्धा कर्मानुष्ठानमें कारण है । 'अश्रद्धया हुतं दत्तम्' इत्यादि शास्त्रसे श्रद्धारहित पुरुष कर्माधिकारी नहीं हो सकता । और जीवन्मुक्तमें तो शरीरादिका भान रहनेपर भी उसका अभिमान नहीं रहता है । इससे उनके कर्माधिकारकी सम्भावना ही नहीं है । अविद्या, अविद्याकार्य कर्तृत्व आदिका विद्याके साथ विरोध है, विद्वान्के लिए कर्तृत्वादि और तन्मूल अविद्या, ये दोनों जिहासित हैं, उपादेय नहीं हैं, इसी अभिप्रायसे कहते हैं—**'उत्तीर्य संसृतिं भूयः'** इत्यादि से ।

विद्वान् संसारको पार करने फिर कर्तृत्व आदि धर्मोंको नहीं देखता है । इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्तृत्वादिस्वभावस्य दृश्यत्वात्तु दृगात्मनि ।
अविद्याकल्पितत्वं स्याद् दृगात्मा तु न दृश्यते ॥७२॥

क्या उस समय उसमें दर्शनसामर्थ्य ही नहीं रहती ? नहीं, यह बात नहीं है, किन्तु बात यह है कि 'स्वनिष्ठतया तदानीं न पश्यति' अर्थात् जैसे रोगी पुरुषको रोग जिहासित है। औषधके उपचारसे रोगके निवृत्त होनेपर फिर उस रोगको वह रोगी अपनेमें अनुभव नहीं करता, वैसे ही कर्तृत्व आदि धर्म भी रोगके समान अनिष्टके ही हेतु हैं, अतः विद्वान्को वे जिहासित हैं। तत्त्वज्ञानसे जब कर्तृत्वादि धर्मोंकी निवृत्ति हो जाती है तब कर्तृत्व आदि धर्मोंका अपनेमें वह अनुभव नहीं करता, इसलिए मुक्त पुरुषको कर्माधिकार नहीं रहता है, यह निचोड़ अर्थ है ॥ ७१ ॥

शङ्का—कर्तृत्व आदि आत्माके स्वभाव हैं, अतः वे जिहासित नहीं हो सकते। वे आत्मस्वभाव हैं, इसमें अनुमान ही प्रमाण है। वह इस प्रकार होता है—कर्तृत्वादिः आत्मस्वभावः, तत्र प्रतीयमानत्वात्, चैतन्यवत् । इसपर कहते हैं—'कर्तृत्वादि' इत्यादिसे।

कर्तृत्व आदि स्वभाव दृश्य होनेसे आत्मामें कल्पित ही हैं, सत्य नहीं हैं। द्रष्टारूप आत्मा तो दृश्य नहीं हो सकता है। और यह अनुमानप्रमाणसे भी सिद्ध है कि आत्मामें कर्तृत्व आदि कल्पित हैं। अनुमानका स्वरूप यह है—कर्तृत्वादिस्वभावः आत्मनि कल्पितः, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत् । प्रकृतमें दृश्यत्व चैतन्यविषयत्वरूप ही विवक्षित है, अतः चैतन्यकी विषयता चैतन्यसे भिन्नमें ही रहेगी चैतन्यमें नहीं, इसलिए आत्मामें व्यभिचार नहीं है।

'द्रष्टारमरे केन विजानीयात्'
'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

'अदृश्यम्' इत्यादि प्रमाणोंसे चैतन्यकी विषयता चैतन्यमें नहीं रहती है, यह ब्रह्मवादियोंका सिद्धान्त है ॥ ७२ ॥

कर्तृत्व आदि आत्माके धर्म नहीं हैं, इसमें जो अनुमान किया गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहं कर्ता' इत्यादि प्रत्यक्षप्रमाण उक्त अनुमानका बाधक है। जैसे अग्निः अनुष्णः, कृतकत्वात्, घटवत्, इत्यादि अनुमान 'वह्निः उष्णः' इस प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित है, अतः उक्त अनुमानसे वह्निमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाता साक्षिणा दृश्यो मातुर्मानं प्रजायते ।
मानेन मीयते मेयं साक्षिदृश्यं त्रयं ततः ॥७३॥

उष्णत्वाभावका साधन नहीं हो सकता, किन्तु प्रत्यक्ष-प्रमाणके अनुसार वह्निमें उष्णत्वका ही अङ्गीकार किया जाता है, वैसे ही प्रत्यक्षप्रमाणके अनुसार आत्मामें वस्तुतः कर्तृत्व आदि धर्मोंकी सत्ता ही माननी चाहिए, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**प्रमाता**' इत्यादिसे ।

प्रमाता साक्षीसे दृश्य है और वही प्रमाता साक्षिदृश्य प्रमाणसे साक्षिदृश्य प्रमेयको प्रमित करता है, इसलिए प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय, ये तीनों साक्षि-दृश्य हैं । साक्षी साक्षीसे दृश्य नहीं है, क्योंकि अपनेमें अपनी विषयता नहीं रह सकती । विषयता एक प्रकारका सम्बन्ध है, और वह सम्बन्ध भिन्नमें होता है, अभिन्नमें नहीं होता ।

तात्पर्य यह है कि विद्वानोंके अनुभवसे, श्रुतियोंसे तथा तथोक्त अनुमानसे यह सिद्ध है कि आत्मा अकर्तृस्वरूप ही है, कर्तृस्वरूप नहीं है । विद्वानोंके अनुभवमें विप्रतिपत्ति है, अतः उसके उभयवादिसिद्ध प्रमाण न होनेके कारण यदि उसे प्रकृतार्थका साधक न मानो, तो मोक्षका एक तरहसे उच्छेद ही हो जायगा, क्योंकि कर्तृत्वादिके आत्मस्वभाव होनेपर उनकी निवृत्ति किसी प्रकारसे भी नहीं हो सकेगी । यदि स्वभावकी भी निवृत्ति मानी जाय, तो आत्माकी भी निवृत्ति प्रसक्त होगी, क्योंकि पदार्थके स्वभावकी निवृत्ति होनेपर पदार्थ ही नहीं रह सकता, फिर मुक्ति किसकी होगी ?

शङ्का—यदि आत्माकी मुक्ति न हो, तो भले ही न हो; क्योंकि चार्वाकको यह अभीष्ट ही है । चार्वाकके मतमें आत्मा नित्य नहीं है, जैसे अग्निमें दाह, पाक आदि विकार हैं, वैसे ही आत्मामें भी जन्म, मरण आदि विकार हैं, अतः इस मतमें आत्माका विनाश ही मुक्ति है, उससे भिन्न मुक्ति नहीं है । जन्म, मरण आदि विकार तो देहके धर्म हैं, आत्माके धर्म नहीं हैं, यदि ऐसा कोई कहे, तो उसका यह कथन भी अज्ञानमूलक ही समझना चाहिए, क्योंकि चारों ओर खोजनेपर भी देहभिन्न आत्मा कहींपर भी नज़रमें नहीं आता है, और आत्माकी जो प्रतीति होती है, वह देहमें ही होती है, अन्यत्र नहीं । तुष्यतु दुर्जनन्यायसे यदि आत्माको देहसे अतिरिक्त मान भी लिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय, तो भी प्रश्न यह होता है कि वह भोक्ता है या नहीं ? प्रथम पक्षमें उसकी विकारिता अनिवार्य है, उसके विकारी होनेपर उसकी अनित्यताका निवारण इन्द्र भी नहीं कर सकता। द्वितीय पक्षमें भोग्यमात्र ही जगत् रहा, अथवा यों कहिए कि भोक्ताके न रहनेसे भोग्य भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु स्वरूपसे जगत् कहा जायगा, लेकिन सच पूछिये, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्ग ही व्यर्थ हो जायगा। अतः आत्मा अनित्य है, यह चार्वाकोंका कथन ठीक नहीं है; कारण कि विकार अनित्यत्वसे व्याप्त है। यदि आत्मामें विकार होगा, तो उसमें अनित्यत्व भी अवश्य रहेगा, यह ठीक है, परन्तु आत्मामें विकार रहता ही नहीं है। जो कि आत्मामें जन्मादि विकार प्रतीत होता है, वह आत्माका नहीं है, किन्तु शरीरका है। आत्मामें जब अनित्यत्व ही नहीं रहता है, तब उसका व्याप्य विकार भी नहीं रह सकता। आगे चलकर विस्तारसे आत्मामें नित्यत्वका साधन करेंगे, और जितने विकार होते हैं, वे सब-के-सब भूत, भौतिक आदि कार्योंमें रहते हैं, आत्मामें नहीं रहते। आत्मा तो केवल साक्षी है।

शङ्का—भले ही जन्मादि विकार आत्मामें न हों, परन्तु भोक्तृत्व आदि विकार जो कि चेतन-धर्म हैं, वे आत्मामें तो रह सकते हैं ?

समाधान—यह आपकी शङ्का ठीक है, परन्तु पहले भोगपदार्थ क्या है, इसका विचार करना आवश्यक है। सुख, दुःख आदिका अनुभव अथवा तन्निमित्त विषयका अनुभव भोग कहलाता है, और इसीका सम्बन्ध ही आत्मामें भोक्तृत्व है। लेकिन यह क्रियाके बिना नहीं हो सकता, आखिर बात यह है कि आत्मा स्वयंप्रकाश है, अतः अपने स्वरूपका अनुभव आप ही कर लेता है, इसमें दूसरेकी आवश्यकता नहीं है। विषय आदिका अनुभव अन्तःकरणके द्वारा करता है, अतः यह अवश्य मानना होगा कि आत्मामें भोक्तृत्व बुद्धि आदिके सम्बन्धसे है, स्वतः नहीं।

'आत्मेन्द्रियादिसंयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।
अविक्रियस्य भोक्तृत्वं स्यादहंबुद्धिविभ्रमात् ॥'

इत्यादि अनेक प्रकारके शास्त्रप्रमाणोंसे वास्तविक भोक्तृत्व बुद्ध्यादिमें है और आत्मामें वह कल्पित ही है।

और यह बात भी जानने लायक है कि जो वस्तु प्रागभावकी प्रतियोगी होती है उसीमें विकार रहता है, जैसे अग्नि, घट आदि अनित्य पदार्थोंमें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा प्रागभावका प्रतियोगी नहीं है, अतः उसमें विकारकी शङ्का ही नहीं हो सकती। अन्य मतावलम्बी जिन परमाणु आदिको नित्य मानते हैं, वे भी अपने मतमें अर्थात् वेदान्तीके मतमें प्रागभावके प्रतियोगी ही हैं, क्योंकि 'अतोऽन्यदार्तम्' इस श्रुतिसे आत्मातिरिक्त सभी पदार्थ अनित्य सूचित होते हैं।

शङ्का—आत्मा प्रागभावका प्रतियोगी नहीं है, इसमें क्या प्रमाण है?

समाधान—पहले तो यही प्रमाण कहते हैं कि उसके प्रतियोगित्वमें ही कोई प्रमाण नहीं है। और आत्मा अपने प्रागभावका स्वयं प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, क्योंकि प्रतियोगीके समयमें प्रागभावका अस्तित्व ही नहीं रहता, अतः जब एक कालमें ग्राह्य-ग्राहक नहीं हैं, तो आत्मासे प्रागभावका ग्रह कैसे हो सकता है। अन्य आत्मासे भी प्रागभावका प्रत्यक्ष तभी हो सकता है, जब कि आत्माका भेद हो, परन्तु 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' 'नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा एक ही है अनेक नहीं। स्वकीयानुमानसे भी स्वप्रागभाव सिद्ध नहीं हो सकता। साध्यसाधनका व्याप्तिग्रह नहीं है, बल्कि 'विमतः कालः, आत्मसत्तावान्, कालत्वात्, सम्मतवत्', इस अनुमानसे कालमात्रमें आत्मसत्ता ही सिद्ध होती है, प्रागभाव सिद्ध नहीं होता। 'आत्मा विक्रियावान्, आविर्भावतिरोभाववत्त्वात्, अग्न्यादिवत्', इस अनुमानसे भी आत्मामें विकार सिद्ध नहीं हो सकता। अग्न्यादि सावयव पदार्थ हैं, अतएव जन्य हैं, कारणके सद्भाव और असद्भावसे आविर्भाव और तिरोभाव होते हैं। आत्मा नित्य तथा निरंश है, अतः उसके आविर्भाव और तिरोभाव नहीं हो सकते। और दूसरी बात यह भी है कि तुम आविर्भाव और तिरोभावको आत्मामें कल्पित मानते हो या वास्तविक? प्रथम पक्ष इष्ट ही है, क्योंकि हम भी आविर्भाव और तिरोभाव आत्मामें कल्पित मानते ही हैं। द्वितीय पक्षमें शुक्ति-रजत, गन्धर्व-नगर आदिमें व्यभिचार है। रजतादि भी आविर्भूत और तिरोभूत प्रतीत होते हैं फिर भी इनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इसी तरह साध्य विक्रियावत्त्व भी कल्पित मानते हो या वास्तविक? इस विकल्पका भी पूर्व दोषसे ही खण्डन समझिए, यदि आत्मामें विकार नहीं है, तो विकार प्रतीत क्यों होता है? प्रतीत होनेका कारण यह है कि वास्तविक आत्मामें कर्तृत्वादि धर्म नहीं हैं। अज्ञानवश कर्तृत्वादिका भान होता है। आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर कर्तृत्वादि धर्मोंका भान नहीं होता। कर्तृत्व आदि धर्म चैतन्यके समान वास्तविक आत्मधर्म हैं, यह कहना भी ठीक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मातृस्थं मेयगं मानं प्रतीचि त्रयसाक्षिणि ।
न व्यापारयितुं शक्यं वन्हिं दग्धुमिवोल्मुकम् ॥७४॥

नहीं है, क्योंकि चैतन्य तो आत्मस्वभाव है और कर्तृत्वादि चैतन्याधीन हैं, अतः दोनों समान नहीं हो सकते ॥ ७३ ॥

यदि यह कहिए कि कर्तृत्व आदि आत्मधर्म हैं कि नहीं ? यदि प्रथम पक्ष मानिए, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि 'कर्तृत्वादिर्नात्मधर्मः, दृश्यत्वात्, घटादिवत्', इस अनुमानसे दृश्यमान वस्तुमात्र अनात्मधर्म ही सिद्ध होता है। द्वितीय पक्षमें साधक ही नहीं कह सकते, आत्मधर्मसाधक प्रमाणके बिना आत्मधर्म कैसे माना जाय ? यदि कहिए कि 'अहं कर्ता' इत्यादि प्रतीति ही कर्तृत्वादिसाधिका है, अतएव 'कर्तृत्वादि आत्मधर्म नहीं हैं' यह अनुमान उक्त प्रत्यक्ष प्रतीतिसे विरुद्ध है यह अयुक्त है, क्योंकि 'अहम्' इस प्रत्यक्षको प्रमातृकर्तृक मानते हैं या साक्षिकर्तृक ? प्रथम पक्षमें उक्त प्रमाता तो साक्षीका विषय है अतः प्रमातृकर्तृक क्रिया साक्षीका कर्म नहीं हो सकता, जैसे अग्नि स्वदाह्य उल्मुक (लुआठी) अङ्गारका दाह्य नहीं है, इसीको कहते हैं— **'मातृस्थम्'** इत्यादिसे ।

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाला तथा पट आदि पराक् (बाह्य) विषयोंका अवलम्बन करनेवाला मान अर्थात् अन्तःकरणवृत्तिविशेषका प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय, इन तीनोंके साक्षीभूत प्रत्यगात्मामें व्यापार नहीं कर सकते, अर्थात् प्रमाणका विषय साक्षी नहीं हो सकता है। जैसे अग्निसे दग्ध होनेवाला उल्मुक वह्निको दग्ध नहीं कर सकता, वैसे ही साक्षीसे प्रकाशित होनेवाले प्रमाता आदि साक्षीका प्रकाश नहीं कर सकते, प्रकृतमें जैसे वह्नि और उल्मुकका दाह्यदाहकभाव संसर्ग है, वैसे ही साक्षी और प्रमाता आदिका प्रकाश्य-प्रकाशकभाव संसर्ग है, यह समझना चाहिए ।

साक्षी स्वतः किसी विकारसे युक्त नहीं है, अतः वह प्रमाका कर्ता नहीं हो सकता, यही कारण है कि 'कर्तृत्व आदि वस्तुतः आत्माके धर्म नहीं हैं', इस अनुमानमें 'अहं कर्ता' इत्यादि कर्तृत्वावगाही प्रत्यक्ष बाधक नहीं हो सकता है ।

शङ्का—प्रमाता आदिका साक्षी द्रष्टा है या नहीं ? यदि प्रथम पक्ष माना जाय, तो वह भी—साक्षी भी—किसी अन्य साक्षीसे दृश्य है, ऐसा अनुमान हो सकता अर्थात् साक्षी साक्षीसे वेद्य है, द्रष्टा होनेसे, प्रमातृवत् ; यह अनुमान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परार्थसंहतानात्मभोग्यकर्त्रादिबोधिना ।
मानेन तद्विरुद्धोऽर्थः साक्ष्ययं मीयते कथम् ॥ ७५ ॥

हो सकता है। इस परिस्थितिमें साक्षीमें भी वास्तविक कर्तृत्व आदि धर्मोंकी सिद्धि हो सकती है, तो कर्तृत्व आदि आत्मधर्म नहीं हैं, यह पूर्वोक्त अनुमान बाधित हो जायगा। द्वितीय पक्षका अवलम्बन करनेसे 'साक्षी अचेतनः, अदृष्टत्वात्, घटादिवत्' इस अनुमान द्वारा साक्षी अचेतन ही सिद्ध होगा, अतः उसमें साक्षित्वकी ही अनुपपत्ति होगी ।

समाधान—जितने घट आदि बाह्य पदार्थ हैं, उनका चेतनके बिना प्रकाश नहीं हो सकता, इसलिए उनमें साक्ष्यत्व है और चिदात्मामें साक्षित्व है। चिदात्मामें, जो कि स्वयं प्रकाश है, साक्ष्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि वह आप ही अन्यका और अपना साक्षी है। उसके लिए अन्य साक्षीकी अपेक्षा नहीं है, यदि साक्षीकी अपेक्षा करेगा, तो वह खुद ही जड़ हो जायगा। अजड़ होनेपर साक्षीकी उसे अपेक्षा नहीं रहती। चेतनका अभेद होनेसे अन्य साक्षी है ही नहीं, अतएव वह आदित्यके समान स्वस्वरूपका आप ही प्रकाशक है।

फिर भी शङ्का होती है कि 'आत्मा मात्रादिग्राहकग्राह्यः, मात्राद्यविलक्षणत्वात्' जो जिससे विलक्षण होता है, वह उसके मानका विषय नहीं होता, जैसे आकाश घटसे विलक्षण है, अतः वह घटविषयक मानका विषय नहीं होता। प्रमाता आदिसे साक्षी विलक्षण है, इसमें 'साक्षी विलक्षणः, अपरार्थत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रमात्रादि' यह अनुमान प्रमाण है, साक्षी परार्थ है, इसमें 'विमतं परार्थम्, संहतत्वात्, शयनासनादिवत्' यह अनुमान प्रमाण है, इसीको बतलाते हैं—**'परार्थसंहता'** इत्यादिसे।

दूसरोंके लिए संहत भोग्यभूत प्रमाता आदि अनात्मपदार्थोंके बोधक मानसे (प्रत्ययसे) प्रमाण आदिसे विलक्षण साक्षीका ग्रहण कैसे हो सकता है? अर्थात् पराग्विषयक प्रमाण प्रत्यग्विषयक नहीं हो सकता। पराक् अनात्मा है और प्रत्यक् है आत्मा ॥ ७५ ॥

यदि आत्मा साक्षी है, तो उसका साक्ष्यके साथ कोई सम्बन्ध बतलाना चाहिए, सम्बन्धके बिना साक्षी नहीं हो सकता। और सम्बन्ध होनेसे वह असङ्ग नहीं हो सकता, इसपर कहते हैं—**'साक्षिसाक्ष्या०'** इत्यादिसे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साक्षिसाक्ष्याभिसम्बन्धः साक्षिवस्तुनि कल्पितः ।
साक्ष्यापेक्ष्यं न साक्षित्वं केवलानुभवात्मनि ॥ ७६ ॥

साक्षिसाक्ष्यका संबन्ध केवल अनुभवस्वरूप साक्षीरूप आत्मामें अविद्यासे कल्पित है, वास्तविक नहीं है अथवा जैसे प्रकाश्यस्वरूप घटादिके साथ संबन्धके विना भी सूर्यमें प्रकाशत्व है। अतः 'सविता प्रकाशते' इस व्यवहारमें प्रकाशकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि 'प्रकाशते' यह अकर्मक धातु है। इसलिए यहाँ कर्मकी अपेक्षा नहीं है। यदि 'प्रकाशयति' होता, तो किं प्रकाशयति ? अर्थात् किसका प्रकाश करता है, यह अपेक्षा हो सकती, किन्तु 'प्रकाशते' होनेसे प्रकाश्य कर्मकी नियमतः अपेक्षा नहीं होती; इसी तरह 'साक्षी केवलो निर्गुणश्चेतिता च' इत्यादि श्रुतिसे आत्मा चेतन होनेसे साक्षी है, इसमें साक्ष्य सम्बन्धकी आवश्यकता नहीं है।

यदि गुरुत्वादिके समान प्रकाशकत्वादिको भी नित्यसापेक्ष ही मानें, तो व्यवहारदशामें साक्ष्यसंबन्धको भी अविद्यानिमित्तक कह सकते हैं; इससे उसके असङ्गत्वमें हानि नहीं है। यदि वास्तविक धर्मसम्बन्ध मानें, तो असंगत्वकी हानि होगी। काल्पनिक धर्मसे नहीं होगी। मरुमरीचिकामें जलकी कल्पनासे मरुभूमि आर्द्र नहीं होती, अतएव भाष्यकारने कहा है—'यत्र यदध्यासः तत्कृतेन गुणेन दोषण वाणुमात्रेण स न सम्बद्ध्यते'। वस्तुतः कल्पना तो पुरुषधर्म है, वस्तुधर्म नहीं है, अतः पुरुषकी कल्पनासे वस्तुमें क्या विशेष हो सकता है, अर्थात् कुछ नहीं। यदि साक्षीमें वास्तविक धर्मसंबन्ध होगा, तो वह भी संहत होनेसे परार्थ हो जायगा, इससे वह साक्षी ही नहीं हो सकता। इसीलिए श्रुतिमें 'केवल' शब्द कहा गया है। 'केवल' शब्दका तात्पर्य है कि निरंश ही सांश और संहत कहलाता है। निर्गुण अर्थात् निधर्म है अर्थात् आत्मामें कोई वास्तविक धर्म नहीं रहता है। आत्माका साक्षित्वसाधक केवल चैतन्य ही है, इससे वह 'चेतिता' कहा गया है ॥ ७६ ॥

शङ्का—नैयायिकाभिमत इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि तो आत्मधर्म हो सकते हैं, देखिए—'इच्छादयः क्वचिदाश्रिताः, गुणत्वात्, रूपादिवत्' इस अनुमानसे इच्छादिमें द्रव्यसमवेतत्वकी सिद्धि होनेपर वे पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशके विशेष गुण नहीं हो सकते; क्योंकि ऐसा माननेसे बहिरिन्द्रियसे उनका प्रत्यक्ष प्रसक्त होगा, परन्तु ऐसा होता नहीं। एवं इच्छादि दिक्, काल,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनके भी गुण नहीं हो सकते, कारण कि इनमें विशेष गुण नहीं रहता है, अतः परिशेषसे आत्मगुण ही उन्हें मानना चाहिए। इच्छा आदिके आत्मगुण होनेपर कर्तृत्वादि भी आत्मधर्म हो सकते हैं, क्योंकि 'इच्छन् करोमि' इस प्रतीतिसे इच्छा और कर्तृत्वका समानाधिकरण्य एक ही वस्तुमें प्रतीत होता है।

सामाधान—यह कहना ठीक नहीं है, देखिए—क्या इच्छादिको आप स्वतन्त्र मानते हैं? या परतन्त्र? प्रथम पक्षमें हेत्वसिद्धि दोष होगा, क्योंकि यदि वे स्वतन्त्र हैं तो गुण कैसे हो सकते हैं, क्योंकि गुण धर्मिपरतन्त्र होते हैं। द्वितीय पक्षमें आश्रयके ज्ञानके सिवा गुणका ज्ञान ही नहीं हो सकता, अतः धर्मीका निश्चय होनेपर अमुक धर्मीमें वे समवेत हैं, यह निश्चय होगा; तदनन्तर इच्छादिमें गुणत्वका निश्चय होगा, पहले नहीं होगा। और इच्छादि जड़ हैं, अतः वे स्वतः अपने आश्रयके साधक नहीं हो सकते। यदि उन्हें आत्मस्वरूप माना जाय, तो आत्मासे वे दृश्य नहीं होंगे, और इस परिस्थितिमें उन्हें रूपादिके समान गुण मानना भी अनुचित होगा। और 'इच्छादयः अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः, तेषु असम्भावितत्वे सति गुणत्वात्, शब्दवत्' यह अनुमान भी श्रुतिविरोधसे असंगत है, क्योंकि 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्धीर्ह्रीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इस श्रुतिसे इच्छादि मनोधर्म ही प्रतीत होते हैं, अतः उनको आत्मधर्म माननेसे उक्त श्रुतिके साथ स्पष्ट ही विरोध होगा। और यह विचारिए कि इच्छादि कार्य हैं? या नित्य हैं? नित्य कहिएगा तो नित्यकी निवृत्ति नहीं होती; इसलिए इच्छादि सदा आत्मामें रहेंगे, फिर मुक्ति कभी न होगी और मुक्तिसाधनोपदेशपरक वेदान्तादि शास्त्र भी व्यर्थ हो जायँगे। प्रथम पक्षमें इच्छादिका कारण है या नहीं? यदि नहीं है, तो बिना कारणके खपुष्पके समान कभी होंगे ही नहीं अर्थात् इच्छादि नित्य असत् ही रहेंगे अथवा आत्माके समान उनका नित्य सद्भाव ही रहेगा। नित्यपक्षमें कभी मुक्ति नहीं होगी। नित्यासद्भावपक्षमें बन्ध ही नहीं होगा। प्रथम पक्षमें क्या इच्छादि ही अपने कारण हैं या दूसरा कोई अथवा इच्छादि और दूसरा ये दोनों मिलकर करण हैं? पहले पक्षमें आत्माश्रय है, क्योंकि स्वके प्रति स्व कारण नहीं हो सकता, कारण सिद्ध रहता है और कार्य असिद्ध रहता है; एक समयमें एक ही पदार्थमें सिद्धत्व और असिद्धत्व नहीं बन सकता। असिद्ध इच्छादिको कारण मानें, तो मोक्षकालमें भी इच्छा उत्पन्न हो जायगी, क्योंकि इच्छाकी असिद्धि तो वहाँ भी है। द्वितीय पक्षमें इच्छादिसे भिन्न हेत्वन्तर दृष्ट ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छाद्वेषादयोऽप्येते न चिदात्मनि सम्मताः ।
कामः सङ्कल्प इत्येवं मनोधर्मत्वसंश्रवात् ॥ ७७ ॥

नहीं है। अगर कोई दृष्ट है, ऐसा कहो और उसे कादाचित्क मानो, तो फिर कारणान्तरकी अपेक्षा होनेसे अनवस्थादोष होगा। यदि उसे सदातन मानो, तो सदा इच्छा होती ही रहेगी और मुक्तिका असंभव हो जायगा। तृतीय पक्षमें दूसरा कारण अचेतन है या चेतन ? प्रथम पक्षमें इच्छाजनकत्व उसका स्वभाव है या अस्वभाव ? प्रथम पक्षमें मोक्ष ही नहीं होगा। द्वितीय पक्षमें कभी भी वह इच्छाजनक नहीं होगा, क्योंकि जिसका जो स्वभाव नहीं है, उससे वह नहीं हो सकता। जैसे आकाशमें घटोत्पादकत्व स्वभाव नहीं है; अतः उससे घट नहीं हो सकता, इससे आत्मामें इच्छादि अविद्याकल्पित ही हो सकते हैं, वास्तविक नहीं; इस तात्पर्यसे कहते हैं—**'इच्छाद्वेषादयः'** इत्यादिसे।

इच्छा, द्वेष आदि धर्म आत्मामें वास्तविक नहीं है; क्योंकि 'कामः संकल्पः' इत्यादि श्रुतिसे वे मनोधर्म ही सुने गये हैं, अतः वही मानना चाहिए। और यह भी दोष है कि इच्छादि आत्मासे भिन्न हैं या अभिन्न हैं ? यदि भिन्न हैं, तो गाय और अश्वके समान उनका धर्मधर्मिभाव नहीं बन सकेगा। अभिन्न होनेपर भी यही दोष होगा। गौका गौके साथ धर्मधर्मिभाव जैसे नहीं हो सकता है, वैसे ही इच्छा और आत्माका अभेद होनेपर उनका परस्पर धर्मधर्मिभाव नहीं बन सकेगा। भिन्नाभिन्न मानना तो अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि भेदका भेदाभावरूप अभेदसे सदा विरोध ही है। अन्यथा भावाभावका विरोध ही सिद्ध नहीं होगा। और सर्वत्र भावाभावमूलक ही विरोध माना जाता है। आकाशकुसुमके समान तुच्छ भी नहीं कह सकते, क्योंकि आकाशकुसुमका प्रत्यक्ष नहीं होता है और इच्छा तो प्रत्यक्षसिद्ध है। इसलिए इन विचारोंसे यही सिद्ध होता है कि यद्यपि इच्छादि अपरोक्षसिद्ध हैं, तो वे भी आकाशनीलिमाके सदृश अनिर्वचनीय और आविद्यिक ही हैं ॥ ७७ ॥

और इच्छाको उभयहेतुक माननेपर द्वितीय कारण यदि चेतन हो, तो वह जीव है या पर अथवा दोनों ? यदि जीव है, तो वह अनर्थरूपसे इच्छादिको अपने आप जानता है या नहीं ? प्रथम पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं—**'आत्मनश्चेदमी'** इत्यादिसे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मनश्चेदमी सर्वेऽनर्थं कुर्यात् स्वयं कथम् ।
आत्मा जानन्यथा शत्रोस्तथा तस्मादनात्मवान् ॥ ७८ ॥

इच्छादि आत्मामें अनर्थ करते हैं, यह जानता हुआ जीव अनर्थके हेतु इच्छादिको क्यों करेगा ? यह तो किसी विचारशीलका कर्तव्य नहीं कि स्वयं ही शत्रुकी नाईं स्वात्मामें अनिष्ट सामग्रीका संचय करे, इसलिए इच्छादि अनात्म-पदार्थ हैं, यही पक्ष ठीक है। यदि इच्छादिमें अनर्थहेतुत्व जीवको विदित नहीं है, तो स्पष्ट ही इच्छादिमें अज्ञानकार्यत्व है; इसलिए इच्छादि आत्मासे उत्पन्न नहीं होते हैं, किन्तु अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं, यही मानना शास्त्र और युक्तिसे युक्त है।

यदि यह कहिए कि पर सर्वज्ञ है, अतः यह जानता है कि मुक्तमें इच्छा आदिकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक मुक्तिका उपाय है, इसलिए इच्छादिका वह उत्पादन नहीं करता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि मुक्तिका उपाय ज्ञान है या कर्म ? दोनों ही उस अवस्थामें नहीं हैं, तो प्रतिबन्धक कहांसे होगा ? यदि कहिए कि लौकिक दुःखनिवृत्तिके समान मुक्ति भी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप नहीं है, किन्तु 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादि श्रुति द्वारा मुक्त और पर इन दोनोंका साम्य है, इसलिए मुक्त परप्रेरित इच्छादि अनर्थका परिहार करेगा। तो यह भी आश्वासन ठीक नहीं है; क्योंकि मुक्त अवस्थामें परिहारके उपाय शरीरेन्द्रियादि नहीं हैं, अतः परिहारसाधनके अभावमें परिहार कैसे कर सकता है ? उस समय शरीरेन्द्रियादि माने जायँ, तो संसारी ही हो जायगा, मुक्त नहीं होगा। तो क्या आप ईश्वरके भी शरीरेन्द्रियादि मानते हैं ? यदि नहीं तो उत्पादन कैसे करेगा ? यदि शरीरादिके बिना भी ईश्वर उत्पादन कर सकता है, तो मुक्त भी वैसे ही परिहार कर सकेगा, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? आश्चर्य यह है कि ईश्वर मायावी है और मुक्त वैसा नहीं है।

यदि यह मानिए कि केवल जीव या केवल ईश्वर इच्छाका उत्पादक नहीं है, किन्तु दोनों मिलकर उत्पादक हैं, इसलिए मुक्तिदशामें इच्छादि उत्पन्न नहीं होते। यद्यपि जीवके मुक्त होनेसे इच्छादि उसके अनुकूल नहीं हैं, तथापि उसकी संसारदशामें वे अनुकूल हैं, इसलिए उत्पन्न होते हैं ?

यह भी ठीक नहीं है, जैसे केवल परजन्यत्वपक्षमें मुक्ति नहीं हो सकती,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अविद्ययाऽऽत्मधर्मत्वे दोषः कश्चिन्न विद्यते ।
तद्विजनस्य संसिद्धेर्वेदान्तरात्मबोधनात् ॥ ७९ ॥

वैसे ही उभयजन्यत्वपक्षमें भी मुक्ति नहीं होगी, क्योंकि ईश्वर स्वतन्त्र तथा सर्वशक्तिसम्पन्न है, अतः मुक्तको अनुकूल बनाकर इच्छादिका उत्पादन कर सकता है।

यदि कहिए कि मुक्तके उद्देश्यसे यही ईश्वरकी इच्छा है कि मुक्तको कभी दुःख न हो, इसलिए उनमें अनर्थोत्पादन नहीं करता, इससे मुक्तिमें दोष नहीं है ? तो दूसरेकी इच्छाका निश्चय आप कैसे कर सकते हैं। शायद ईश्वरकी ऐसी इच्छा ही न हुई, तो मुक्ति ही नहीं हो सकती ॥ ७८ ॥

हमारे (वेदान्तियोंके) मतमें तो कर्तृत्वादि अविद्यानिमित्तक हैं, परनिमित्तक नहीं हैं, अतः विद्यासे जब अविद्याकी निवृत्ति हो जायगी, तो 'कारणाभावात् कार्याभावः' इस न्यायसे मुक्तात्मामें अनर्थोत्पत्ति हो ही नहीं सकती, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'अविद्ययाऽऽत्मधर्मत्वे'** इत्यादिसे ।

इच्छादि अनर्थ आत्मामें अविद्यासे ही हैं, अर्थात् आविद्यिक धर्म हैं, वास्तविक नहीं, यह हमारा मत है, इसमें कोई दोष नहीं है। वेदान्त द्वारा आत्मबोध होनेपर इच्छादि अनर्थका परिहार होता है। अविद्याका परिहार तो मोक्षदशामें भी है, इसलिए उस दशामें अनर्थोत्पत्तिकी संभावना नहीं है।

अच्छा तो यह बतलाइए कि अविद्यानिवर्त्तक अविद्या है, अथवा अविद्याकार्य, या आत्मा आहोस्वित् दूसरा कोई ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्याकी निवृत्ति अविद्यासे कहिए, तो स्वव्याघात दोष होगा, क्योंकि स्व यदि स्वका निवर्त्तक होगा तो स्वोत्पत्ति ही न हो सकेगी। द्वितीय पक्ष भी असंगत है, क्योंकि कार्य स्वोपादानका निवर्त्तक नहीं होता; अन्यथा स्वस्थिति ही नहीं होगी। तन्तुकी निवृत्ति यदि पटसे हो जाय, तो पट कहाँ रहेगा, इसलिए कार्य कारणका निवर्तक नहीं होता। तृतीय पक्षमें दोष यह है कि यदि आत्मा निवर्त्तक होगा, तो अविद्याका उपलम्भ ही नहीं होगा, अर्थात् अविद्याकी सत्ता ही सिद्ध न हो सकेगी। चतुर्थ पक्षमें कोई प्रमाण ही नहीं है अर्थात् दूसरा कोई निवर्तक है, इसमें कुछ प्रमाण नहीं है ।

इसका उत्तर देते हैं—आत्मबोधनात् , अर्थात् स्वयंप्रकाश आत्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता ।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ॥ ८० ॥

स्वयंसिद्ध है । साधनचतुष्टयसम्पन्न श्रवणमननाधिकारी पुरुषको वेदान्त-वाक्यसे जो अन्तःकरणमें वृत्तिविशेष ब्रह्मात्मैक्य बोध होता है, उसमें अभिव्यक्त ज्ञानस्वरूप आत्मा सकार्य स्वाविद्याको निवृत्त कर सुस्थ हो जाता है । यदि कहिए कि स्वरूपभूत आत्मज्ञान यदि अविद्याका निवर्तक नहीं है, तो ज्ञानाभिव्यक्त स्वरूप कैसे निवर्तक होगा ? इसका उत्तर यह है—सूर्यके किरणसे तूल (रुई) भस्म नहीं होती, किन्तु चकमक पत्थर या सूर्यकान्तमणि में सूर्यकिरण अभिव्यक्त होकर तूलको भस्म कर देती है; उसी तरह यद्यपि केवल आत्माका स्वरूप अविद्याका निवर्तक नहीं है, अर्थात् साधक है, तथापि तादृशान्तःकरणवृत्तिविशेषमें प्रतिफलित—अभिव्यक्त—होकर अविद्याका नाशक होता है, यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं है ।

अच्छा तो अविद्याकी निवृत्ति आत्मासे अतिरिक्त है या आत्मस्वरूप है ? यदि अतिरिक्त है, तो अनात्मस्वरूप अनर्थ ही है, अतः निवृत्तिरूप अनर्थ मोक्ष नहीं हुआ । यदि आत्मस्वरूप है, तो आत्मा अविद्यानिवृत्तिका उपाय नहीं हो सकता, क्योंकि उपायोपेयभाव भेद रहनेपर ही होता है, अभेद होनेसे नहीं होता । और यदि वह आत्मस्वरूप है तो सिद्ध ही है, साध्य नहीं है, अतः आत्मज्ञान अविद्याका निवर्त्तक है; इसका कुछ अर्थ ही नहीं हुआ । नहीं, अर्थ यह है कि यद्यपि अविद्यानिवृत्ति आत्मातिरिक्त नहीं है, तो भी अविद्याविरोध्याकारत्वेन वह उपाय है और अविद्यानिवृत्त्यात्मना उपेय है । एक ही में अपेक्षाभेदसे और आकारभेदसे दोनोंका समावेश हो सकता है ॥७९॥

घटपटादि परागविषयक जो संवित् होती है; जिसको प्रमाणका फल मानते हो, वह वस्तुतः फल नहीं है; फल जन्य होता है; संवित् नित्य है; परन्तु प्रमाणप्रवृत्तिके अनन्तर प्रकाश होनेसे उसे फल कहते हैं, वही संवित् वस्तुतः वेदान्तप्रमाणका तात्पर्यवृत्तिसे प्रमेय है; वही आत्मा है; इसी तात्पर्यसे कहते हैं—**'परागर्थ०'** इत्यादिसे ॥

घट, पटादि परागर्थविषयक ज्ञान 'घटज्ञान उत्पन्न हुआ, पटज्ञान नष्ट हुआ, इत्यादि व्यवहारसे अनित्य है; तथा घटज्ञानसे यह ज्ञान भिन्न है एवं घटज्ञानजनक सामग्री और पटज्ञानजनक सामग्री भी भिन्न हैं; अतः वह नित्यात्मस्वरूप कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि वृत्तिके उत्पाद और नाशसे वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अबोधकत्वान्नो मात्वं स्यादितोऽन्यार्थकल्पने ।
वेदान्तानामतो ध्यानविध्याद्यर्थो न कल्प्यताम् ॥ ८१ ॥

भी उपत्ति और नाशकी प्रतीति होती है; वस्तुतः ज्ञान नित्य है, उसमें उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति औपाधिक है; जैसे 'घटाकाशो जातः, नष्टः' इत्यादि प्रतीतिसे आकाशमें भी औपाधिक उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति होती है; वैसे ही वृत्तिगत उत्पादविनाशका आरोप कर ज्ञानमें वैसी प्रतीति होती है। प्रत्यक्षादि प्रमाण परागर्थ-विषयक हैं, यह मानकर तत्फलभूत अखण्ड संवित् वेदान्तकी प्रमेय है; यह कहा गया है, वस्तुतः प्रत्यक्षादि परागर्थविषयक ही नहीं होते, अन्यथा निखिलद्वैताभावोपलक्षित ब्रह्ममें वेदान्त प्रमाण ही नहीं होंगे ॥८०॥

यदि द्वैतको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध मानेंगे, तो वेदान्तवाक्यसे द्वैताभावविषयक बोध ही नहीं होगा, तो अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य होगा, इसीको कहते हैं—**'अबोधकत्वात्'** इत्यादिसे ।

इससे—अद्वितीय ब्रह्मसे—अतिरिक्त द्वैतकल्पना करनेपर अर्थात् द्वैतमें प्रत्यक्षादि प्रमाण है; यह माननेपर प्रत्यक्षादिविरोधसे 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वेदान्त-वाक्यमें अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य हो जायगा, अतः ब्रह्मातिरिक्त द्वैत है नहीं, किन्तु कल्पित तत्तदुपाधिविशिष्ट ब्रह्म प्रत्यक्षादिविषय है और निरुपाधि ब्रह्म वेदान्तविषय है, यही मानना उचित है । इसीसे ध्यानादिविध्यर्थ वेदान्त है, यह कल्पना नहीं हो सकती। यदि वेदान्तप्रमाणसे अद्वैत ब्रह्मको ही परमार्थ सत्य मानते हो, तो कर्मकाण्ड अप्रमाण ही हो जायगा, क्योंकि क्रियाकारकादि भेदके बिना तो कर्म हो नहीं सकता। भेदाभावरूप अभेद माननेसे कर्तृ, कर्म, साधन और फल यदि सब अभिन्न ही हैं तो कर्म ही कैसे हो सकेगा है, अतः कर्मकाण्ड अप्रमाण हो जायगा। वेदान्तियोंके लिए यह अनिष्ट नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, वेदान्तमें भी अप्रामाण्याशङ्का होगी। कर्मकाण्ड जैसे वेद हैं, वैसे ही वेदान्त भी वेद हैं। यदि वेदैक-देश कर्मकाण्ड वेदान्तविरोधसे अप्रमाण हो जाय, तो कर्मकाण्डविरोधसे वेदान्त ही अप्रमाण क्यों न होगा; विशेष तो कोई है नहीं। वस्तुतः कर्मकाण्डके समान प्रत्यक्षादि प्रमाण भी विरोधी हैं, इसलिए 'भूयसामनुग्रहो न्यायः' इस न्यायसे वेदान्ताप्रामाण्य ही मानना ठीक है । इसलिए वेदान्तियोंको कर्मकाण्डका अप्रामाण्य इष्ट नहीं है, अन्यथा वेदान्तप्रामाण्यमें विश्वास न होगा, इस तात्पर्यसे कहते हैं—**'ननवेवमपि'** इत्यादिसे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नन्वेवमपि मानत्वव्याघातः स्यात् क्रियाविधेः ।
अद्वयात्मनि सम्बुद्धे कर्मानुच्छित्त्यसम्भवात् ॥ ८२ ॥
नैतदेवं यतो शेषमानानामपि मानता ।
आपरात्मावबोधात् स्याद्बोधात्पूर्वमबाधनात् ॥ ८३ ॥
ऊर्द्धं त्विष्टममानत्वमैकात्म्यमतिबाधनात् ।
मानान्यपि च बाध्यन्ते मानेन प्रबलेन हि ॥ ८४ ॥

वेदान्तवाक्य द्वारा अद्वितीयात्माके ज्ञात होनेके बाद उक्त प्रामाण्यके अनुरोधसे अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य अर्थ है, इसका स्वीकार करनेपर क्रियाविधिपरक कर्मकाण्डका प्रामाण्य ही नष्ट हो जायगा, अतः वेदान्तमें भी विश्वास नहीं रह सकता, क्योंकि दृष्ट अर्थके अनुकूल ही अदृष्ट अर्थ भी माना जाता है, दृष्टविरुद्ध नहीं, इससे कर्मकाण्डकी प्रामाण्यरक्षाके लिए द्वैत मानना ही ठीक है क्योंकि प्रत्यक्षादिके प्रामाण्यकी रक्षा इसीसे हो सकती है, अन्यथा नहीं ॥८२॥

प्रत्यक्षादि तथा कर्मकाण्डमें तात्त्विक प्रामाण्यका भङ्ग होगा, यह शङ्का है अथवा व्यावहारिक प्रामाण्यका भङ्ग होगा, यह शङ्का है ? यदि तात्त्विक प्रामाण्यके भङ्गकी आपत्ति हो, तो वह इष्ट ही है। द्वितीयके विषयमें कहते हैं—**'नैतदेवम्'** इत्यादिसे ।

आत्मज्ञानसे पहले विषयका बाध नहीं है, इसलिए सब प्रमाणोंमें प्रमाणता है, आत्मज्ञानोत्तर सब अनात्म पदार्थोंकी निवृत्ति हो जानेसे विध्यादिमें प्रामाण्य इष्ट नहीं है ॥८३॥

इसीको सविस्तर कहते हैं—**'उर्ध्वम्'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मज्ञानोत्तर ब्रह्मात्मैकत्वबुद्धिसे प्रपञ्चका बाध होनेपर प्रमाणोंमें अप्रमाण्य इष्ट ही है । प्रमाण भी प्रबल प्रमाणसे बाधित होता है, इसलिए प्रमाणोंमें परस्पर बाध्य-बाधकभाव नहीं होता, यह कहना व्यर्थ है । विद्वान् भी तो जब तक शरीर रहता है तब तक प्रमाणोंसे व्यवहार करता ही है, अतः कैसे कहते हैं कि ज्ञानके बाद विध्यादि प्रमाण नहीं हैं ? हां, वह व्यवहार करता है, परन्तु प्रत्यक्षादि वास्तविक प्रमाण हैं, यह जानकर नहीं, किन्तु पूर्ववासनानुवृत्तिवश उसका व्यवहार होता है ॥८४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्येनादिविधिबाधः स्यादहिंसाविधिना यथा ।
तथैवैकात्म्यमानेन द्वैतमानं प्रबाध्यताम् ॥ ८५ ॥
श्येनाहिंसाविधी एतौ दृष्टादृष्टार्थभेदतः ।
व्यवस्थितौ तयोरेकमबाध्यममतं यदि ॥ ८६ ॥
तर्ह्यद्वैतद्वैतमाने तत्त्वातत्त्वार्थगोचरे ।
उभयोर्व्यवतिष्ठेतां नरयोर्मुक्तबद्धयोः ॥ ८७ ॥

'ऐक्यज्ञानं मानबाधकं न , मानत्वात् , मानान्तरवत्' इस अनुमानसे जैसे प्रत्यक्षादि मान अनुमानादि मानका बाधक नहीं है, वैसे ही आत्मज्ञान भी मानका बाधक नहीं हो सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'श्येनादि'** इत्यादिसे ।

जैसे 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इस अहिंसाविधिसे 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस हिंसाविधिका बाध होता है, वैसे ही ब्रह्मात्मैक्यज्ञानप्रमाणसे द्वैतविषयक प्रत्यक्षादि प्रमाणका भी बाध होता है, अतः उक्त अनुमान व्यभिचारी होनेसे मान्य नहीं है ॥८५॥

शत्रुपर क्रोधसे जिस पुरुषका चित्त अपने वशमें नहीं है, वह अवश्य शत्रुकी हिंसा करना चाहता है, अतः उसके लिए ही श्येनादि याग शत्रुवधके उपायरूपसे प्रदर्शित किया गया है, और जिसका चित्त शत्रुपर द्वेष होनेपर भी अपने वशमें है अर्थात् जो शत्रुवधका परिणाम नरकनिपात आदि समझकर हिंसा नहीं करना चाहता, उसके प्रति अदृष्टार्थ 'मा हिंस्यात्' इत्यादि श्रुतिसे अहिंसाविधि है, अतः दोनों वाक्योंके व्यवस्थिताधिकारिपरक होनेसे उनका परस्पर बाध्य-बाधकभाव ही नहीं होता, इसीको कहते हैं—**'श्येना'** इत्यादिसे ।

श्येन और अहिंसाविधि ये दोनों उक्त अधिकारिपुरुषके भेदसे व्यवस्थित हैं, हिंसाविधि दृष्टार्थक है और अहिंसाविधि अदृष्टार्थक है, इसलिए इन दोनोंमें एक बाधक और अपर बाध्य नहीं है, अतः प्रमाणोंमें परस्पर बाध्यबाधक होनेका दृष्टान्त नहीं हो सकता, अतः ऐक्यज्ञानसे द्वैतविषयक प्रमाणोंका बाध नहीं बन सकता ॥८६॥

इसपर कहते हैं—**'तर्ह्यद्वैत'** इत्यादिसे ।

बद्ध पुरुषके लिए अतत्त्वार्थविषयक प्रत्यक्षादि प्रमाण और मुक्त पुरुषके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्माण्यतो विधीयन्तामविवेकिनरं प्रति ।
न तु विध्वस्तसकलकर्महेतुं बुधं प्रति ॥ ८८ ॥

लिए तत्त्वार्थगोचर अद्वैतज्ञान ये दोनों ही व्यवस्थित हैं, इसलिए कर्मकाण्डमें व्यावहारिक प्रामाण्य है, तात्त्विक नहीं है ।

'विमतं कर्मकाण्डप्रामाण्यं तात्त्विकम्, मानत्वात्, आत्मैक्यज्ञानवत्' इस अनुमानसे कर्मकाण्डका प्रामाण्य भी तात्त्विक ही है, व्यावहारिक नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञानके साथ कर्महेतु वर्ण, आश्रम और शरीर आदिके अभिमानका नाश होनेपर विद्वान्के प्रति कर्मका विधान नहीं हो सकता है ॥८७॥

उक्तानुमानमें मानत्वरूपहेतु तत्त्वावेदकत्वरूप है या व्यवहारिकत्वरूप है ? प्रथम पक्षमें साध्याविशिष्ट होनेसे साध्यसम हेतुदोष है, जैसे अनुमानसे पहले पक्षमें साध्य अप्रसिद्ध है, अतएव हेतु द्वारा साध्य है, वैसे ही यदि हेतु भी पक्षमें अप्रसिद्ध हो, तो साध्यवत् हेतु भी साध्य ही कहलाता है, अतः हेतुको सिद्ध करनेके लिए हेत्वन्तरकी अपेक्षा होगी, क्योंकि जब तक हेतु न होगा तब तक साधन नहीं हो सकता । यदि हेतु और साध्य दोनों साध्य ही रहें, तो साध्यसम हेत्वाभास हेतुदोष है, दुष्ट हेतुसे साध्य नहीं सिद्ध होता । द्वितीय पक्षमें स्वाप्निक बोधमें व्यभिचार है, इसलिए अनुमान द्वारा भी विध्यादिमें तात्त्विक प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता, इसे कहते हैं— **'कर्माण्यतो'** इत्यादिसे ।

अविवेकी, शरीराद्यभिमानी तथा अज्ञानी पुरुषके प्रति कर्मोंका विधान है, अतः कर्मकाण्डमें व्यावहारिक प्रामाण्य ही है । आत्मविद्याके उदय द्वारा जिनका अज्ञानके साथ कर्मके प्रति हेतुभूत शरीराद्यभिमान निवृत्त हो गया है, ऐसे विद्वान्के प्रति कर्मोंका विधान नहीं है । विद्वान् कर्मके अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि ऐक्यप्रमासे सम्पूर्ण साध्यसाधनफलभेद ही जब विद्वान्का निवृत्त हो गया है, तो वह कर्मोंमें प्रवृत्त होगा कैसे ?

यदि कहिए कि विद्वान्के प्रति कर्मविधि न सही, परन्तु विविदिषावान्के प्रति तो 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिसे कर्मका विधान हो सकता है, इसलिए वेदान्तकी तरह विध्यादिमें भी तात्त्विक प्रामाण्य मानना उचित है, तो यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विवेक, वैराग्य और विविदिषा आदिसे युक्त पुरुष कर्मसंन्यासपूर्वक श्रवण मननादिका अधिकारी है, यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्यग्विमृदिताशेषध्वान्तस्य च न पूर्ववत् ।
अज्ञानादि पुनः कर्तुं शक्यते हेत्वसम्भवात् ॥ ८९ ॥
सर्वकर्मनिरासेऽतो ऽधिकारः स्याविवेकिनः ।
बुभुत्सोरपि संसिद्धो बुद्धत्वपदवाञ्छनात् ॥९०॥

आत्मयथार्थज्ञानका हेतु है, अतः कर्मप्रवृत्ति प्रतिकूल होनेसे पूर्वोक्ताधिकारीका कभी भी उसमें अधिकार नहीं है, इसलिए अविवेकीके प्रति कर्माधिकार है, अतः कर्मकाण्डमें व्यावहारिक ही प्रामाण्य है, तात्त्विक नहीं ॥८८॥

'सम्यग्विमृदिता' इत्यादि ।

समीचीन आत्मज्ञानसे जिनका सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो गया है, वे पहलेकी तरह अज्ञानादिप्रयुक्त कर्म नहीं कर सकते । कर्मका मूल अज्ञान है, अज्ञानका विरोधी तत्त्वज्ञान है । जब तत्त्वज्ञान होनेपर निःशेष अज्ञानकी निवृत्ति होती है, तो कर्म कैसे हो सकता है ॥८९॥

यदि कहिए कि जब तक अपना ज्ञान न होगा तब तक विवेकी भी कर्म नहीं त्यागता, ज्ञान होनेपर ही त्याग करता है, पहले नहीं; क्योंकि 'यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' ऐसा स्मृतियोंमें लिखा है, अतः ज्ञानीको न सही, परन्तु विविदिषुका तो कर्माधिकार है ही, इसपर कहते हैं— **'सर्वकर्मनिरासे'** इत्यादिसे ।

विवेकी विविदिषुको भी सब कर्मोंके त्याग ही में अधिकार है, अर्थात् जब तक विविदिषा उत्पन्न न हो, तब तक कर्माधिकार है । कर्म विविदिषाका कारण है । विविदिषाके उत्पन्न होनेपर आत्मज्ञानकी ही कामना होती है, सो तो कर्मसंन्यासपूर्वक श्रवणादिसे ही होगा, इसलिए प्रयोजनाभावसे कर्मत्याग ही उचित है, कर्त्रादिकारकव्यवहार ही कर्म कहलाता है, अतः कर्त्रादिकारकका व्यवहार रहनेपर आत्मजिज्ञासा नहीं होगी । अगर होगी भी, तो शुद्ध वस्तुके दर्शन करनेमें समर्थ नहीं हो सकती । कर्ममें ही चित्त लगा रहेगा, यह किया, वह करना बाकी है इत्यादि । इसलिए विवेकोत्पत्ति ही कर्मकी सीमा है, विवेक हो जानेपर कर्मका त्याग ही श्रेयस्कर है । गीतामें भी यही उपदेश दिया है—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते ।
शुद्धे वस्तुनि सिद्धे तु कारकव्याप्रृतिर्न हि ॥९१॥
कारकाकारकधियोर्नैकदैकत्र वस्तुनि ।
विरोधात्सम्भवोऽस्तीह प्रकाशतमसोरिव ॥९२॥
अविरोधः क्रमेण स्यात् स्थितिगत्योरिवेति चेत् ।
नात्मज्ञानस्य कूटस्थवस्तुतन्त्रत्वहेतुतः ॥ ९३ ॥

'यज्ञो दानं तपः कर्म' इत्यादि उक्त वाक्य नित्यकर्मस्तुतिपरक है ॥९०॥

जब निष्प्रपञ्चतत्त्वविषयक विवेक हो गया तब कर्मका निमित्त अभिमान ही शिथिल हो गया, इसलिए कर्माधिकार नहीं हो सकता, इसीको कहते हैं—**'कारकव्यवहारे'** इत्यादिसे ।

कारकव्यवहार और कर्मव्यवहारके रहनेपर पुरुष शुद्ध वस्तुको—आत्मतत्त्वको—नहीं देख सकता, शुद्ध वस्तु देखनेपर अर्थात् आत्मज्ञान होनेपर अज्ञानका नाश होता है, फिर कारकव्यापार या कर्म रहते ही नहीं ॥९१॥

और यह भी प्रश्न है कि विवेकीको कारक (कर्म) और अकारककी (आत्माकी) बुद्धि है या नहीं ? कर्म करनेके लिए कारकज्ञान आवश्यक है, इसलिए दोनों ज्ञान एक समयमें हैं या क्रमशः हैं ? पहले पक्षमें कहते हैं—**'कारकाकारक'** इत्यादिसे ।

एक समयमें एक वस्तुके विषयमें कारक और अकारकका ज्ञान प्रकाश और अन्धकारके सदृश परस्पर विरुद्ध होनेसे नहीं हो सकता । जैसे एक ही स्थलमें एक समयमें प्रकाश और अन्धकार नहीं रहते, वैसे ही एक ही आत्मामें एक समयमें कारकत्व (कर्तृत्व) और अकारकत्व ये दोनों ज्ञान नहीं हो सकते ॥९२॥

जब तक स्वात्मामें कर्तृत्वज्ञान न होगा तब तक हम कर्त्ता हैं, ऐसा नहीं समझेगा, प्रत्युत वेदान्त द्वारा उसे यह निश्चय हुआ है कि हम अकर्ता हैं, अतः कर्माधिकारी न होनेसे कर्म नहीं कर सकता ! द्वितीय पक्षसे अर्थात् क्रमशः, इस पक्षमें कहते हैं—**'अविरोधः क्रमेण स्यात्'** इत्यादिसे ।

स्थिति और गतिनिवृत्ति ये दोनों क्रमशः गति, निवृत्ति और स्थिति स्वरूप हैं, पर भावाभावात्म होनेसे विरुद्ध हैं । फिर भी जैसे क्रमसे पूर्व गति पश्चात् स्थिति या पूर्व स्थिति पश्चात् गति दोनों कालभेदसे एक ही देवदत्तादिमें रहते हैं वैसे ही कालभेदसे आत्मामें कर्तृत्व और अकर्तृत्व रहनेमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नौष्ण्यात्मको मितो वन्हिः क्रमशोऽक्रमशो ऽथवा ।
वस्तुतः शीततामेति कर्तृतन्त्रं तथा भवेत् ॥ ९४ ॥

आपत्ति नहीं है ? यह ठीक है, किन्तु यह तो कहिए कि पहले कारकत्वज्ञान पश्चात् अकारकत्वज्ञान यह क्रम विवक्षित है या पहले अकर्तृत्वज्ञान पश्चात् कर्तृत्वज्ञान यह क्रम अभीष्ट है ? प्रथम पक्ष तो मानते हैं, क्योंकि संसारदशामें अज्ञानवश अपनेको कर्ता मानता ही है और विवेकादि साधनसंपन्न होनेपर अकर्ता समझता है, यह तो ठीक ही है, किन्तु द्वितीय पक्षमें अकर्ता आत्मा है, यह निश्चय विवेकादिसम्पन्न पुरुषको ही होगा, दूसरेको नहीं; क्योंकि विवेकी होनेपर मोक्षाधिकारी है, कर्माधिकारी नहीं, क्रमसे—प्रथम अकर्ता पश्चात् कर्ता इस क्रमसे—आत्मामें कर्तृत्वाकर्तृत्वज्ञान नहीं हो सकता, स्थिति और गति तो पुरुषतन्त्र याने पुरुषाधीन हैं, पुरुषेच्छासे स्थितिपूर्वक गति और गतिपूर्वक स्थिति ये दोनों होते हैं । चाहे ठहरके जाय या जाकर ठहरे, पर ज्ञान तो वस्तु-तन्त्र अर्थात् वस्त्वधीन है, जैसी वस्तु रहेगी, वैसा ही ज्ञान होगा, अन्यथा नहीं। जब वेदान्तप्रमाण द्वारा आत्मा कूटस्थ अविकारी नित्य है, यह निश्चय हो गया तब कर्तृत्वादिविकारशून्य होनेसे, उसमें कर्तृत्वादिज्ञान कैसे हो सकेगा ? कर्तृत्वादिज्ञानोत्पादक अज्ञानादि पूर्वके समान तो हैं नहीं, क्योंकि उनका तत्त्वज्ञानसे समूल नाश हो गया है ॥९३॥

फिर भी आत्मा अकारक है, यह निश्चय होनेपर कल्पित कारकत्वका ज्ञान होगा या अकल्पित कारकत्वका ? आद्य पक्षमें कल्पिताधिकारी जो वस्तुतः अनधि-कारी है, वह भी कर्माधिकारी हो जायगा, परन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि वास्तविक अधिकारी विशेषण विवक्षित है । कल्पित ब्राह्मणादि यागाधिकारी नहीं हैं, किन्तु वास्तविक, इस द्वितीय पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं—**'नौष्ण्यात्मको'** इत्यादिसे ।

जैसे उष्णस्वभाव अग्नि क्रमसे—कालभेदसे—या अक्रम—एक कालमें—भी शीत-स्वभाव नहीं होती, कारण उष्णत्व या शीतत्व वस्तुतन्त्र हैं, वैसे ही कर्तृत्वादि वस्तुतन्त्र हैं अतः आत्मामें कभी वास्तविक नहीं रहते, किन्तु कल्पित ही रहते हैं, वास्तविक तो अकर्तृत्व ही है । 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादि वाक्यप्रमाणसे षोडशिग्रहणाग्रहणके सदृश कर्मवाक्यके प्रामाण्यसे आत्मामें कर्तृत्व और वेदान्तवाक्यके प्रामाण्यसे अकर्तृत्व ये दोनों धर्म मानने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेदाभेदावुपाश्रित्य यो ऽप्याह ज्ञानकर्मणोः ।
एकाधिकारं, सोऽप्यत्र विरुद्धत्वं कथं नुदेत् ॥ ९५ ॥

चाहिएँ, अन्यथा—अकर्तृत्व ही माननेपर—कर्तृत्वबोधक कर्मवाक्य अप्रमाण हो जायँगे, यह विचार ठीक नहीं है शोडशिग्रहण पुरुषतन्त्र है, ग्रहण करना न करना पुरुषकी इच्छापर निर्भर है, इसलिए जिसकी इच्छा हो वह ग्रहण करे, जिसकी इच्छा न हो वह ग्रहण न करे, फलमें उभयथा हानि नहीं है, इसीसे उसे विकल्प कहा जाता है । प्रकृतमें कर्तृत्वादि वस्तुतन्त्र हैं, इसलिए विकल्प नहीं हो सकता । विकल्प माननेपर वस्तु विरुद्धधर्मविशिष्ट होनी चाहिए, परन्तु वह हो नहीं सकती । अग्नि शीत और गरम उभयस्वभाव नहीं देखी गई है ॥९५॥

भास्करके मतानुयायी ब्रह्ममें भेदाभेद दोनों मानते हैं, अतः उनके मतसे कर्तृत्वाकर्तृत्व दोनों आत्मामें पारमार्थिक धर्म हो सकते हैं ? इस पर कहते हैं—**'भेदाभेद'** इत्यादिसे ।

भेदाभेद मानकर एक पुरुषके भी ज्ञान और कर्ममें अधिकार है, यह जो कहा गया है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि कर्तृत्वाकर्तृत्वका विरोध कैसे हटेगा ? जब तक विरोध दूर न हो सके तब तक दोनों धर्म एक धर्मीमें नहीं रह सकते, अतः यह मत भी ठीक नहीं है । भास्करका यह मत है कि 'एतस्मादात्मनः आकाशः संभूत आकाशाद् वायुरित्यादि और 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियोंसे एवं 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति इत्यादि श्रुति और अथातो ब्रह्मजिज्ञासा 'प्रकृतिश्च'इत्यादि वेदान्तसूत्रोंसे तथा 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' इत्यादि स्मृतियोंसे एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाका समर्थन द्वारा यह निश्चय किया है कि ब्रह्म जगत्का उपादान तथा निमित्त दोनों कारण है, ब्रह्म नित्य है, किन्तु कूटस्थ नित्य नहीं है, परिणामी नित्य है, जिसके परिणाम होनेपर भी 'तदेवेदम्' अर्थात् (वही यह है) यह बुद्धि नष्ट नहीं होती, वह परिणामी नित्य कहलाता है ।

जैसे सुवर्णका कुण्डलरूपसे परिणाम होता है, किन्तु यह वही सुवर्ण है, इस बुद्धिका नाश नहीं होता, इसलिए सुवर्णादि परिणामी नित्य हैं, वैसे ही ब्रह्मका जगद्रूपसे परिणाम होनेपर भी ब्रह्मबुद्धि नष्ट नहीं होती, अतः ब्रह्म परिणामी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतश्चाज्ञानकर्मादिधर्मशून्यमविक्रियम् ।
अक्रियाकारकं वाञ्च्छन्नानन्दं श्रुतिमानतः॥ ९६ ॥

नित्य है। अप्रच्युतस्वभाव होनेसे वह अकारकबुद्धिका भी विषय है। और परिणामभेदसे अनेकविध होनेके कारण कारकबुद्धिका भी विषय है, अतएव भेदनिमित्तक होनेपर भी कर्मकाण्ड प्रमाण ही है, परिणामापेक्षासे भेद पारमार्थिक ही है, स्वभावाप्रच्युत्यपेक्षासे कूटस्थ तथा अद्वितीय भी कह सकते हैं।

इसीसे भेदाभेदका प्रतिपादन करनेवाले द्वैताद्वैततियोंके मतमें भी प्रामाण्य अक्षुण्ण रहता है और अभेदांश लेकर एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी प्रतिज्ञा भी समर्थित हो जाती है, इत्यादि पूर्वपक्ष भी हो सकता है। इसका निराकरण करते हैं—**विरुद्धत्वं कथं नुदेत्**। आपका कहना तो ठीक है, किन्तु इस मतमें असल बाधक विरोध है। उसके परिहारका उपाय तो है नहीं, जहाँ भेद रहता है, वहाँ अभेद नहीं रहता। जो महिषादि गउसे भिन्न है उस महिषादिमें गवाभेद नहीं रहता, अन्यथा विरोध ही संसारसे सदाके लिए कूंच कर जायगा। अतः एकमें भी अनेक बुद्धि होगी, इसलिए भिन्नत्व और अभिन्नत्व वस्तुतन्त्र है, बुद्धितन्त्र नहीं, अतः वास्तवमें भेदाभेद एकमें नहीं रह सकता। हां, एकको पारमार्थिक और दूसरेको कल्पित माने, तो विरोध नहीं, यदि भेद वास्तविक माने तो वस्तुतन्त्र होनेसे भेदबुद्धि प्रमाण होगी और भेदप्रमाके होनेपर अभेदबुद्धि उत्पन्न होगी नहीं। यदि अभेद पारमार्थिक होगा तो, उसके वस्तुतन्त्र होनेसे अभेदबुद्धि ही प्रामाणिक होगी, तो विरोधसे भेदबुद्धि न होगी, इसलिए चाहे भिन्न ही मानिए या अभिन्न ही मानिए, दोनोंका एकमें होना बनता नहीं, यदि एकमें भिन्नाभिन्नत्व वास्तव नहीं, अर्थात् एकमें भिन्नाभिन्नत्वबुद्धि यदि अप्रमाण है, तो कोई क्षति नहीं है।

यदि प्रामाणिक कहिए, तो उक्त विरोधका परिहार नहीं हो सकता। आत्मामें भिन्नाभिन्नत्वबुद्धि कल्पित है, तो अभिन्नत्वबुद्धि पारमार्थिक और भिन्नत्वबुद्धि कल्पितभेदविषयक होनेसे अप्रामाणिक है, यहीं मानना उचित है। व्यावहारिक होनेसे व्यवहारदशामें अपेक्षित है, अभेदके पारमार्थिक होनेसे परमार्थ मुक्तिदशामें वह अपेक्षित है। आत्मा सदा एकरस है, 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुतिमें, एक एव अद्वितीय, ये तीन विशेषण हैं, इनके प्रयोजन प्रदर्शनके समय यह विशेषरूपसे कहेंगे कि आत्मामें भेदाभेद नहीं बन सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र

(क) विभाग

१-भगवन्नामकौमुदी—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश' टीकासहित। सम्पादक-आचार्यवर गोस्वामी दामोदरशास्त्री। पृ० सं० १५०, मू.—आ. १०

२-भक्तिरसायन—भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर श्रीमधुसूदनसरस्वती-रचित प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें आचार्यवर गोस्वामी दामोदर-शास्त्रीरचित टीकासे विभूषित। सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदरशास्त्री।

पृ० सं० १७०, मू.—आ. १२

३-शुल्बसूत्र—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़की बनाई हुई सरलवृत्तिसहित। सं०-वेदाचार्य विद्याधर गौड़। पृ० सं० ६०, मू.—आ. ४

४-कात्यायनश्रौतसूत्र—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त कितने ही यज्ञोंकी विधियाँ साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायनप्रणीत, वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत। सं०—वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़।

पृ० सं० लगभग १०००, मू.—रु. ६

५-प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्दव्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृत टीकासहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० ३४०, मू.—रु. २

६-भक्तिरसामृतसिन्धु—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूप-गोस्वामीप्रणीत, श्रीजीवगोस्वामीप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित। सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदरशास्त्री। पृ० सं० ६२५, मू.—रु. ३

७-प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(द्वितीय भाग) पृ० सं० ४५०, मू.—रु. २ आ. ४

८-तिथ्यर्क—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकरविरचित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० ३४०, मू.—रु. १ आ० ८

९-परमार्थसार—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०—न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्ल।

पृ० सं० १००, मू.-आ. ६

१०-प्रेमपत्तन—[श्रीकृष्णभक्तिसे सराबोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंसकी कृति तथा अद्भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत। सं०-साहित्याचार्य श्रीकृष्ण-पन्त शास्त्री। पृ० सं० २३०, मू.-रु. १

(ख) विभाग

१-खण्डनखण्डखाद्य—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पण्डितवर श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित। पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार) मू.-रु. २ आ. १२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२-काशी-केदार-माहात्म्य—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयान त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्णपन्त शास्त्री।
पृ० सं० २६ + ६०४, मू.—रु. २ आ.

३-सिद्धान्तबिन्दु—(वेदान्तका प्रमेयबहुल अपूर्व ग्रन्थ) आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदनसरस्व विरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्णपन्त शास्त्र
पृ० सं० २८०. मू.—रु. १ आ.

४-प्रकरणपञ्चक—भगवान् शङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि प्रकरण-ग्रन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह। सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्णपन्त शास्त्री।
पृ० सं० १३१, मू.-आ.

५-ब्रह्मसूत्र—शाङ्करभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित [सदाशिवेन्द्र सरस्वतीकृत ब्रह्मत प्रकाशिकावृत्तिके अनुसार सूत्रोंका पदच्छेद पदार्थोक्ति और सुविशद भाषार्थ एवं वैयाि न्यायमालाके सन्देह, पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त निर्देशपुरस्सर सुस्पष्ट और विशद भाषा विभूषित, वेदान्तप्रेमियोंके लिए अत्यन्त उपादेय और अनुपम ग्रन्थ] कपड़ेकी प तीन जिल्दोंमें प्रकाशित छपाई, सफाई सभी मनोहर, पृष्ठ संख्या २६०० के लगभ मूल्य—[तीनों खण्डोंका] १४) रु०।

६-सिद्धान्तलेशसंग्रह—[अद्वैतवेदान्तके भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंका संग्रहात्मक अपूर्व ग्र सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र श्रीमदप्पय्यदीक्षित विरचित। वेदान्ताचार्य पं० मूलशङ्करशास्त्रि विरचित भाषानुवादसे विभूषित। सं०—प्रिंसिपल पं० श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल त साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० २३ + ५५६, मू.—रु.

७-वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली—[वेदान्त संसारमें एक जीववादका प्रतिपादक अद्वि ग्रन्थ] श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीप्रकाशानन्दस्वामिविरचित। पं० प्रेमवल्लभशा (फतेहगढ़ गवर्नमेण्ट हाईस्कूलके संस्कृतके प्राधानाध्यापक) द्वारा विरचित भा नुवादसहित। सं०—प्रिंसिपल पं० श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल तथा पं० श्रीकृष्णपन्तशा साहित्याचार्य। पृ० सं० १० + १८६, मू.—रु.

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

१. षट्सन्दर्भ, विविध टीकाओंसे विभूषित।

२. शतपथब्राह्मण (मूलमात्र)।

मिलनेका पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

(२) गीताप्रेस, गोरखपुर।

नोट—अच्युतग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्य दी जाती हैं। 'अच्युत' मासिक पत्रके स्थायी ग्राहक (ख) विभागके स्थायी ग्राह समझे जायेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे षष्ठं प्रसूनम्

श्रीमदप्पय्यदीक्षितविरचित

सिद्धान्तलेशसंग्रह

[भाषानुवादसहित]

प्रकाशनस्थान—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय,

काशी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे षष्ठं प्रसूनम्

श्रीमदप्पय्यदीक्षितविरचितः

सिद्धान्तलेशसंग्रहः

वेदान्ताचार्यपं० श्रीमूलशङ्करव्यासविरचितेन सटिप्पणभाषानुवादेन

समलङ्कृतः

श्रीजो० म० गोयनका-संस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षेण पं० श्रीचण्डीप्रसादशुक्लशास्त्रिणा

अच्युतग्रन्थमालाध्यक्षेण पं० श्रीश्रीकृष्णपन्तशास्त्रिसाहित्याचार्येण च

सम्पादितः।

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः, काशी।

संवत्

प्रथमावृत्तिः] १९९३ [मूल्यम् ३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी ।

मुद्रक
ना० रा० सोमण
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'भूमिका'

—※—

कुछ लिखनेके पहले उन श्रद्धेय महानुभावोंको मैं कदापि नहीं भूल सकता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थके अनुवादकी आशातीत सफलताके लिए अनेक कष्टोंको सहकर परिश्रम किया है और उपयोगी सलाह देते रहे हैं। यदि उनकी सलाह न होती तो ऐसे क्लिष्ट ग्रन्थका अनुवाद होना प्रायः असम्भव ही था; वे महानुभाव हैं—श्रद्धेय वयोवृद्ध पू० पं० चण्डिप्रसाद शुक्लजी और मान्यवर श्रद्धेय पं० श्रीकृष्ण पन्तजी।

सिद्धान्तलेशसंग्रहके प्रणेता पण्डित अप्पय्यदीक्षित उन महान् पण्डितोंमें थे, जिनका नाम आज तक विद्वत्समुदायमें बड़े गौरव और श्रद्धासे लिया जाता है, इन्होंने अपनी लेखनीसे ऐसे-ऐसे अनेक ग्रन्थ लिख डाले हैं, जिन्हें देखकर सरस विद्वानोंका मस्तक अपने-आप उनके चरणोंमें झुक जाता है।

इतिहासज्ञोंने ई० १५२० से १५९३ तक इनका जीवनकाल निश्चित * किया है। पं० अप्पय्यदीक्षितका जन्म काञ्चीके आस-पास 'अडपप्पल' गाँवमें हुआ था, अभी तक उनके कुछ वंशज उस प्रान्तमें विद्यमान हैं। अप्पय्य-दीक्षितके पितामहका नाम आचार्यदीक्षित था, क्योंकि उन्होंने न्यायरक्षामणि ग्रन्थमें † पितामहका नामग्रहण करके नमस्कार किया है। इनका

---

* यद्यपि इस विषयमें कुछ मतभेद है अर्थात् कुछ लोग १५५०—१६२२ तक इनकी स्थितिका काल मानते हैं, तथापि तत्सम्बन्धी विचार पुरुषार्थचतुष्टयान्यतमोत्पादक न होनेके कारण प्रकृतमें अनावश्यक-सा है। और ऐतिहासिक लोग अन्य ग्रन्थोंसे भी इसका अवधारण कर सकते हैं। इसलिए मैं इसपर अधिक लिखना पसन्द नहीं करता।

† 'आसेतुबन्धतटमा च तुषारशैलादाचार्यदीक्षित इति प्रथिताभिधानम्।
अद्वैतचित्सुखमहाम्बुधिमग्नभावमस्मत्पितामहमशेषगुरुं प्रपद्ये॥'
इस प्रकारका श्लोक न्यायरक्षामणिमें उपलब्ध होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्षःस्थलाचार्य भी दूसरा * नाम था। ये अपने समयके प्रौढ़ विद्वान् और दानी थे। उन्होंने बड़े-बड़े अनेक यज्ञ किये थे।

अप्पय्यदीक्षितके पिताका नाम 'रङ्गराजाध्वरी' था। ये भी अनेक शास्त्रोंमें अप्रतिम पण्डित थे। अप्पय्यदीक्षितने इन्हींसे सब शास्त्र पढ़े थे, इस विषयका स्वयं दीक्षितजीने ही अनेक स्थानोंमें स्पष्टीकरण किया है †।

अनेक प्रमाणोंसे दीक्षितजीका नाम 'अप्प' दीक्षित ही मालूम होता है, परन्तु आन्ध्र, कर्णाटक आदि देशोंकी भाषासरणिसे इनके 'अप्पय या अप्पय्य' ऐसे भिन्न नाम भी व्यवहारमें प्रचलित हैं। ये विजयनगरके अधीश्वर चिन्न बोम्म, नरसिंहदेव और वेंकटपतिरावके समकालिक थे, इसमें ‡ अनेक प्रमाण मिलते हैं। सिद्धान्तकौमुदीके विख्यात रचयिता भट्टोजीदीक्षितने भी सिद्धान्त-कौमुदीकी रचनाके बाद दक्षिणमें जाकर अप्पय दीक्षितजीसे पढ़ा था, उसके बाद उन्होंने तत्त्वकौस्तुभनामका ग्रन्थ लिखा था, जिसमें अपने गुरु अप्पयदीक्षितको ही प्रणाम किया है।

अप्पयदीक्षितने अपने जीवनकालमें सौसे अधिक ग्रन्थ लिखे थे, ऐसा प्रमाण मिलता है, × क्योंकि उनके नामके आगे 'चतुरधिकशतप्रबन्धनिर्वाहका-

---

* यहाँपर चित्रमीमांसाका कुछ अंश प्रमाणरूपसे उद्धृत करते हैं—यथास्मत्कुलकूटस्थ-वक्षस्थलाचार्यविरचितवरदराजवसन्तोत्सवे—

'काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गीं वीक्ष्य साक्षादिव श्रियम्।
वरदः संशयापन्नो वक्षःस्थलमवेक्षते ॥'

† इसी ग्रन्थके 'तातचरणव्याख्यावचःख्यापितान्' 'विद्वद्गुरोर्विदितविश्वजिदध्वरस्य' इत्यादि पद्य इसमें प्रमाण हैं।

‡ इस विषयमें ये प्रमाण मिलते हैं—

हेमाभिषेकसमये परितो निषण्णसौवर्णसंहतिमिषाच्चिनबोम्मभूपः।
अप्पय्यदीक्षितमणेरनवद्यविद्याकल्पद्रुमस्य कुरुते कनकालवालम् ॥१॥
द्विर्भावः पुष्पकेतोर्विबुधविटपिनां पौनरुक्त्यं विकल्पश्चिन्तारत्नस्य वीप्सा
तपनतनुभवो वासवस्य द्विरुक्तिः। द्वैतं देवस्य दैत्याधिपमथनकलाकेलि-
कारस्य कुर्वन्नानन्दं कोविदानां जगति विजयते श्रीनृसिंहः क्षितीन्द्रः ॥२॥

असुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः।
नियोगाद् व्यङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः ॥३॥

ये तीनों पद्य क्रमशः समरपुङ्गवदीक्षितके यात्राप्रबन्धमें, अप्पयदीक्षितविरचित चित्र-मीमांसामें और कुवलयानन्दमें मिलते हैं।

× यद्यपि अप्पय्यदीक्षितके सभी ग्रन्थोंके नाम ज्ञात नहीं हो सके हैं। गुरुपरम्परा एवं अन्यान्य ग्रन्थोंसे जितने नाम हमें उपलब्ध हो सके हैं, उनका निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार्य' अर्थात् एक सौ चार ग्रन्थोंके निर्माण करनेवाले आचार्य, यह उपाधि लगी हुई कहीं-कहींपर मिलती है।

अस्तु जो कुछ हो, परन्तु इतना तो निर्विवाद सिद्ध होता है कि दीक्षित-जीका सब शास्त्रोंमें अप्रतिहत पाण्डित्य और उनकी प्रतिपादनशैली विलक्षण ही थी। ये परम आस्तिक थे। इनका गोत्र भारद्वाज था। ये * ७२ वर्षकी दीर्घ आयु तक जीवित रहे। शायद इतनी बड़ी आयुवाले पण्डित संसारमें अल्प ही हुए हैं।

इतिहासप्रेमियोंके लिए इतनी ही सामग्री छोड़कर अब अन्य प्रकृतोपयोगी विचार करते हैं—

सिद्धान्तलेशसंग्रह वेदान्तदर्शनका एक बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है, क्योंकि इसके यथावत् अध्ययन करनेपर अद्वैतवेदान्तशास्त्रका ऐसा कोई भी मत अज्ञात नहीं रह जाता है, जो इसमें न आया हो। इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारने जिन-जिन मतोंका सङ्ग्रह किया है, उनका आगे जाकर दिग्दर्शन करायेंगे। इसके पहले यह बतलानेकी चेष्टा करते हैं कि दर्शनशब्दका क्या अर्थ है, वे कितने हैं, और उनकी क्या आवश्यकता है।

यद्यपि दर्शनशब्दके प्रकरणानुसार अनेक अर्थ होते हैं, और उनका कोषोंमें निरूपण भी मिलता है †, तथापि जहां शास्त्रशब्दके ‡ साथ दर्शनशब्द आता

कुवलयानन्द, चित्रमीमांसा, वृत्तिवार्तिक, नामसंग्रहमाला, और इसकी व्याख्या, नक्षत्रवादावली, प्राकृतचन्द्रिका, चित्रपुट, विधिरसायन, सुखोपयोजनी, उपक्रमपराक्रम, परिमल, न्यायरक्षामणि, सिद्धान्तलेशसंग्रह, मतसारार्थसंग्रह, नयमञ्जरी, न्यायमुक्तावली, नयमयूखमालिका, शिवार्कमणिदीपिका, मणिमालिका, रत्नत्रयपरीक्षा, शिखरिणीमाला, शिवतत्त्वविवेक, ब्रह्मतर्कस्तव, शिवकर्णामृत, रामायणतात्पर्यसंग्रह, भारततात्पर्यसंग्रह, शिवाद्वैतनिर्णय, शिवार्चनचन्द्रिका, बालचन्द्रिका, शिवध्यानपद्धति, आदित्यस्तवरत्न, मध्वतन्त्रमुखमर्दन और मध्वमतविध्वंसन आदि।

* इस विषयमें दीक्षितजीके भ्राताके पुत्र नीलकण्ठ द्वारा विरचित शिवलीलार्णवके प्रथम सर्गमें एक श्लोक प्रमाणरूपसे मिलता है—

कालेन शुम्भुः किल तावताऽपि कलाश्चतुष्षष्टिमिताः प्रणिन्ये।
द्वासप्ततिं प्राप्य समाः प्रबन्धाच्छतं व्यधादप्पयदीक्षितेन्दुः॥

और इसी प्रमाणसे दीक्षितजीने सौ ग्रन्थ बनाये हैं, यह भी साबित होता है।

† जैसे नेत्र, स्वप्न, बुद्धि, धर्म, दर्पण आदि।

‡ शास्त्रशब्दका लक्षण यों मिलता है—प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च नित्येन कृतकेन वा। पुंसां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, वहाँ पर उसका अर्थ होता है—दृश्यते—यथार्थरूपतया ज्ञायते अलौकिकार्थो येन, इस व्युत्पत्तिसे ठीक-ठीकरूपसे अलौकिक अर्थका (लौकिकचक्षु आदि प्रमाणोंसे ज्ञात नहीं होनेवाले अर्थका) परिज्ञान जिससे होता हो—ऐसा शास्त्र ।

दर्शनशास्त्रोंके सामान्यरूपसे पहले दो विभाग किये जा सकते हैं—आस्तिकदर्शन और नास्तिकदर्शन । आस्तिकदर्शन उन्हें कहते हैं, जिनमें वेदोंके प्रामाण्यका अङ्गीकार करके पारलौकिक अर्थका निरूपण किया गया हो । और नास्तिकदर्शन उन्हें कहते हैं—जिनमें वेदोंके प्रामाण्यका अङ्गीकार न करके केवल युक्तिसे अर्थका प्रतिपादन किया गया हो । इस प्रकारसे सामान्यतः द्विधा विभक्त दर्शनशास्त्रोंका पुनः इस प्रकार अवान्तर विभाग किया गया है—आस्तिकदर्शन-शास्त्रोंके फिर तीन विभाग हैं—न्याय, सांख्य और मीमांसा । न्यायशब्दसे गौतम और कणाद महर्षि द्वारा प्रणीत न्याय और वैशेषिक, ये दो शास्त्र विवक्षित हैं । साङ्ख्यशब्दसे कपिल और पतञ्जलि द्वारा लोकमें आविर्भूत सांख्य और योग शास्त्र विवक्षित हैं । मीमांसाशब्दसे जैमिनि और भगवान् वेदव्यास द्वारा प्रणीत पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा विवक्षित हैं । इसीलिए व्यवहार होता है कि आस्तिकदर्शन छः प्रकारके हैं ।

इसी रीतिसे नास्तिकदर्शनोंके भी पहले पहले चार्वाक, बौद्ध और जैन इस प्रकार तीन विभाग करनेके बाद विनेयोंकी (शिष्योंकी) बुद्धिके अनुसार विभक्त माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिकके भेदसे बौद्धदर्शनके चतुर्विध होनेसे वे भी छः प्रकारके हैं । यद्यपि दर्शनशास्त्रके अन्य भी अवान्तर भेद हैं, तथापि मुख्यरूपसे उनकी गणना न होनेके कारण व्यावहारिक प्रसिद्धि नहीं है ।

वेदप्रामाण्यवादी समुदायकी दृष्टिसे नास्तिकदर्शनोंमें परमपुरुषार्थ-प्रयोजकता विवादास्पद है, क्योंकि किसी खास * प्रमाणविशेषका अनङ्गीकार

येनोपदिश्येत शास्त्रं शास्त्रविदो विदुः ॥ अर्थात् हितसाधनोंमें प्रवृत्ति और अहितसाधनोंसे निवृत्ति जिससे बोधित होती हो, उसे शास्त्र कहा जाता है ।

* अर्थात् सर्वप्रमाणधिराज अपौरुषेय वेदवाक्योंके आधारके बिना ही केवल यौक्तिक बलके आधरपर नास्तिकमतावलम्बियोंका विचार प्रस्तुत हुआ है, अतः युक्ति अप्रतिष्ठित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके केवल यौक्तिकवादका ही उनमें अङ्गीकार किया गया है। वेदविरुद्ध युक्तिके अप्रतिष्ठित होनेके कारण यथार्थरूपसे तत्त्वविनिश्चय उनसे नहीं हो सकता। यद्यपि इस विषयमें सत्प्रतिपक्ष हो सकता है कि आस्तिकदर्शनशास्त्रोंमें मोक्षोपयुक्तमार्गप्रदर्शकत्व नहीं है और नास्तिकदर्शनोंमें है। तथापि उभयदर्शनज्ञ प्रेक्षावान् पुरुषकी विचार-कसौटिमें कसे जानेके बाद नास्तिकदर्शन ही उक्तार्थमें पूतिकूष्माण्डीकृत प्रतीत होते हैं, अतः उक्त सत्प्रतिपक्ष प्रेक्षावत्पुरुषश्रद्धेय नहीं हो सकता है।

आस्तिक और नास्तिक दर्शनोंका परस्पर भेद जिस-जिस अंशमें है, उसे संक्षेपसे बतलाना प्रकृतमें अनुपयुक्त नहीं होगा, अतः उसको दिखाते हैं—

न्यायशास्त्र

न्यायशास्त्रके मूल रचयिता महर्षि गौतम हैं। उन्होंने सोलह पदार्थ माने हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान *। इनके मतमें चार प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे अनात्मभूत देह आदिमें आत्माकी जो मिथ्याज्ञानरूप भ्रान्ति है, उसकी निवृत्ति होती है और उससे राग † आदि दोषोंकी निवृत्ति होती है। दोषोंकी निवृत्तिसे शुभाशुभकर्मकी निवृत्ति, इससे निमित्तके अभावसे नैमित्तिक अनेक योनियोंमें जन्मकी निवृत्ति, और इससे गर्भावाससे लेकर मरण तकके सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्तिरूप मुक्ति होती है।

वैशेषिकशास्त्र

वैशेषिक दर्शनके रचयिता कणाद मुनि हैं। इनके मतमें छः पदार्थ हैं—

होनेसे तदुदितविचार नित्यनिरतिशयसुखपथप्रदर्शक नहीं हो सकते हैं। और पुरुषबुद्धिके नैकविधभ्रमादिदोषपिशाचाक्रान्त होनेके कारण भी उनका तत्त्वप्रतिपादन अवश्य भ्रान्त हो सकता है। अपौरुषेय वेदवाक्योंके निरस्तशङ्कापङ्ककलङ्क होनेके कारण उनमें ऐसी सम्भावना नहीं हो सकती है, ऐसा आस्तिकोंका तात्पर्य है।

* इन पदार्थोंका प्रतिपादन करनेवाला गौतमका यह प्रथम सूत्र है—प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः [गौ० सूत्र १ प्र० आ० १ सू० १]।

† दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः, यह सूत्र इसमें प्रमाण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं। उक्त छः * प्रकारके पदार्थोंके ईश्वरानुग्रहवश यथार्थज्ञानसे आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्तिरूप मोक्षकी उत्पत्ति होती है। यद्यपि उक्त प्रकारसे न्याय और वैशेषिकका परस्पर भेद है, तथापि प्रतिज्ञादिन्यायप्रयुक्त विचारकी प्रवृत्ति होनेसे दोनों शास्त्रोंमें न्यायशास्त्रत्वका व्यवहार होता है †।

निरीश्वरसांख्यशास्त्र

इस शास्त्रके प्रधान आचार्य कपिल मुनि हैं—इनके मतमें संक्षेपसे पहले चार प्रकारके पदार्थोंका विभाग किया गया है—प्रकृति, विकृति, प्रकृतिविकृति और प्रकृतिविकृतिसे रहित ‡। इन सामान्यरूपसे परिगणित पदार्थोंके विशेष-रूपसे पच्चीस विभाग हैं—प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहङ्कार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ×। और इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये तीन प्रमाण हैं। परम पुरुष जगत्के प्रति कारण नहीं है, किन्तु प्रकृति ही कारण है। सत्त्व, रज, और तम इन तीन गुणोंकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं। किसी एक गुणके उद्रेक होनेपर वह प्रकृति कार्यकारणरूपमें परिणत होती

---

* यद्यपि अभावको लेकर सात पदार्थ काणाद मतमें यत्र तत्र उपवर्णित हैं, तथापि अभावपदार्थके तुच्छ होनेसे वैशेषिक सूत्रमें उसकी गणना नहीं की गई है। धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसम्।

† अथवा न्यायशब्दका अर्थ परार्थानुमान होता है, और परार्थानुमान सम्पूर्ण ज्ञानोंका अनुप्राहक है और सब कर्मोंके अनुष्ठानमें परम्परया प्रयोजक भी है, अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस न्यायसे इन शास्त्रोंमें न्यायशब्दका व्यवहार होता है। इस विषयमें अभियुक्तोंने कहा है कि 'सोयं परमो न्यायो विप्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकत्वात्' इत्यादि।

‡ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तुविकारो न प्रकृति र्नाऽपि विकृतिः पुरुषः।

यह श्लोक इस पदार्थविभागमें प्रमाण है।

× इन पदार्थोंकी उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है—

प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि च षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥

अर्थात् प्रकृतिसे महत्तत्त्व, (बुद्धितत्त्व) महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कारसे एकादश इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्रा, और इन सोलहमें स्थित पञ्चतन्मात्रासे आकाशादि पञ्चभूत पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंमें सत्त्वादि गुणत्रयकी अवस्थिति है, अतः उनका कारण गुणत्रयवती प्रकृति ही हो सकती है, यह उनका सिद्धान्त है। इसमें ईश्वरका प्रतिपादन नहीं है, अतः यह निरीश्वरसाङ्ख्य कहलाता है। इस मतमें प्रकृति और पुरुषके विवेक-प्रत्ययसे मुक्ति होती है। इसका अन्य अवान्तर भेद साङ्ख्यकारिका आदि ग्रन्थोंसे जानना चाहिए।

सेश्वरसाङ्ख्यशास्त्र

सेश्वरसाङ्ख्यशास्त्रको योगशास्त्र कहते हैं। इसके मूलभूत प्रणेता आचार्य पतञ्जलि मुनि हैं। इन्होंने सम्पूर्ण योगशास्त्रके तत्त्वोंका चारपादोंमें समावेश किया है, इसीको योगसूत्र कहते हैं। पदार्थविवेकमें पूर्वोक्त साङ्ख्यशास्त्रकी अपेक्षा एक अधिक परमेश्वर पदार्थ* माना गया है, अतः इनके मतमें छब्बीस पदार्थ हैं। प्रकृतिमें अधिष्ठित परमात्माके महत्तत्त्व, काल और पुरुष—कार्योपाधि जीव—इस प्रकार तीन पदार्थ भी ये लोग मानते हैं। जब परमात्माकी असीम कृपासे अष्टाङ्गयोग द्वारा जीवका अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब अपनेको बुद्धि आदि पदार्थोंसे भिन्न समझता हुआ वह कैवल्यरूप अमृतसागरमें अवगाहन कर समस्त दुःखोंसे विमुक्त हो जाता है, इस प्रकार उनके मतका संक्षेप है।

पूर्वमीमांसाशास्त्र

पूर्वमीमांसाशास्त्रकी सूत्रों द्वारा सबसे पहले आचार्य जैमिनिने संसारमें प्रसिद्धि की। इन्होंने 'अथातो धर्मजिज्ञासा' आदि सूत्रोंसे बारह अध्यायोंमें केवल धर्माधर्मका ही विचार किया है। पूर्वमीमांसाको छोड़कर दर्शन शास्त्रोंमें से किसी भी शास्त्रमें इतने सूत्र नहीं हैं। इस शास्त्रमें दो मत प्रचलित हैं—कुमारिलभट्टका मत और प्रभाकरका मत। इन मतोंको भाट्टमत और गुरुमत भी कहते हैं। इनमें भाट्टानुसारी छः प्रमाणोंसे वस्तुकी सिद्धि करते हैं। वे छः प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि हैं। और प्रभाकरके मतमें अनुपलब्धिप्रमाणके न होनेसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति पांच ही प्रमाण हैं, क्योंकि वे अभावको पदार्थ नहीं मानते हैं, प्रत्युत उसे अधिकरणस्वरूप मानते हैं, अतः अभावके प्रत्यक्षके लिए अनुपलब्धिप्रमाणकी इनके मतमें आवश्यकता

---

* 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' अर्थात् क्लेश आदिसे रहित पुरुषविशेष ईश्वर है, यह सूत्र पतञ्जलिके मतमें ईश्वरकी स्वीकृतिका प्रमाणरूप है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है । प्रमेयविभागके अवसरमें प्रभाकरानुयायी—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, सङ्ख्या और सादृश्य इस प्रकारसे आठ पदार्थ मानते हैं । मीमांसक ईश्वरको नहीं मानते । कुछ साम्प्रदायिक कहते हैं कि मीमांसक ईश्वर नहीं मानते, ऐसी बात नहीं है, किन्तु ईश्वरके होते हुए भी वह स्वतन्त्र नहीं है अर्थात् तत्-तत् कर्मोंके अनुसार तत्-तत् प्राणियोंको शुभाशुभ फल देनेके कारण वह ईश्वर परतन्त्र है, अतएव उसका अस्तित्व अकिञ्चित्कर होनेसे नहींके बराबर ही है । मनुष्य धर्माधर्मका ठीक-ठीक परिज्ञान करके उनके अनुष्ठान द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर सकता है । यही मोक्ष है, क्योंकि स्वर्गकी प्राप्तिसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता, वह सुखस्वरूप है । ज्ञानकाण्डको ये लोग स्वार्थमें प्रमाण नहीं मानते हैं । अन्य अधिक विस्तार मीमांसाग्रन्थोंसे जानना चाहिए ।

उत्तरमीमांसाशास्त्र

उत्तरमीमांसा शास्त्रका सूत्रों द्वारा भगवान् वेदव्यासने ग्रथन किया है । इसका सम्पूर्ण विचार चार अध्यायोंमें है, जिनका क्रमशः समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय और फलाध्यायसे भी व्यवहार होता है । उत्तरमीमांसामें वेदके ज्ञानकाण्डका विचार है । प्रकृतमें मीमांसाशब्दका अर्थ पूजित विचार होता है । उसी विचारको पूजित विचार कहते हैं—जो कि मनुष्योंको निरतिशयनित्यसुखकी साधनताका यथार्थ परिज्ञान करानेमें समर्थ हो । और पूर्वमीमांसामें आये हुए मीमांसाशब्दका अर्थ—धर्माधर्मविषयक विचार—करना चाहिए । इस प्रकारके भिन्नार्थकत्वमें केवल पूर्वोत्तरशब्द ही प्रमाणरूपसे बस हैं । इसी उत्तरमीमांसाके लिए वेदान्तशब्दका व्यवहार होता है । यद्यपि वेदान्तशब्दका मुख्य अर्थ वेदका उपनिषद्भाग * है, तथापि परम्परया उपनिषद्भागके अर्थनिर्वचनमें उपकारक शारीरकमीमांसा † आदि भी वेदान्तशब्दका अर्थ होता है ।

---

* वेदका सामान्यतः तीन काण्डोंमें विभाग किया गया है—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इनमें ज्ञानकाण्डको अर्थात् आत्मतत्त्वप्रतिपादक वेदविभागको उपनिषत् कहते हैं ।

† शारीरक—जीवात्मा—त्वंपदवाच्य पदार्थ, उसका तत्पदवाच्य परमात्माके साथ अभेद प्रतिपादनके लिए जो मीमांसा है, उसको शारीरकमीमांसा कहते हैं, अर्थात् ब्रह्मसूत्रभाष्य आदि ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान् शङ्कराचार्यके सिवा ब्रह्मसूत्रके ऊपर अन्य भी कई-एक आचार्योंने अपने-अपने अभिमत साम्प्रदायिक अर्थके प्रतिपादनके लिए भिन्न-भिन्न भाष्य बनाए हैं, उनमेंसे रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, और निम्बार्काचार्य प्रसिद्ध हैं।

रामानुजाचार्यका मत

श्रीरामानुजाचार्य द्वारा प्रचारित सिद्धान्तको विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त कहते हैं। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तशब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—द्वयोर्भावः—द्विता, द्विता एव—द्वैतम्—न द्वैतम् अद्वैतम्—अभेदः, विशिष्टस्य—स्वव्यतिरिक्तसमस्तचेतनाचेतनविशिष्टस्य ब्रह्मणः अद्वैतम्—विशिष्टाद्वैतम्, तदेव सिद्धान्तः—विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः अर्थात् ब्रह्म अद्वैत है, किन्तु स्वभिन्न चेतन और अचेतन पदार्थोंसे विशिष्ट है।

इनके मतमें चित्, अचित् और ईश्वरके भेदसे अर्थात् भोक्ता, भोग्य और नियामकके भेदसे तीन पदार्थ हैं। जैसे कि उन्होंने ही अपने ग्रन्थमें कहा है—

'ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः।
ईश्वरश्चित इत्युक्तो जीवो दृश्यमचित् पुनः॥'

चित्शब्दसे कहलानेवाला जीवात्मा परमात्मासे भिन्न अणु तथा अविनाशी है अचित्-शब्दवाच्य पदार्थ भोग्य, भोगोपकरण और भोगायतनके भेदसे त्रिविध हैं। इस त्रिविध जगत्का कर्ता वासुदेवपदवाच्य परमात्मा है। इसीकी उपासनासे * जीवकी मुक्ति होती है, इत्यादि।

मध्वाचार्यका मत

मध्वाचार्य द्वैतवादी हैं। इन्होंने ब्रह्मसूत्रके ऊपर भाष्य बनाकर द्वैतवाद सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र ये दो इनके मतमें तत्त्व हैं। सम्पूर्ण शुभगुणसम्पन्न विष्णु स्वतन्त्र तत्त्व है, और इतर सब अस्वतन्त्र हैं। स्वतन्त्र ईश्वर और जीवका परस्पर भेद ज्ञात हो जानेपर मुमुक्षु सांसारिक कष्टसे मुक्त हो जाता है, और दुःखरहित आनन्दका उपभोग करता हुआ वह

---

* ईश्वरकी पांच प्रकारसे उपासना मानी गई है—अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय, और योग। देवताके स्थान और मार्ग आदिको साफ-सुथरा करना अभिगमन, गन्ध, पुष्प आदि देवताओंकी सामग्रीका सम्पादन उपादान, देवतापूजन इज्या, अर्थानुसन्धानपूर्वक स्तोत्रादिका पाठ स्वाध्याय और देवानुसन्धान योग कहलाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वरके पास प्रमोद प्राप्त करता है। रामानुजोंके समान ये भी जीवाणुवादी ही हैं। इनके मतको पूर्णप्रज्ञदर्शन * भी कहते हैं।

वल्लभाचार्यका मत

वल्लभाचार्यका जो ब्रह्मसूत्रके ऊपर भाष्य है, उसको अणुभाष्य भी कहते हैं। ये भी जीवाणुवादी ही हैं, परन्तु पूर्वोक्त मतोंसे इनके मतमें यह विशेष है कि गोलोकाधीश्वर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही उपास्य है, अन्य नहीं। किञ्च, यह मानते हैं कि यद्यपि वस्तुतः द्वैत है, तथापि शुद्धाद्वैत ही वेदान्तप्रतिपाद्य है, अर्थात् शुद्ध जीव और परमात्माका अद्वैत है, क्योंकि जीव और ईश्वरकी अविद्या और मायारूप उपाधि वे नहीं मानते हैं, इसलिए अग्नि और विस्फुलिङ्गके समान शुद्ध जीव और परमात्माका ऐक्य हो सकता है और अविकृतपरिणामवाद भी इन्होंने माना है।

निम्बार्काचार्यका मत

ब्रह्मसूत्रके ऊपर निम्बार्काचार्यकी सौरभ नामकी अति संक्षिप्त व्याख्या है, इसीको भाष्य भी कहते हैं। इनका मत भेदाभेदवाद कहलाता है। इनके मतमें चित्, अचित् और ब्रह्म ये तीन पदार्थ मूलरूपसे माने गये हैं। चित्शब्दसे जीव लिया गया है, जो कि अणु, ज्ञानरूप और ज्ञातृत्व आदि धर्मवाला एवं अहंपदवाच्य है। अचित्पदार्थ प्राकृत, अप्राकृत और कालके भेदसे तीन प्रकारका है। सत्त्व आदि तीन गुणोंका आश्रयीभूत द्रव्य प्राकृत पदार्थ है और विष्णुपद, परमपद आदिसे कहलानेवाला अप्राकृत है। इन दोनोंसे भिन्न अचेतन द्रव्यका नाम काल है। जगत्कर्तृत्व आदि गुणोंसे युक्त नारायण, वासुदेवपदवाच्य श्रीकृष्ण ही ब्रह्मशब्दका अर्थ है। ये चित्, अचित् और ब्रह्म पदार्थ अनेक वाक्योंसे † परस्पर भिन्न और

---

* प्रथमस्तु हनूमान् स्यात् द्वितीयो भीम एव च।
पूर्णप्रज्ञस्तृतीयः स्यात् भगवत्कार्यसाधकः॥

इस श्लोकसे मध्वमतप्रवर्तकपरम्पराके ऊपर कुछ आभास पड़ता है—अर्थात् वायुके अवतारभूत—हनूमान् आदि द्वारा यह मत प्रस्तुत हुआ है।

† अर्थात् 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि वाक्योंसे पदार्थोंकी भिन्नता भासती है और 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे उक्त पदार्थोंकी परस्पर अभिन्नता भासती है, अतः इन वाक्योंके आधारपर, चिदचिद्भिन्नाभिन्न ब्रह्म जिज्ञास्य है, यह इन लोगोंका कथन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिन्न भी मालूम पड़ते हैं, इसलिए भिन्नार्थप्रतिपादक और अभिन्नार्थप्रतिपादक वाक्योंका स्वार्थमें प्रामाण्य होनेके कारण ब्रह्माधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वरूपसे * और प्रत्येकवृत्ति असाधारणधर्मसे चिदचिद्भिन्नाभिन्न ब्रह्म ही मुमुक्षु द्वारा जिज्ञासितव्य है। उक्त प्रकारके ब्रह्मज्ञानसे भगवद्भावापत्तिरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह निम्बार्कका संक्षिप्तसे मत है।

उक्त प्रकारसे आस्तिकदर्शनोंका साधारणरूपसे दिग्दर्शन कराया गया है। इनका अधिक विस्तार तो उनके ग्रन्थोंसे जानना चाहिए। अब नास्तिक दर्शनोंका कुछ विवेचन करते हैं—

चार्वाकमत

चार्वाकशब्दका अर्थ है—आपाततः रमणीय वाणीको कहनेवाला मत-विशेषप्रवर्तक आचार्य। चार्वाकमतके आलोचनसे रागतः प्रवृत्तिशील पुरुषोंको उनका मन्तव्य अच्छा ही लगता है। इनके मतमें चार तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, तेज और वायु। ये ही चार तत्त्व देहाकारमें परिणत होकर मदशक्तिसे युक्त मद्यके समान † चैतन्ययुक्त हो जाते हैं और चैतन्ययुक्त देहेन्द्रियादि ही इनके मतमें आत्मा है। इनसे अतिरिक्त 'आत्मा' कोई पदार्थ नहीं है। और इस मतमें केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमानादि नहीं। इस मतके मूल प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति हैं। ये लोग अतीन्द्रिय पदार्थ मानते ही नहीं ‡।

---

* चक्षु आदि इन्द्रियाँ यद्यपि परस्पर स्वकीय असाधारणधर्मसे भिन्न हैं, तथापि प्राणाधीनस्थितिकत्वरूपसे अभिन्न हैं। वैसे ही चित्, अचित् और ब्रह्मके विषयमें भी उक्त दृष्टान्त घट सकता है, यह इनका मनोगत भाव है।

† जैसे सुरा जिस पदार्थसे बनती है, उस पदार्थमें मादकता पहलेसे नहीं रहती है, किन्तु उसकी विशेषक्रिया द्वारा उसमें अकस्मात् मादकता आ जाती है, वैसे ही पृथ्व्यादि पदार्थोंमें प्रत्येकरूपसे चैतन्यशक्तिके न होनेपर भी उनके परस्पर विलक्षण आकृतिमें परिणत हो जानेके बाद चैतन्यशक्ति आ जाती है, यह चार्वाकोंका तात्पर्य है। जैसे कि इन्हीं लोगोंकी उक्ति है—

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्य्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥१॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥२॥

‡ अर्थात् अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सिद्धि अनुमानसे की जा सकती है और अनुमान तो इनके मतमें प्रमाण नहीं है, अतः इनके मतमें अतीन्द्रिय पदार्थ नहीं है, यह तात्पर्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्धमत

बौद्धमत चार प्रकारसे विभक्त है—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। चार्वाकमतसे इनके मतमें अनेक विलक्षणताएँ हैं। ये लोग अनुमानको भी प्रमाण मानते हैं।

इन चारोंके मतमें 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्, सर्वं दुःखं दुःखम्, सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम् और सर्वं शून्यं शून्यम्, इस प्रकारकी चतुर्विध भावनासे * परम पुरुषार्थ होता है, ऐसा माना गया है। इनका मत है कि शिष्योंको गुरुके पास जाकर योग और आचार दो क्रियाएँ करनी चाहिएँ। † योग—अप्राप्त वस्तुकी यथार्थरूपसे प्राप्तिके लिए शङ्का। आचार—गुरुने जो उत्तररूपसे कहा हो, उसका अङ्गीकार। गुरुजीने जो उपदेश दिया हो उसका अङ्गीकार कर पर्यनुयोग (शङ्का) नहीं करनेपर माध्यमिकसंज्ञा होती है। ये माध्यमिक सर्वशून्य-वादी हैं और अनुमान प्रमाण मानते हैं।

योगाचारमत

माध्यमिक बौद्ध सर्वशून्यवादी हैं। और ये योगाचार बाह्यार्थशून्यवादी हैं अर्थात् आन्तरज्ञानरूप अर्थकी क्षणिकरूपसे स्थिति मानते हैं। इसमें युक्ति है कि यदि ज्ञानरूप अर्थ न माना जाय, तो जगदान्ध्यप्रसक्ति होगी, इसलिए बुद्धितत्त्व माननेकी आवश्यकता है। इनकी 'योगाचार' संज्ञा इसलिए हुई कि गुरु द्वारा कहे गए भावनाचतुष्टय और बाह्यार्थशून्यत्वका अङ्गीकार करनेके अनन्तर आन्तरज्ञानरूप अर्थकी शून्यता कैसे हो सकती है? इस प्रकार पर्यनुयोग किया है। ये लोग क्षणिकत्वरूपसे बुद्धितत्त्वका अङ्गीकार करके बाह्यार्थवादका खण्डन करते हैं अर्थात् बाह्य पदार्थ ज्ञानरूप ही है, उसकी ज्ञानसे अतिरिक्त सत्ता नहीं मानते हैं। केवल वासनाविशेषसे ज्ञानमें अनेक आकार भासते हैं। पूर्वोक्त भावनाचतुष्टयसे सम्पूर्ण वासनाओंका उच्छेद हो जानेसे केवल विशुद्ध विज्ञानका उदय होना ही इनके मतमें मोक्षपदार्थ है।

सौत्रान्तिक मत

सौत्रान्तिकमतमें ज्ञानके सिवा बाह्यार्थ वस्तुकी सत्ता अनुमानसे मानी गई

---

* अर्थात् सब क्षणिक है, दुःखात्मक है, स्वलक्षण है और शून्य है, इस प्रकारकी भावनासे ही मोक्ष हो सकता है, यह बौद्धोंका कथन है।

† अप्राप्तार्थस्य प्राप्तये पर्य्यनुयोगो योगः। गुरूक्तस्यार्थस्याङ्गीकरणमाचारः, इस प्रकार योग और आचारका लक्षण मिलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। उनका कहना है—यदि बाह्यार्थका सर्वथा अभाव माना जाय, तो 'बाहरके समान आन्तर वस्तुका अवभास होता है, यह योगाचारका कथन ही नहीं बन सकेगा, क्योंकि बाह्य पदार्थके सर्वथा अभावमें तन्निरूपित दृष्टान्तका न होना निश्चित ही है। इन्होंने रूपस्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध और संस्कारस्कन्ध, इस भेदसे पाँच स्कन्ध माने हैं। शब्दादि विषय और इन्द्रियाँ रूपस्कन्ध हैं, आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानका प्रवाह विज्ञानस्कन्ध है, सुखदुःखादिप्रत्ययका प्रवाह वेदनास्कन्ध है और संस्कारस्कन्धशब्दसे धर्मा-धर्मादि कहे जाते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् दुःखरूप और दुःखसाधन है, इस प्रकारकी भावना करके उसके निरोधके लिए तत्त्वज्ञानका सम्पादन करना चाहिए और वह तभी हो सकता है जब दुःख, आयतन, समुदय और मार्ग रूप चार तत्त्वोंका * ठीक-ठीक परिज्ञान हो। एवञ्च इसीके परिज्ञानसे मोक्ष होता है। इन लोगोंकी सौत्रान्तिक इसलिए संज्ञा हुई कि इन्होंने सूत्रके परम रहस्यको पूछा है।

वैभाषिकमत

वैभाषिक लोग बाह्य अर्थको प्रत्यक्षसे ही सिद्ध करते हैं, अनुमानसे नहीं; क्योंकि व्याप्तिज्ञानके बिना अनुमान हो ही नहीं सकता। अनुमानमें प्रत्यक्षात्मक ही व्याप्तिग्रह अपेक्षित होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसलिए ग्राह्य और अध्यवसेय भेदसे दो प्रकारका अर्थ वैभाषिक लोगोंने माना है। पूर्वमतमें बाह्य अर्थकी सत्ता अनुमानसे ही मानी गई है और इस मतमें प्रत्यक्षसे मानी गई है, यह विशेष है। प्रत्यक्षप्रमाणसे गम्य अर्थ ग्राह्य है और अनुमानसे गम्य अर्थ अध्यवसेयरूप है, यह समझना चाहिए। यद्यपि आदि बुद्ध एक ही हैं, तथापि उन्होंने बाह्य और आन्तर पदार्थोंमें सर्वथा अनास्था रखनेवाले शिष्योंके प्रति उपदेशके लिए पहले शून्यवादका उपदेश दिया, विज्ञानमात्रमें आस्था रखनेवालोंके प्रति केवल विज्ञान ही सत् है, ऐसा उपदेश दिया और विज्ञान एवं बाह्य पदार्थोंमें श्रद्धा रखनेवालोंके प्रति दोनों सत्य हैं, ऐसा उपदेश दिया है, इसलिए विनेयभेदसे बुद्धकी भाषा भिन्न-भिन्न है—इस बातको यह चतुर्थ बुद्ध कहता है, अतः इसकी वैभाषिकसंज्ञा हुई।

* रूपादि पञ्चस्कन्ध दुःख है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच विषय, मन और बुद्धि दुःखका आयतन है। मनुष्योंके हृदयमें जो राग, द्वेषका उदय होता है, वही समुदयपदार्थ है और सब पदार्थ क्षणिक हैं, इस प्रकारकी स्थिर वासना—मार्गपदार्थ है, इन चार पदार्थोंके ज्ञानसे मोक्ष होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही कारण है कि उक्त चार प्रकारके बौद्धोंको उपदेश देनेवाले मूलभूत बुद्धके एक होनेपर भी तत्-तत् स्वोपदेष्टव्य शिष्योंकी मतिके वैचित्र्यसे चार प्रकारके बौद्ध कहलाते हैं।

जैनमत

इस मतको आर्हत मत भी कहते हैं, क्योंकि इसके प्रवर्तक 'अर्हत्' नामके आदि पुरुष थे। ये आत्माको स्थायी मानते हैं। इस मतमें पहले जीव और अजीव भेदसे दो तत्त्व माने गये हैं।

फिर इसीका विस्तार जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गलास्तिकायसे भी किया गया है। अस्तिकायशब्द पदार्थवाची है। ये संसारी और मुक्तभेदसे दो प्रकारके जीव मानते हैं। अजीव पदार्थका ही आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल विस्तार है।

और जैनोंने प्रकारान्तरसे जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष, इस प्रकार सात पदार्थ माने हैं। परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकारके इनके मतमें प्रमाण हैं। इनके मतमें श्वेताम्बर और दिगम्बर आदि अनेक अवान्तर भेद हैं। स्याद्वाद सभी जैनोंको सम्मत होनेपर भी क्रियांशमें इन मतोंकी भिन्नता है। सम्पूर्ण कर्मबन्धनोंसे छुट जानेके बाद असङ्गरूपसे जीवकी अवस्थिति ही इनका मोक्षपदार्थ है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र मोक्षप्राप्तिके मार्ग माने गये हैं।

पूर्वोक्त प्रकारसे आस्तिक और नास्तिक दर्शनोंका अत्यन्त सूक्ष्म रीतिसे विभाग किया गया है। परन्तु उनका अधिक विस्तार तत्-तत् ग्रन्थोंमें अधिक विस्तृतरूपसे मिलता है। प्रकृतमें सूक्ष्मरीत्या इसलिए बतलाए गये हैं कि उनके अभिमत पदार्थोंका आकलन सूत्ररूपसे तत् तत् दर्शनशास्त्रोदितपदार्थजिज्ञासुओंको हो सके।

दर्शनशास्त्रोंकी रचनामें आचार्योंकी प्रवृत्तिका कारण

प्रत्येक दर्शनकारोंकी दर्शनरचनामें प्रवृत्ति इसलिए हुई कि अनेक प्रकारके दुःखोंसे परिपीडित सांसारिक जीवोंकी दुःखोंसे मुक्ति हो और उन्हें सुख प्राप्त हो। तब तक मनुष्योंको चिरस्थायिनी शान्ति प्राप्त नहीं होती है, जब तक कि उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। यद्यपि व्यावहारिक साधन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषोंकी सम्पत्ति कुछ व्याहारिक अड़चनोंको हटा सकती है, तथापि उससे पारमार्थिक चिरस्थायिनी शान्ति नहीं मिलती है, अतः जगत्के साधारण जनोंके उपकारको मनमें रखकर तत्-तत् दर्शनकारोंने सूत्ररूपसे अधिकारि-विशेषोंके लिए तत्-तत् प्रकारोंका अनेक युक्ति-प्रयुक्तियोंसे दिग्दर्शन इसलिए कराया है कि उतने दरजेके अधिकारी पुरुषोंको कुछ-न-कुछ शान्ति अवश्य मिल जाय, और उन्हींके मूलभूत सिद्धान्त या सूत्रोंके आधारपर आगेके व्याख्यानकारोंने भी विशद व्याख्या की है।

अब इस विषयमें समझनेकी आवश्यकता है कि किसी खास वस्तुको प्राप्त करनेके लिए उसके भिन्न-भिन्न मार्ग हो सकते हैं, परन्तु उस वस्तुके स्वरूपमें सैद्धान्तिक भेद नहीं हो सकता। जैसे कि कोई लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए अनेक मार्गोंका अनुसरण कर सकता है, परन्तु उससे प्राप्तव्य लक्ष्मीरूप अर्थके स्वरूपमें भिन्नता नहीं हो सकती है। वैसे ही तृप्त्यर्थ भोजनके मार्ग भले ही अनेक प्रकारके हों, परन्तु उससे साध्य तृप्तिके स्वरूपमें भेद नहीं हो सकता। बस, इसी दृष्टान्तको लेकर ठीक-ठीक यदि विचार किया जाय, तो भले ही मानसिक निरवधिक शान्ति या मोक्षके लिए अनेक मार्ग मिल जायँ, परन्तु लक्ष्यके स्वरूपमें उनका भेद नहीं हो सकता। यदि उसीके स्वरूपमें भेद हो गया, तो उसे मोक्ष या मानसिक शान्ति कैसे कह सकते हैं?

पूर्वोद्धृत दर्शनोंके विषयमें यही गड़बड़ी भरी पाई जाती है, अर्थात् उनमेंसे किसीने मोक्षका एक-सा रूप नहीं बतलाया है, प्रत्युत अपने-अपने वैयक्तिक भावसे प्रेरित होकर मोक्षके भिन्न-भिन्न स्वरूप निर्धारण किये हैं। जो आस्तिक-दर्शनविभागमें मत उपन्यस्त किये गये हैं, उनमें श्रुतिवाक्योंकी खींचातानी ही की गई है। और नास्तिक-दर्शनोंका तो कोई मूलभूत आधार ही नहीं है, अतः उनमें तो दर्शनत्व भी सन्दिग्ध है।

यद्यपि कुछ महापुरुष उक्त सभी दर्शनोंका एक-सा समन्वय करनेके लिए भी प्रवृत्त होते हैं, परन्तु उनका वह समन्वय केवल उसी प्रकारका होता है—जैसा कि कोई घट और पटको द्रव्यत्वरूपसे एक स्वरूप बना कर जलाहरणक्रिया पटसे करनेकी ईच्छा करता हो। और उस प्रकारका समन्वय दर्शनकारोंने अपनी किसी भी पंक्तिमें नहीं बतलाया है।

और दूसरी बात यह भी है कि वेदान्तदर्शनको छोड़कर न्याय आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आस्तिक-दर्शनशास्त्र आत्मतत्त्वविज्ञानाख्य मोक्षके प्रतिपादनके लिए मुख्यरूपसे प्रवृत्त नहीं हुए हैं, परन्तु अन्यान्य द्रव्यादि पदार्थोंका निरूपण करनेके लिए प्रवृत्त हुए हैं। जैसे न्यायमें द्रव्यादि पदार्थोंका निरूपण, सांख्यमें प्रकृति, पुरुष और योगका निरूपण, पूर्वमीमांसामें धर्माधर्मका निरूपण किया गया है। उनमें आत्माका निरूपण खासरूपसे नहीं किया गया है, अतः उनसे साक्षात् आध्यात्मिक उन्नतिकी मनुष्यको आशा नहीं करनी चाहिए। हां, इतना अवश्य हो सकता है कि उनके अध्ययनसे व्युत्पत्ति हो जानेके कारण बुद्धिदोषकी निवृत्ति होनेसे वेदान्तके अध्ययनमें सरलता होती है। इसीलिए उनमें परम्परया—मोक्ष-शास्त्रव्युत्पादन द्वारा—मोक्षोपयुक्तज्ञानसाधनता आ सकती है, अतः हम उनके ऋणी हो सकते हैं।

आचार्यपाद श्रीशङ्करका श्रुतिसम्मत अद्वैततत्त्व

अब आइए वेदान्तदर्शनमें, वेदान्तमें भी आत्मस्वरूपके प्रतिपादनावसरमें श्रीशङ्कराचार्यके सिवा अन्यान्य आचार्योंने श्रुतिके वास्तविक तात्पर्यको विरुद्धरूपसे ही बतलाया है, अतः उनके व्याख्यानसे आत्मतत्त्वप्रतिपत्तिकी आशा व्यर्थ है। जब हम भगवान् आचार्यपाद श्रीशङ्करके विस्तृत भाष्योंको देखते हैं, तभी हमें एक आशाका स्थान और सन्तोष प्राप्त होता है।

यह सर्वसाधारणको विदित है कि जो कोई पुरुष कपट आदि दोषोंसे रहित होता है, उसके कहे हुए वाक्यमें भी एकार्थता ही रहती है, भिन्नार्थता नहीं। यदि उस वाक्यको, जो उस निर्दुष्ट पुरुषने जिस अर्थके परिज्ञानके लिए प्रयुक्त किया है, बुद्धिकौशल्यसे अन्यार्थपरक मान लें, तो उस वक्ताके साथ अन्याय अवश्य होगा। इसी प्रकार वेदवाक्योंका, जो कि अपौरुषेय होनेके कारण सर्वथा दोषरहित हैं, मूल तात्पर्य छोड़ कर यदि अन्य स्वाभिमत ही अर्थ करें, तो अवश्य हम दोषी ठहरेंगे। भगवान् शङ्कराचार्यने उन श्रुतियोंका ऐसा ही व्याख्यान किया है, जो उनका वस्तुतः प्रतिपाद्य था। शङ्कराचार्य साक्षात् भगवान् ही थे, जिनमें छद्म या व्यर्थाभिमानका लेश भी नहीं था, अतः निर्दुष्ट अपौरुषेय वाक्योंका भगवान् ही ठीक-ठीक व्याख्यान कर सकते हैं।

अपि च, श्रुतिके प्रत्येक वाक्योंके तात्पर्यका निर्णय करनेके लिए उपक्रमोप-संहार आदि छः प्रमाणोंकी अपेक्षा अवश्य होती है। उपक्रमोपसंहारादिषड्विध श्रुतितात्पर्यनिश्चायक प्रमाणोंकी उपेक्षा करके केवल यदि मनगढ़न्त अर्थ किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय, तो उन वाक्योंका वास्तविक अर्थ हाथमें नहीं आ सकता है। अतः इन प्रमाणोंके आधारपर ही श्रुतियोंका अर्थ निश्चय करना चाहिए। किसी प्रकार भी श्रुतिवाक्यार्थनिर्णयावसरमें इन प्रमाणोंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि श्रुतिवाक्योंका यह स्वभाव है कि उनके स्वार्थनिर्णयमें उपक्रमोपसंहारादिकी अपेक्षा होती है। अतः श्रुत्यर्थनिर्णायकत्वरूपसे स्वभावतः प्राप्त उन प्रमाणोंकी यदि कोई उपेक्षा करे, तो इससे यही कहा जा सकता है कि वह वह्निके उष्णत्वस्वभावका भी अपलाप करता है।

जब इस स्वभावस्थितिका अवलम्बन करके श्रुतियोंके अर्थका निर्णय किया जाता है, तब श्रुतियों द्वारा भगवान् शङ्कराचार्यपादने जिस निर्गुण सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वैत अर्थका प्रतिपादन किया है, वही अद्वैत अर्थ श्रुतिवाक्योंसे अपने-आप प्राप्त हो जाता है, इतर नहीं, क्योंकि श्रुतिने बार-बार उक्त अद्वैतवस्तुका ही प्रतिपादन किया है, कारण कि निम्नलिखित—

द्वितीयाद्वै भयं भवति।
एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।
नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।
ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्।
सर्वं खलु इदं ब्रह्म।
आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।
योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद।
अहं ब्रह्मास्मि।
तत्त्वमसि।
इदं सर्वं यदयमात्मा।
एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति।
सलिल एको द्रष्टाद्वैतः।
अथात आदेशो नेति नेति।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।
नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा।
यत्र द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्।

इत्यादि अनेक श्रुतियाँ अद्वैत—समस्त द्वैतप्रपञ्चसे शून्य—स्वतःप्रकाश आनन्दस्वरूप ब्रह्मका ही प्रतिपादन करती हैं और भ्रमसे प्रतीयमान द्वैत-वस्तुका निषेध करती हैं। इसी श्रुतिसम्मस्त अद्वैततत्त्वका भगवान् बादरायणने अपने ब्रह्मसूत्रोंसे भी प्रतिपादन किया है। और उसीको भगवत्पाद शङ्कराचार्यने लोक-कल्याणार्थ विशद किया है। अन्य मतावलम्बियोंने जो खींचा-तानी की है, उसका तो उक्त श्रुतियोंसे ही निराकरण हो जाता है, अतः उनके विषयमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक कुछ लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। यही अद्वैतब्रह्म माया-शबलित होकर समस्त प्रपञ्चके प्रति अभिन्न निमित्तोपादान होता है।

श्रुतिसम्मत मायाका स्वरूप

कुछ लोग मायावादका, जिसका कि आचार्यपादने वर्णन किया है, खण्डन करनेके लिए प्रस्तुत होते हैं। परन्तु उनका वह कथन केवल अज्ञान-मूलक ही है। पहले जिस मायावादका वे खण्डन करनेके लिए प्रस्तुत होते हैं, उनको यदि धर्मिकुक्षिप्रविष्ट मायाका परिज्ञान है, तो वे किसका खण्डन करेंगे। यदि नहीं है, तो खण्डनमें खण्डनीय वस्तुके परिज्ञानकी, जो कि सर्वतन्त्र-सिद्धान्तसम्मत है, आवश्यकता होनेके कारण उसके अस्तित्वाभावमें उनका खण्डन केवल उपहासास्पद ही होगा।

अपि च भगवान् आचार्यपादने किस रूपमें मायाका अङ्गीकार किया है, उसे भी पहले समझना चाहिए, और उसे टटोलना चाहिए कि वह वेदसम्मत है ? या नहीं। अनन्तर उसकी परीक्षा की जाय तो परीक्षा ठीक होती है, परन्तु ऐसा नहीं किया जाता। ऋग्वेदादिमें मायाशब्दका आचार्यसम्मत अर्थमें प्रचुररूपसे प्रयोग किया गया है। जैसे कि —

मायाविनं वृत्रमस्फुरन्निः
मायिनो दानवस्य माया अपादयत् [म० २ सू० ११ म० ९–१०]
श्रुतस्य महीं मायाम्
कवितमस्य मायाम् [म० ५ सू० ९६ ५–६]
निर्माया उत्ये असुरा अभूवन् त्वञ्च मा वरण कामयासे।
ऋतेन राजन्नृतं विविंचन्मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि [म० १० सू० १२४ मन्त्र ५]
मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं श्रुष्णमवातिरः [म० १ सू० १२]
मायिनाममिनाः प्रोत मायाः [म० १ सू० ३२]

इस प्रकारके मायाशब्दघटित अनेक वाक्य ऋग्वेदादिमें उपलब्ध होते हैं। उनका उपक्रमोपसंहार आदिके आधारपर निर्णय करनेसे वही मायाशब्दार्थ लब्ध होता है जो कि पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्यजीने माना है। आचार्यपादने बार-बार कहा है कि सत्यस्वरूप तत्त्वज्ञानसे असत्यस्वरूप मायाकी निवृत्ति होती है—यही बात ऋग्वेदके 'ऋतेन राजन्' (सत्यसे अनृतकी अर्थात् मायाकी निवृत्ति होती है) इत्यादि मन्त्रसे स्पष्ट भासती है; एवं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।
मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम् ।
मायामेतां तरन्ति ।
अनृतेन ही प्रत्यूढाः ।

इत्यादि अन्याऽन्य श्रुतिवाक्य भी उक्तार्थमें ही प्रमाण हैं। और मायाको अनिर्वचनीय मानना भी श्रुतिने ही बतलाया है—'न सत् तन्नासदुच्यते' अर्थात् माया सत्त्व और असत्त्वसे रहित है—अनिर्वचनीय है।

पूर्वापरभावका विचार न करके जो लोग अपनी निरालम्ब बुद्धिके आधारपर विचार करते हैं, उनसे वेदके यथार्थ अर्थकी आशा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसे पुरुषोंसे हमेशा श्रुति डरा करती है, इस अर्थका पोषक—

'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति ।
इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ॥'

इस प्रकार प्रसिद्ध वचन भी मिलता है।

और मायाशब्दका लोकप्रसिद्ध अर्थ किया जाय, तो भी वही अर्थ होता है, जो कि आचार्यचरणने माना है, क्योंकि कोषकारोंने मायाशब्दके छद्म, कापट्य, इन्द्रजाल और मिथ्याबुद्धिहेतु अज्ञान अर्थ माने हैं। यदि माया-शब्द उक्त अर्थवाला नहीं होता, तो इस अनादिप्रवाहकी गति कैसे होती ?

और सूत्रकार बादरायणको भी यही बात सम्मत है, क्योंकि यह बात वेदान्तजगत्में प्रसिद्ध है कि एकके विज्ञानसे सभी वस्तुका विज्ञान हो जाता है। इसी विचारको लेकर सूत्रकारने 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' 'तदनन्य-त्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः' इत्यादि सूत्रोंसे प्रतिज्ञा और दृष्टान्तके अनुसार ब्रह्मको जगत्की प्रकृति माना है और कार्यकी ब्रह्मसत्तासे पृथक् सत्ताका खण्डन किया है। एवमेव आकाशादिकी ब्रह्ममें अध्यस्तता मानी है। इसीसे यह परिस्फुट है कि प्रतिज्ञावाक्य औरोंसे प्रधान है, उस प्रतिज्ञावाक्यकी तभी उपपत्ति हो सकती है जब कि विवर्तवादका आश्रयण किया जाय, अन्यथा नहीं हो सकती, कारण कि एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा करके दृष्टान्त दिया गया है कि 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यम्' इस श्रुतिकी आचार्यपादकी प्रणालीके सिवा अन्य प्रणालीसे उपपत्ति नहीं हो सकती है। इस श्रुतिमें एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान जो प्रतिज्ञात है, वह तत्-तत् व्यक्तित्वरूपसे विवक्षित नहीं है, किन्तु मुमुक्षुके लिए जो अभीष्ट ज्ञान है, उसका प्रतिपादन करती है। वह है—मोक्षसाधनीभूत अद्वितीय ब्रह्मज्ञान। श्रुति जिसका प्रतिपादन करना चाहती है, उसमें शिष्यको शङ्का हो कि द्वैत प्रपञ्च तो विद्यमान है, फिर कैसे अद्वितीयत्वका ज्ञान हो सकता है? तो इस शङ्काका परिहार करनेके लिए 'यथा सोम्यैकेन' इत्यादि श्रुतिकी प्रवृत्ति हुई है। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे शुक्तिमें आरोपित रजतादिका और रज्जुमें आरोपित सर्पादिका स्वरूप शुक्ति आदि ही हैं, क्योंकि आरोपितकी अधिष्ठानसे अतिरिक्त सत्ता नहीं हो सकती। अतः शुक्ति आदिके तत्त्व-ज्ञानसे उनमें आरोपित सकल पदर्थोंका सत्त्व विदित हो जाता है, आरोपित रजतादिका तत्त्व शुक्ति आदि है और यथार्थ ज्ञान भी वही हो सकता है, जो तत्त्वावगाही हो। जो तत्त्वावगाही ज्ञान नहीं होता, वह मिथ्याज्ञान है। अतः शुक्तिमें रजतका ज्ञान मिथ्याज्ञान है, इसलिए उक्त श्रुतिमें एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानका जो कथन है, वह भी अधिष्ठानभूत सत्य वस्तुके विज्ञानसे आरोपित पदार्थोंका स्वरूपविज्ञान विवक्षित है याने ब्रह्मभूत अधिष्ठान-की सत्तासे पृथक् द्वैतपदार्थोंकी वास्तविक सत्ता नहीं है, अतः वे मिथ्याभूत ही हैं। इस प्रकारका ज्ञान विवक्षित है, । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि छान्दोग्योपनिषद्का उपक्रम भी उक्त ज्ञानकी सम्पत्तिके लिए ही है, यह समझना चाहिए। विस्तारभयसे प्रकृतमें विचार नहीं करते। यदि इतरमतोंका अवलम्बन किया जाय, तो श्रुतिका प्रतिज्ञा-दृष्टान्तवाक्य कभी नहीं युक्तियुक्त होगा। इसलिए जिनकी आशङ्का है कि निर्विशेष अद्वैतवाद सूत्रकारको सम्मत नहीं है, उसका 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा' इत्यादि सूत्रोंसे स्पष्ट खण्डन हो जाता है, अतः उनका कथन भ्रान्त है।

यदि विवर्तवाद न मान कर परिणामवाद माना, जाय, तो यह प्रश्न भी उपस्थित हो सकता है—ब्रह्म एक देशसे परिणत होता है, या सर्वात्मना परिणत होता है? यदि प्रथम पक्ष माना जायगा, तो सावयवत्वकी प्रसक्ति होगी और निरवयवप्रतिपादक श्रुतियाँ विरुद्ध होंगी। यदि द्वितीयपक्ष माना जायगा, तो ब्रह्मसे अतिरिक्त विकारकी अनवस्थिति और ब्रह्मका अभाव प्रसक्त होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः इसी पूर्वपक्षकी 'कृत्स्नप्रसक्तिनिरवयत्वशब्दकोपो वा' इस सूत्रसे उत्थान करके 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इससे आपाततः समाधान करके 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' इस सूत्रसे सूत्रकारने विवर्तवादके आश्रयणसे ही समाधान किया है कि जैसे स्वप्नद्रष्टा जीवका उसके स्वरूपके अनुपमर्दसे परिणाम न होनेपर भी अनेक प्रकारकी रथादि सृष्टिका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही ब्रह्ममें भी स्वरूपके अनुपमर्दसे अनेकाकार सृष्टिका भास होता है। वाचस्पत्तिमिश्रने भी कहा है कि 'अनेन स्फुटितो मायावादः' अर्थात् इससे मायावादका स्पष्टीकरण हो ही जाता है।

यद्यपि सूत्रकारका अभिमत मायावाद (विवर्तवाद) अत्यन्त स्पष्ट है, तथापि प्राक्तन कर्मविशेषोंके प्रभावसे और सम्प्रदायशुद्ध शास्त्रीय परिज्ञान न होनेके कारण मनुष्यस्वभावोचित भ्रमका होना स्वाभाविक है; फिर भी उपक्रम आदि तात्पर्यनिश्चायक प्रमाणके अनुसार विज्ञ जनोंसे साम्प्रदायिक अध्ययन करनेपर उक्त भ्रम अपने-आप मिट जाता है।

कुछ लोगोंकी इस विषय में भी विप्रतिपत्ति है कि ब्रह्मसूत्रोंमें ब्रह्मज्ञानसे मोक्षरूप फल नहीं बतलाया गया है, अतः ब्रह्मजिज्ञासा क्यों करनी चाहिए? परन्तु यह भी असङ्गत है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारके सूत्रोंको देखनेसे यह शङ्का विलीन हो जाती है। जैसे—पहले उपक्रमका सूत्र है—'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'। साधन चतुष्टय सम्पन्न पुरुषोंको ब्रह्मजिज्ञासा क्यों करनी चाहिए? इस प्रकारकी शङ्काका समाधान उपसंहारके 'अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात्' इस सूत्रसे स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा करनेसे उस पुरुषकी संसारमें आवृत्ति नहीं होती है, ऐसा 'न स पुनरावर्तते' इस श्रुतिसे ज्ञात होता है।

सूक्ष्म विचारसे इन सब पूर्वपक्षोंका समाधन हो सकता है, अतः मायावाद श्रुति-स्मृति-सूत्र-सम्मत है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिए, और उसीका आचार्य गौडपाद और आचार्य शङ्कराचार्यजी द्वारा विस्तार किया गया है, जिससे कि साधारण मनुष्योंका उपकार हो।

भगवदवतार श्रीआचार्यपादके मुखाम्बुजसे निकले हुए वचनोंके अनुसार अद्वैततत्त्वके प्रतिपादनके लिए भिन्न-भिन्न शैलियोंसे जिन आचार्योंने सिद्धान्त-भेद बतलाये हैं, उनका तत्-तत् ग्रन्थोंसे शब्दसंक्षेप द्वारा सङ्ग्रह करके श्रीअप्पय्यदीक्षितने इस ग्रन्थमें संङ्ग्रह किया है। इस ग्रन्थकी उपयोगिता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मौलिकता आदिके विषयमें यही प्रमाण सर्वोच्च हो सकता है कि इसके प्रणेता अप्पय्य दीक्षित हैं। इस ग्रन्थमें अप्पय्यदीक्षितजीने निम्नलिखित मतोंका सङ्ग्रह किया है—

(१) प्रकटार्थकारका मत
(२) विवरणकारका मत
(३) विवरणके एकदेशियोंका मत
(४) संक्षेपशारीरककारका मत
(५) वार्तिककारका मत
(६) आचार्य वाचस्पतिमिश्रका मत
(७) कौमुदीकारका मत
(८) माया और अविद्याके भेदवादियोंका मत
(९) उक्त भेदवादियोंके एकदेशीका मत
(१०) माया और अविद्याके अभेदवादियोंका मत
(११) पदार्थतत्त्वनिर्णयकारका मत
(१२) विवर्तवादियोंका मत
(१३) परिणामवादियोंका मत
(१४) सिद्धान्तमुक्तावलीकारका मत
(१५) प्रकटार्थविवरणकारका मत
(१६) सत्त्व-विवेककारका मत
(१७) नैष्कर्म्यसिद्धिकारका मत
(१८) ब्रह्मानन्दका मत
(१९) दृग्दृश्यविवेककारका मत
(२०) कल्पतरुकारका मत
(२१) भारतीतीर्थका मत
(२२) तत्त्वशुद्धिकारका मत
(२३) न्यायचन्द्रिकाकारका मत
(२४) पञ्चदशीकारका मत
(२५) तत्त्वप्रदीपिकाकारका मत
(२६) तत्त्वशुद्धिकारका मत
(२७) कवितार्किकका मत
(२८) पञ्चपादिकाकारका मत
(२९) न्यायसुधाकारका मत
(३०) विवरणवार्तिककारका मत
(३१) शास्त्रदीपिकाकारका मत
(३२) न्यायरत्नमालाकारका मत
(३३) अद्वैतविद्याचार्यका मत
(३४) विवरणोपन्यासकारका मत
(३५) न्यायनिर्णयकारका मत
(३६) वेदान्तकौमुदीकारका मत
(३७) शास्त्रदर्पणकारका मत
(३८) चित्सुखाचार्यका मत
(३९) रामाद्वयाचार्यका मत
(४०) आनन्दबोधाचार्यका मत
(४१) अद्वैतदीपिकाकारका मत
(४२) दृष्टिसृष्टिवादियोंका मत
(४३) सृष्टिदृष्टिवादियोंका मत

इनसे अन्य भी कई मतोंका उपन्यास किया है।

भगवान् शङ्कराचार्यजी द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्तोंका कितने गौरव और श्रद्धाके साथ अनेक आचार्योंने स्वीकार किया है, यह इसी ग्रन्थके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययनसे ज्ञात हो सकता है। आचार्यपादके सिवा अन्य कोई सिद्धान्त नहीं है, जिसका कि इतने आदरसे अनेक प्रगल्भ पण्डितों द्वारा आदर किया गया हो।

ऐसे विशिष्ट ग्रन्थकी हिन्दी भाषा हो जानेसे उन लोगोंको अवश्य आनन्द मिलेगा जो लोग अनुदित हिन्दी भाषाके समझनेमें अच्छी व्युत्पत्ति रखते हैं। हिन्दी भाषाके सारल्यमें अत्यन्त ध्यान रखा गया है, और जहाँ मूलमें काठिन्य मालूम हुआ है, वहाँ टिप्पणी द्वारा उस अंशको ठीक-ठीक साफ करनेकी चेष्टा की है। विशेषतः टिप्पणीमें यह भी बतलानेका अधिक यत्न किया गया है कि जिन ग्रन्थोंसे मूलकारने मत लिया है, उन ग्रन्थोंकी अक्षरशः पङ्क्तियाँ रखकर उनके पृष्ठाङ्क भी दिये हैं और उनका भाव भी लिखा है।

दूसरी बात इस ग्रन्थमें आये हुए मतोंका संक्षेपसे आकलन हो, इसलिए साथ-साथ वेदान्तसूक्तिमञ्जरीका भी अनुवादके साथ समावेश किया गया है। इसके रचयिता श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य गङ्गाधरसरस्वतीथे। ये अच्छे शास्त्रवेत्ता होंगे, ऐसा उनकी सूक्तिमञ्जरीकी रचनासे ज्ञात होता है, इससे अधिक उनके विषयमें जाननेकी सामग्री नहीं मिल सकी है।

जिस आनन्दकन्द परमेश्वरकी असीम कृपासे इस सिद्धान्तलेशका अनुवाद-प्रकाशन कार्य निर्विघ्न समाप्त हुआ है, उसको सहस्रशः प्रणाम करते हुए विश्रान्ति लेते हैं।

काशी।
वसन्तपञ्चमी १९९३

मूलशङ्कर व्यास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ श्रीः ॥

सिद्धान्तलेश-सङ्ग्रहकी विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद [पृ० १–२६२]

विषय	पृष्ठ–पंक्ति
अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसङ्ख्याविधिका निरूपण ...	४ – १
श्रवणविधिमें अपूर्वविधित्वका निरूपण	१० – ५
ब्रह्मके लक्षणका विचार	५३ – ५
ब्रह्ममें कारणत्वका विचार	५७ – १०
मायाके कारणत्वका विचार	७४ – ६
जीव और ईश्वरके स्वरूपका विचार	८१ – ९
जीवके एकत्व और अनेकत्व का विचार	१२१ – १
ब्रह्ममें कर्तृत्वका प्रतिपादन	१३२ – १२
ब्रह्मके सर्वज्ञत्वका समर्थन	१३७ – ८
वृत्तिकी उपयोगिताका विचार	१४३ – ३
वृत्तिका विषयके साथ सम्बन्ध-विचार	१४६ – ८
अभेदकी अभिव्यक्तिके स्वरूपका निरूपण	१५२ – ६
आवरणाभिभवके स्वरूपका निरूपण	१५७ – ६
साक्षीके स्वरूपका निरूपण	१८० – १
अज्ञानसे साक्षीके अनावृतत्वका निरूपण	१९३ – १
साक्षीरूप आनन्दमें अनावृतत्वका निरूपण	१९५ – ३
अहङ्कार आदिके अनुसन्धानका निरूपण	२०६ – १
सकारण अध्यासका निरूपण	२१४ – १
वृत्तिके निर्गमनकी आवश्यकताका निरूपण	२४७ – ५

द्वितीय परिच्छेद [पृ० २६३–४१४]

प्रत्यक्षसे अद्वैतश्रुतिके अबाधित्वका निरूपण	२६३ – ८
प्रत्यक्षसे आगमके प्राबल्यका विचार	२७९ – ५
उपजीव्यत्वरूपसे भी प्रत्यक्षसे श्रुतिके अबाधित्वका विचार ...	३०८ – ५
प्रतिबिम्बकी सत्यताका निराकरण	३१६ – १
स्वाप्न पदार्थोंके अधिष्ठानका निरूपण	३४० – ८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वाप्न पदार्थोंके अनुभव-प्रकारका निरूपण ... ... ३४९ – १२
सृष्टिके कल्पकका निरूपण ... ... ३५६ – ९
मिथ्या अर्थकी अर्थ-क्रियाकारिताका निरूपण ... ... ३६६ – ५
मिथ्याके मिथ्या होनेपर भी प्रपञ्चके मिथ्यात्वकी उपपत्ति ... ३७४ – ६
जीवोपाधिके भेदका विचार ... ... ३८० – ७
उपाधिके भेदसे भी 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि अनुसन्धानका विचार ... ३९४ – ७
जीवके अणुत्वका निराकरण-विचार ... ... ३९८ – ५

तृतीय परिच्छेद [पृ० ४१५–५१०]

ज्ञानकी उत्पत्तिमें कर्मोंकी उपयोगिताका विचार ... ... ४१५ – ९
श्रुति द्वारा विनियुक्त कर्मविशेषोंका प्रतिपादन ... ... ४२३ – ५
विद्यार्थकर्मोंमें त्रैवर्णिकोंके अधिकारका निरूपण ... ... ४३१ – १
विद्यार्थकर्मोंमें शूद्रके अनधिकारका कथन ... ... ४३५ – ८
संन्यासकी विद्योपयोगिताका निरूपण ... ... ४४१ – ८
श्रवण आदिमें क्षत्रिय और वैश्योंके अधिकारका कथन ... ४४६ – ५
असुख्य अधिकारी द्वारा किये गये कर्मोंकी जन्मान्तरीय विद्यामें
उपयोगिता ... ... ४५५ – ६
विद्योपयोगी योगमार्गका निरूपण ... ... ४६० – ८
ब्रह्मसाक्षात्कारमें करण-विचार ... ... ४६७ – ८
ब्रह्मसाक्षात्कारमें शाब्दापरोक्षत्वका विचार ... ... ४७४ – ५
अज्ञानके निवर्तकका निरूपण ... ... ४८४ – ८
ब्रह्मज्ञानके विनाशकका विचार ... ... ५०३ – ४

चतुर्थ परिच्छेद [पृ० ५११–५५९]

अविद्यालेशका निरूपण ... ... ५११ – ८
अविद्यानिवृत्तिके स्वरूपका विचार ... ... ५१४ – १०
मोक्षके स्वतःपुरुषार्थत्वका विचार ... ... ५२५ – ९
मोक्षके प्राप्यत्व और अप्राप्यत्व का विचार ... ... ४२९ – १
मुक्तके स्वरूपका विचार ... ... ५३३ – ८

इति ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे सप्तमं प्रसूनम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रकाशानन्दविरचिता

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली

[भाषानुवादसहिता]

प्रकाशनस्थान—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय,

काशी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे सप्तमं प्रसूनम्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीप्रकाशानन्दविरचिता

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली

'फतेहगढ़गवर्नमेण्टहाईस्कूल'-संस्कृतप्रधानाध्यापकेन त्रिपाठ्युपाह्व-
पं० श्रीप्रेमवल्लभशास्त्रिणा विरचितेन भाषानुवादेन

समलङ्कृता

श्रीजो० म० गोयनका-संस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षेण पं० श्रीचण्डीप्रसादशुक्लशास्त्रिणा
अच्युतग्रन्थमालाध्यक्षेण पं० श्रीश्रीकृष्णपन्तशास्त्रिसाहित्याचार्येण च

सम्पादिता।

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः, काशी

संवत्

प्रथमावृत्तिः] १९९३ [मूल्यम् १)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

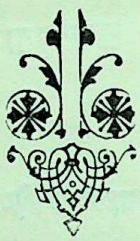

मुद्रक
ना० रा० सोमण
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

इस संसारमें ब्रह्मासे लेकर पिपीलिकापर्यन्त सभी प्राणी यही चाहते हैं कि त्रिविध दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति हो और परम सुखकी प्राप्ति हो। अब सोचना चाहिए कि दुःखकी निवृत्ति किस तरह होती है? इसपर कोई-कोई लोग तो यह कह दिया करते हैं कि आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखकी निवृत्ति औषधि, वनिता आदिके सेवन, नीतिपुरःसर व्यवहार, मन्त्र, तन्त्र आदिसे हो सकती है। परन्तु ये लौकिक उपाय दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं कर सकते। इन उपायोंसे यद्यपि कदाचित् कथंचित् दुःखहानि हो भी जाय, तथापि निवृत्त हुए दुःखकी फिर भी प्राप्ति हो सकती है। इसलिए दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिका साधन ज्ञान ही है। कहा भी है—'ज्ञानादेव हि कैवल्यम्' (ज्ञानसे ही कैवल्य [सुख] प्राप्त होता है), 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (आत्माको जानकर ही मृत्युको जीत सकता है, मृत्युको जीतनेका दूसरा मार्ग नहीं है) 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि' (हे अर्जुन, तुम ज्ञानरूपी नौकासे ही दुःखसागरसे पार हो सकोगे), 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति' (ज्ञानकी प्राप्ति करके शीघ्र परम शान्तिको पाता है)' 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर देती है) इत्यादि भ्रम, प्रमाद आदि दोषोंसे रहित श्रुति-स्मृतिवचनोंसे ज्ञान ही एकमात्र निरतिशय सुखका साधन समझा जाता है।

यहांपर प्रश्न यह उठता है कि वह ज्ञान किमाकारक और किन्निमित्तक है? इसपर कहा जाता है कि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (ब्रह्मको जाननेवाला परम पदको प्राप्त होता है), 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है), 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (अरे मैत्रेयि, यह आत्मा ही श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे दर्शन-प्रत्यक्ष करने योग्य है), 'आत्मानं चेद्विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः' (यदि यह पुरुष अपनेको जान जाय कि 'मैं यह हूँ' तो फिर किसलिए सन्ताप करे), 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते सर्वं दृष्टं श्रुतं मतं भवति' (एक आत्माके दृष्ट, श्रुत और विदित हो जानेपर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी दृष्ट, श्रुत और विदित हो जाते हैं), 'शान्तो दान्तः उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति' (शान्त, दान्त, उपरत, सहिष्णु हो और चित्तको एकाग्र कर अपनेमें ही आत्माको देखे) इत्यादि वचनोंसे वह ब्रह्मात्मैकत्व शम, दम आदि निमित्तसे अपरोक्ष होता है।

इस परम ज्ञानलाभके निमित्त ही प्राचीन द्विजातिगण विरक्त होकर मुनियोंके आश्रमोंकी शरण लेते थे। इसी बातको श्रुति भी कहती है—'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' [अर्थात् जिज्ञासु पुरुष स्थावर-जंगम समस्त पदार्थोंको बीजाङ्कुरवत् परस्पर उत्पन्न होनेवाले और अनेक अनर्थोंसे भरे हुए कदलीगर्भवत् असार तथा मरीचिजलवत्, गन्धर्वनगरवत् और जलबुद्बुदवत् मिथ्या जानकर इनसे विरक्त हो जाय और यह जान ले कि आत्माकी प्राप्ति कर्मोंसे नहीं होती है, इसलिए वह जिज्ञासु पुरुष समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाय और गुरुसे कहे—

'स्वामिन् नमस्ते नतलोकबन्धो कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ ।
मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या ऋज्वातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या ॥'

(हे लोकबन्धो, हे दयासागर, हे स्वामिन् आपको नमस्कार है। मैं संसारसागरमें गिरा हूँ, आप अपनी करुणा रूप सुधासे पूर्ण सरल कृपाकटाक्षसे मेरा उद्धार करो।)

और

'कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः ।
जाने न किंचित् कृपया च मे भो संसारदुःखक्षतिमातनुष्व ॥'

(हे प्रभो, मैं इस संसारसागरको कैसे तरूँ, क्या मेरी गति है ? कौन-सा उपाय है ? भगवन्, मैं कुछ नहीं जानता। आप ही अपनी कृपासे मुझे संसारदुःखसे बचाओ।)

शिष्य की इस तरह प्रार्थना करनेपर गुरु उस साधनचतुष्टयसम्पन्न योग्य शिष्यको ब्रह्मविद्याका उपदेश करे]। 'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्' इस श्रुतिमें ब्राह्मणपद आया है, इससे ब्रह्मविद्यामें ब्राह्मणका ही मुख्य अधिकार है और ब्राह्मण जातिके समीपवर्ती होनेसे विरक्तदशामें क्षत्रिय और वैश्यका भी अधिकार है, शूद्रोंका कदापि नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस ब्रह्मविद्याका गौरव आर्य पुरुषोंमें अनादिकालसे ही चला आ रहा है इसीसे स्वस्वरूपकी प्राप्ति होती है। जिनके हृदयमें पूर्वजन्मके शुभकर्मोंसे अद्वैतसंस्कार चले आते हैं, उनको तो इस विद्यासे निरतिशय आनन्द होता है और जिनका अन्तःकरण मलिन है, उनको इसमें व्यामोह हो जाता है, इसीलिए तो वादियोंने तरह-तरहसे जीवस्वरूपका वर्णन किया है। इस प्रकरणमें उनके कुछ सिद्धान्त दिखाये जाते हैं—

प्रथम चार्वाकका कथन है कि माता और पिता द्वारा उपभुक्त अन्न-जलसे और वीर्यरूपसे स्वयं परिणत हुए पृथिव्यादि चार भूतोंमें उत्पन्न हुई चित्शक्तिका नाम जीव है, शरीरसे भिन्न लोकान्तरगामी अन्य कोई जीव नहीं है इत्यादि।

बौद्ध रूप, विज्ञान आदि पञ्चस्कन्धोंको आत्मा मानते हैं। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार ये उनके पांच स्कन्ध हैं। इनमेंसे अपने-अपने विषयोंके सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंका नाम रूपस्कन्ध है और आलयविज्ञान, प्रवृत्तिविज्ञान इनके प्रवाहका नाम विज्ञानस्कन्ध है। रूप तथा विज्ञान इन दोनों स्कन्धोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले सुख, दुःख आदि प्रत्ययोंके प्रवाहका नाम वेदनास्कन्ध है। घट-पटादिको विषय करनेवाले विज्ञानके प्रवाहका नाम संज्ञास्कन्ध है। एवं वेदनास्कन्धपूर्वक राग, द्वेष, मान, मद, धर्म, अधर्म इत्यादिका नाम संस्कारस्कन्ध है। बस, इन पाँच स्कन्धोंको ही बौद्धोंने आत्मा माना है, इस पञ्चस्कन्धसे भिन्न कोई आत्मा वस्तु उनके मतमें नहीं है। यद्यपि यह प्रवाहरूपसे अनेक जन्म-जन्मान्तर पाता रहता है, तथापि स्वरूपसे इसका पुनर्जन्म नहीं है। बुद्ध महात्माने पदार्थमात्रमें 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्' 'सर्वं दुःखं दुःखम्' 'सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम्' 'सर्वं शून्यं शून्यम्' इस प्रकारकी चार भावनाओंसे परम पुरुषार्थकी प्राप्ति मानी है। और नीतिपूर्वक अनेक प्रकारके अर्थोंका उपार्जन करके द्वादश आयतनोंका पूजन करनेसे भी पुरुषका कल्याण होता है। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि इन बारहोंका नाम द्वादशायतन है। तात्पर्य यह है कि नीतिपूर्वक शरीरका पालन-पोषण करना ही बुद्धके मतमें श्रेयस्कर है। और पूर्वोक्त भावनाचतुष्टयका भी संसारके पदार्थोंसे उपरत होकर आत्माका सुखसम्पादन करनेमें तात्पर्य है।

जैनोंके सिद्धान्तमें जीवका स्वरूप शुभाशुभ कर्मोंका कर्ता, भोक्ता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणामी—शरीरके बराबर परिणामवाला—चेतनस्वरूप माना गया है। और अनादिसिद्ध यावत् कर्मोंके क्षयसे मुमुक्षु जीवका मोक्ष होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य ये तीन जीवकी मुक्तिके उपाय माने गये हैं। तत्त्वके प्रकाशका नाम ज्ञान है, तत्त्वमें रुचिवृद्धिका नाम दर्शन है और पापात्मक क्रियारम्भमात्रका त्याग कर देना ही चारित्र्य है। इन ज्ञान आदि तीनोंके बढ़नेसे इस जीवके राग आदिका क्षय होता है और राग आदिके क्षयसे सम्पूर्ण कर्मोंका नाश होता है, फिर क्षीणकर्मवाला जीव अपने शरीरके आकारके समान आकारको धारण करके स्वभावसिद्ध ऊर्द्ध्व गतिको प्राप्त होता है, इत्यादि।

इनके सिवा महर्षि कपिलदेव, महर्षि पतञ्जलि, महर्षि जैमिनि और महर्षि व्यासने जीवात्माका स्वरूप चेतन, व्यापक तथा नाना माना है। और कणाद और गौतमने जीवका स्वरूप ज्ञानका अधिकरण, विभु तथा नाना माना है। इनमेंसे सर्वोत्तम तथा श्रुतिविहित गम्भीरविचारपूर्ण व्यास भगवान्का सिद्धान्त ही जिज्ञासुके लिए परम आदरणीय है। इसी सिद्धान्तको गुरुपरम्परासे पाकर पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्यजीने अपनी असाधारण विद्वत्तासे वादियोंको पराजित करके अद्वैतका डंका बजाया था। वेदान्तियोंने भी आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद, एकजीववादके भेदसे जीवस्वरूपका तरह-तरहसे वर्णन किया है।

इनमेंसे आभासवादवालोंका कहना है कि अज्ञानोपहित आत्मा अज्ञानके साथ तादात्म्य (अभेद) भावको प्राप्त होकर अपने चिदाभासके अविवेकसे अन्तर्यामी साक्षी और जगत्कारण कहलाता है और बुद्धिसे उपहित आत्मा बुद्धिके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त होकर अपने चिदाभासके अविवेकसे जीव कर्ता, भोक्ता और प्रमाता कहलाता है। इस पक्षमें जीव नाना और ईश्वर एक है, क्योंकि प्रतिदेह बुद्धि भिन्न है। अतएव उस बुद्धिगत चिदाभासके भेदसे उससे अपृथग्भूत चैतन्य भी भिन्न-सा प्रतीत होता है, इसलिए नाना जीव हुए और अज्ञान सर्वत्र अभिन्न है और तद्गत चिदाभास भी एक ही ठहरा; इस कारण उससे अपृथग्भूत साक्षी चैतन्यका भी कदापि भेदभान नहीं होता है, इससे ईश्वर एक सिद्ध हुआ।

प्रतिबिम्बवादकी प्रक्रिया यह है कि अज्ञानमें प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य ईश्वर कहलाता है और बुद्धिमें प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य जीव कहलाता है। अज्ञानोपहित चैतन्य शुद्ध कहलाता है, इन दोनों पक्षोंमें से 'अग्निर्यथैको भुवन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥' यह श्रुति और 'आभास एव च' 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' इत्यादि शारीरकसूत्र प्रमाण हैं ।

तीसरा अवच्छेदवाद है । इस पक्षमें एक ही चैतन्य अज्ञानके आश्रय और विषयके भेदसे दो तरहका माना जाता है अर्थात् अज्ञानका विषयीभूत चैतन्य ईश्वर है और अज्ञानका आश्रयभूत चैतन्य जीव है और अज्ञानके नाना होनेसे जीव भी नाना प्रकारके माने जाते हैं तथा प्रतिजीव प्रपञ्चका भेद भी माना जाता है । यद्यपि प्रतिजीव प्रपञ्चभेदसे 'यो घटस्त्वया दृष्टः स एव मया दृष्टः' यह ज्ञान नहीं बन सकता है, तथापि सादृश्यसे निर्वाह कर लेते हैं । इस मतमें ही स्वाज्ञानसे उपहित होनेसे जीव जगत्का उपादान कारण माना गया है । ईश्वर तो प्रपञ्चसहित जीवकी अविद्याका अधिष्ठान होनेसे सिर्फ उपचारमात्रसे कारण माना गया है ।

वेदान्तका मुख्य सिद्धान्त एक जीववाद है । इसकी प्रक्रिया यह है—अज्ञानसे उपहित बिम्बचैतन्य ईश्वर और अज्ञानमें प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव कहलाता है अथवा यों कहिए कि अज्ञानसे अनुपहित शुद्ध चैतन्य ईश्वर और अज्ञानोपहित चैतन्य जीव है । इसीको दृष्टि-सृष्टिवाद भी कहते हैं । इस पक्षमें जीव ही अपने अज्ञानवशसे जगत्का उपादान और निमित्तकारण माना जाता है और यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् प्रतीतिमात्र है । यद्यपि देहभेदसे जीवभेद प्रतीत होता है, तथापि वह भ्रान्तिमात्र है । वास्तवमें एक ही जीव है । इस एक ही जीवका मोक्ष स्वकल्पित गुरु और शास्त्रोपदेशसे परिवर्द्धित श्रवण, मनन आदिकी दृढ़तासे आत्माका साक्षात्कार होनेपर होता है और शुक, वामदेव आदिका जो मोक्ष सुननेमें आता है, वह अर्थवादमात्र है । एक ही स्वप्नके दृष्टान्तसे सब शङ्काओंका समाधान इसमें हो जाता है । कहा भी है—

'ब्रह्माज्ञानादीशजीवादिभावात्
भ्रान्तं जाग्रत्स्वप्नसुप्तीर्बिभर्त्ति ।
स्वात्मज्ञानादज्ञताया निवृत्तौ
नान्यो जीवो नास्ति चाज्ञातमन्यत् ॥

अर्थात् ब्रह्मका अज्ञान देवादिशरीराकारसे और जगदाकारसे परिणत होता है । यही अविद्यावृत्ति ज्ञानाभास और भ्रमनामसे कही जाती है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयका भी इसीसे स्फुरण होता है; इसीलिए विषय, देह, जगत् और अविद्यावृत्ति ये सब अविद्योपादानवाले हैं, और यदि अद्वैतसाक्षात्कारसे अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है, तो तत्कार्य जगत्की निवृत्ति भी सुतरां हुई, इस दशामें स्वप्नदृष्टान्त ठीक ही हुआ।

प्रकृत ग्रन्थ वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली भी एकजीववादका ही प्रतिपादक है। वेदान्तशास्त्रमें एकजीववादका इसके जोड़का दूसरा ग्रन्थ नहीं है।

इस ग्रन्थके रचयिता परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामी प्रकाशानन्दजीने भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्यजीके मतका ही प्रतिपादन किया है। इनके मतमें आचार्यके सिद्धान्तकी अपेक्षा कुछ वैलक्षण्य है। उपादान कारणके विषयमें शङ्कराचार्यानुयायी सभी विद्वानोंमें कुछ-कुछ मतभेद है। संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनिके मतमें ब्रह्म ही जगत्का उपादान है; लेकिन, कूटस्थ ब्रह्म स्वाभाविकरूपसे कारण नहीं हो सकता। इससे सुतरां यह सिद्ध हुआ कि मायाशबलित ब्रह्म ही जगत्का उपादान है।

वाचस्पतिमिश्रके मतमें ब्रह्म ही उपादान कारण है। परन्तु पूर्व मतसे इस मतमें यह विशेष है कि ब्रह्म जीवाश्रित अज्ञानका विषय होकर जगदाकारमें विवर्तित है और माया सहकारीमात्र है अर्थात् द्वार कारण है।

इस ग्रन्थके प्रणेता प्रकाशानन्द कहते हैं कि मायाशक्ति ही जगत्के प्रति उपादान कारण है, ब्रह्म नहीं। जो लोग ब्रह्मको जगत्के प्रति उपादान कारण मानते हैं, वे भी मायाशक्तिका अधिष्ठान होनेसे ही ब्रह्ममें औपचारिक रूपसे जगदुपादानत्व मानते हैं।

शास्त्रदर्पणकार अमलानन्द दृष्टिसृष्टिवादी हैं। उनके मतमें दृष्टिकालिक सृष्टि है। प्रकाशानन्द भी दृष्टिसृष्टिवादी ही हैं। परन्तु स्वामी अमलानन्दसे इनका मतभेद है। प्रकाशानन्दसरस्वतीके मतमें दृष्टि ही विश्वसृष्टि है, कारण कि दृश्यकी अपेक्षा सृष्टिभेदमें प्रमाण नहीं है। स्मृतिने भी इसी प्रकार प्रतिपादन किया है—

ज्ञानस्वरूपमेवाहुः जगदेतद्विचक्षणाः।
अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्तोऽन्ये कुदृष्टयः॥

कोई-कोई आचार्य कहते हैं कि—दृष्टिसृष्टिवाद प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि इसमें जगत्प्रपञ्चकी प्रातिभासिकता, आकाशादि सृष्टिका अपलाप, कर्मोपासना और कर्मोपासनासे प्राप्त होनेवाले ब्रह्मलोक आदिका विलोप प्रसक्त होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाग्रत्कालमें चक्षु आदि कारणोंकी सहायतासे जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे इस मतमें भ्रमरूप ही माने जाते हैं। इससे दृष्टिसृष्टिवाद समीचीन नहीं है। श्रुति द्वारा प्रदर्शित परमेश्वरसृष्ट विश्वकी, अज्ञातसत्तायुक्त तत्-तद्विषयक प्रमाणोंके उपस्थित होनेपर, दृष्टि ही सृष्टिदृष्टिवाद है। सृष्टिदृष्टिवादमें जगत्की पारमार्थिक सत्ता नहीं है, किन्तु व्यावहारिक सत्ता है। सिद्धान्तमुक्तावलीकार पारमार्थिक दृष्टिसे दृष्टिसृष्टिवादके पक्षपाती हुए।

आचार्य चित्सुख प्रभृति सृष्टिदृष्टिवादी हैं। इस सृष्टिका कल्पक कौन है? निरुपाधिक आत्मा या अविद्योपाधिक आत्मा? जब विश्व ज्ञानविषय होता है तब उसकी व्यावहारिक सत्ताका अपलाप नहीं किया जा सकता। इस परिस्थितिमें इसका कोई-न-कोई कल्पक चाहिए। निरुपाधिक आत्मा कल्पक नहीं हो सकता, कारण कि ऐसा माननेसे मोक्ष और संसारनिवृत्ति नहीं होगी। इसलिए अविद्योपहित आत्मा ही संसारका कल्पक माना गया है। जगत्के कल्पित होनेपर सुतरां दृष्टिसृष्टिवाद ही संगत होता है।

संसारकी कल्पनाको जो लोग मिथ्या कहते हैं उनके समीप कल्पनाका कोई मूल्य नहीं है। और जो उसे मिथ्या नहीं मानते, उनके मतमें कल्पना असत्य हो ही नहीं सकती। मिथ्याको सत्य मानना ही अविद्या है। सुतरां अविद्योपहित आत्मासे कल्पित या सृष्ट जगत् पारमार्थिक दृष्टिसे असत्य ही है। ज्ञानोदयसे सृष्टिके मिथ्यात्वका निश्चय होता है, क्योंकि जो सत्य है उसमें मिथ्यात्व किसी काल या देशमें हो ही नहीं सकता। ज्ञान होनेपर अज्ञान किसी कालमें भी नहीं रह सकता, ऐसी अवस्थामें प्रकाशानन्दका दृष्टिसृष्टिवाद ही सुन्दर है। पारमार्थिक दिशाकी ओर विशेष जोर देनेके लिए वे दृष्टिसृष्टिवादी हुए, ऐसा जान पड़ता है।

प्रकाशानन्दसरस्वतीका दूसरा नाम मल्लिकार्जुनयतीन्द्र भी था। इनके गुरुका नाम आचार्य ज्ञानानन्द था। इनके दो शिष्य थे—नाना दीक्षित और महादेवसरस्वती। नाना दीक्षितने वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीपर विस्तृत और गम्भीर टीका लिखी है। उन्होंने ग्रन्थारम्भमें स्वामी प्रकाशानन्दसरस्वतीको इस प्रकार प्रणाम किया है—

विश्वेशं ढुण्ढिराजं जगदुदयकृतं शारदां सूत्रकारं
व्यासं चाचार्यवर्यं त्रिभुवनविदितं शङ्करं भाष्यकारम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आनन्दान्तप्रकाशानुभवपदपदं सद्गुरुं श्रीनृसिंहं
वन्दे विद्यानिधानं शमदमनिरतं राघवेन्द्रं यतीन्द्रम् ॥१॥

यच्छिष्यशिष्यसन्दोहव्याप्ता भारतभूमयः ।
वन्दे तं यतिभिर्वन्द्यं प्रकाशानन्दमीश्वरम् ॥२॥

यह टीका सं० १९५० में लिथोमें बनारसमें छपी थी और संक्षेप कर पं० जीवानन्द विद्यासागर बी० ए० ने कलकत्तेमें इसीका मुद्रण कराया था। वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीके टीकाकार नानादीक्षित काशीके ही निवासी थे, यह बात इस ग्रन्थके अन्तिम श्लोकसे प्रतीत होती है। किंवदन्ती है कि प्रकाशानन्द सरस्वती भी काशीनिवासी एवं अपने जमानेके विख्यात विद्वान् थे।

यद्यपि इनका आविर्भाव काल ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है तथापि यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि ये १५ वीं शताब्दीमें आविर्भूत हुए थे।

ये अप्पयदीक्षितके पूर्ववर्ती थे, क्योंकि अप्पयदीक्षितने सिद्धान्तलेशमें वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीके मतका उल्लेख किया है और विद्यारण्यसे परवर्ती थे, कारण कि कहीं-कहीं इन्होंने अपने ग्रन्थमें पञ्चदशीके उदाहरणोंका उल्लेख किया है, ऐसा प्रतीत होता है। 'दशमस्त्वमसि' यह उदाहरण पञ्चदशीसे गृहीत हुआ है और वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीमें प्रकाशानन्दने लिखा है कि 'लौकिकस्यापि वाक्यस्य दशमस्त्वमसीत्यादेरात्मन्यपरोक्षज्ञानजनकस्यैव दृष्टत्वात्'। त्रिविधभेदके खण्डनके प्रसंगमें खण्डनखण्डखाद्यकारकी युक्तियोंके साथ इसका सादृश्य दीख पड़ता है। वाचस्पति और विवरणकारके मतका भी स्थलविशेषमें अनुवाद किया गया है। इन सब प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि प्रकाशानन्द विद्यारण्य आदि आचार्योंके परवर्ती और आचार्य अप्पयदीक्षितके पूर्ववर्ती थे; इससे प्रकाशानन्दका जीवनकाल १५वीं शताब्दी सिद्ध होता है। प्रकाशानन्दने श्रुति द्वारा आत्मस्वरूपके ज्ञात होनेपर ग्रन्थरचना की, यह बात उन्होंने मुक्तावलीके प्रारम्भमें लिखी है—

अदृष्टद्वयमानन्दमात्मानं ज्योतिरव्ययम् ।
विनिश्चित्य श्रुतेः साक्षाद् युक्तिस्तत्राभिधीयते ॥

ग्रन्थ लिखकर वे कृतकृत्य हुए, यह बात भी ग्रन्थकी समाप्तिके प्रथम श्लोकमें देखी जाती है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशानन्दयतिना कृतिना स्वात्मशुद्धये ।
सिद्धान्तमुक्तावल्येषा रचिता रन्ध्रवर्जिता ॥

यह ग्रन्थ उन्होंने नारायणके चरणमें समर्पित किया है, इसका भी कवितापूर्वक ग्रन्थसमाप्तिमें उन्होंने वर्णन किया है—

अद्वैतानन्दसन्दोहा सत्यज्ञानादिलक्षणा ।
नारायणसमासक्ता श्रिया सापत्न्यदूषिता ॥

अद्वैतानन्द समूहयुक्त सत्य और ज्ञानादिस्वरूप दोषवर्जित सिद्धान्तरूपी मोतियोंकी यह माला नारायणके कण्ठमें समर्पित है । जिसने लक्ष्मीके साथ सापत्न्यरूप दोषका त्याग कर दिया है । इस प्रकार प्रकाशानन्दने अपने ग्रन्थकी उपादेयताका प्रतिपादन किया है । इतना कहकर भी वे श्रान्त नहीं हुए । परन्तु विशेषरूपसे उन्होंने कहा है कि उनका ग्रन्थ अनुभवके बलसे रचित है, अतएव वह सबके अज्ञानान्धकारका नाश करेगा । और वादियोंके मतका भी सुचारुरूपसे खण्डन करेगा । इस विषयमें वे कहते हैं—

शृणु प्रकाशरचितां सद्वैततिमिरापहाम् ।
वादीभकुम्भनिर्भेदे सिंहदंष्ट्राधरीकृताम् ॥

एक श्लोकमें उन्होंने उस समयकी अवस्थाका वर्णन किया है । वे कहते हैं कि उस समयके लोग वेदान्तरहस्यको नहीं जान सकते थे । प्रतीत होता है कि उन्होंने यहांपर द्वैती और विशिष्टाद्वैतियोंके प्रति संकेत किया है । भगवान्‌की प्रेरणासे यह ग्रन्थ लिखा है—

वेदान्तसारसर्वस्वमज्ञेयमधुनातनैः ।
अशेषेण मयोक्तं तत्पुरुषोत्तमयत्नतः ॥

Catalogus Catalogorum से ज्ञात होता है कि वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलीके सिवा इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थ भी बनाये थे—

(१) ताराभक्तितरङ्गिणी,
(२) महालक्ष्मीपद्धति,
(३) श्रीविद्यापद्धति,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) और इनके विद्यागुरु सुभगानन्द द्वारा आरब्ध तन्त्रराजकी टीका मनोरमाके अवशिष्टांशकी पूर्तिकर ये यशस्वी हुए थे, यह बात भी इसी Catalogus Catalogorum में लिखी हुई है ।

अब हम अधिक विस्तार न कर जिन महानुभावोंने इसके संशोधन, सम्पादन आदिमें परिश्रम किया है, उन्हें हार्दिक धन्यवाद देकर यहींपर विरत होते हैं । इति शम्

गवर्नमेन्ट हाई स्कूल फतेहगढ़
वसन्त पञ्चमी सं० १९९३

प्रेमवल्लभ त्रिपाठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

॥ श्रीः ॥

सिद्धान्तमुक्तावलीकी विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-पंक्ति
देहातिरिक्त आत्माका प्रतिपादन	२ – ३
प्रत्यक्ष आदिके प्रामाण्यका निर्वचन	७ – ५
ब्रह्म और जीवके औपाधिक भेदका विचार	१२ – १
अज्ञानके अस्तित्वमें प्रमाण	१५ – ३
जीवके एकत्वका विचार	१७ – ९
त्रिविध सत्ताका विचार	२७ – १
प्रपञ्चज्ञानके प्रति इन्द्रिय आदिकी कारणताका खण्डन ...	३३ – ७
प्रपञ्चमें अविद्याजन्यत्वका विचार	३९ – ३
कार्यके सत्यत्व और असत्यत्व का विचार	४१ – १
जगत्की प्रातीतिक सत्ताका विचार	४३ – ७
आगमके भेदबोधकत्वका निरास	४९ – १
आत्माके उपनिषत्प्रमाणगम्यत्वका विचार	६५ – २
आत्माके स्वयंप्रकाशत्वका निर्वचन	६८ – ७
आत्माके उपादेयत्वका विचार	७४ – १
अनुपादेयत्वके लक्षणका विचार	७६ – १
आत्मामें पुरुषार्थसाधनता	८४ – ३
भावरूप आत्मामें दुःखाभावरूपत्वकी उपपत्ति	८६ – ८
आत्मामें ज्ञान आदि गुणोंका अभाव	८९ – ७
आत्माके साक्षात्कारमें हेतुका-विचार	९३ – ४
'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंमें लक्षणाका कथन	९८ – १
नीरूप चैतन्यके आभासका कथन	१०२ – १
वेदान्तमहावाक्योंके मुख्यार्थत्वकी अनुपपत्ति	१०४ – ९
साक्षीमें विप्रतिपत्तियोंका परिहार	१०७ – ६
प्रधानवाक्योंमें भी लक्षणाका उपपादन	१०९ – ७
स्वरूप आदि तीन प्रकारके भेदोंका खण्डन	११४ – ५
प्रत्यक्षसे अद्वैतबाधकी आशङ्का	११६ – ६
उक्त आशङ्काका परिहार	११७ – ६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय	पृष्ठ–पंक्ति
अविद्यामें जगत्कारणत्वका कथन	१२१ – ५
अज्ञानको कार्य और अकार्य माननेमें अनुपपत्ति	१२३ – ५
अज्ञानको ज्ञानप्रागभावरूप भी नहीं मान सकते	१२८ – २
अज्ञाननिवृत्तिका निर्वचन	१३३ – ३
बाधका निर्वचन	१३४ – १
विद्या और अविद्याके परस्पर विरोधका कथन	१३८ – ३
शास्त्रसे जीवन्मुक्तिका खण्डन	१४१ – ४
आत्मामें आनन्दत्वादि धर्मोंका सत्त्वाऽसत्त्व-विचार	१४५ – १
संसारावस्थामें पूर्णानन्दस्वभाव आत्माके अस्फुरणमें हेतु ...	१५१ – ५
सर्वज्ञत्वका विचार	१५५ – ३
अनेक युक्तियोंसे द्वैतका प्रतिपादनपूर्वक खण्डन	१६२ – ४
विधि और निषेध शास्त्रोंकी उपपत्ति	१६५ – ४
ख्यातिके अध्यस्तत्वका विचार	१६९ – २
जगत्के तुच्छत्वमें श्रुतिका प्रामाण्य	१७७ – ५
आत्मतत्त्वज्ञानकी अनुत्पत्तिशङ्का और उसका परिहार ...	१७९ – ६
अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर भी संसारकी अनुवृत्तिशङ्काका परिहार	१८३ – ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले भगवान् श्रीशङ्कराचार्य के सिद्धान्त के अविरोधी लेखों एवं उत्तमोत्तम संस्कृत-ग्रन्थोंके भाषानुवाद द्वारा जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

ग्रन्थ-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारत के लिए ६) रु० और विदेशके लिए ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ।।) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डर द्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मँगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिए।

(५) उत्तरके लिए जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिए।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिए।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Regd. No. A. 2426

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

प्रकाशक—व्यवस्थापक, अच्युतग्रन्थमालाकार्यालय, काशी ।
मुद्रक—ना० रा० सोमण, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गु. पुस्तकालय

2426

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

अच्युत

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ॥
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥ ५ ॥

वर्ष ४ } पौष १९९४ { अङ्क १२

संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्युत

वार्षिक मूल्य—६)

एक प्रतिका—॥)

[नोट—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकों के लिए २५ % कमीशन काटकर ४॥) वार्षिक]

सम्पादक—

पं० चण्डीप्रसाद शुक्ल, अध्यक्ष, जो० म० गोयनका-संस्कृत-महाविद्यालय,

स० सम्पादक तथा प्रकाशक—

पं० श्रीकृष्ण पन्त साहित्याचार्य, अच्युत-ग्रन्थमाला-कर्यालय,

ललिताघाट, काशी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवेदन

ग्रन्थमाला-समितिके निर्णयके अनुसार गत वर्षसे हम 'अच्युतमें' चार फार्म आधुनिक विद्वानोंके लेख प्रकाशित करने लगे थे। लेखमाला प्रकाशित करनेमें ग्रन्थमाला-समितिका यही उद्देश्य था कि उन सज्जनोंको भी वेदान्तके तत्त्वका परिज्ञान हो जाय, जिन्हें संस्कृतज्ञ न होनेके कारण अनुवाद द्वारा वेदान्ततत्त्वको हृदयङ्गम करनेमें कठिनाई होती है। परन्तु हमारी यह योजना प्राचीन साहित्य-सेवी कतिपय ग्राहकोंको रुचिकर नहीं हुई और जिस उद्देश्यसिद्धिके लिए यह योजना की गई थी, उसकी पूर्ति भी नहीं दिखाई दी। अतएव ग्रन्थमाला-समितिने आगामी वर्षसे अच्युतमें आधुनिक विद्वानोंके लेख प्रकाशित करना स्थगित कर दिया है। 'अच्युतका' आगामी अंक (पञ्चम वर्षका १म अंक) पुनः अपने प्राचीन रूपमें आप लोगोंके सम्मुख उपस्थित होगा।

पिछले अंकमें पञ्चम वर्षके चन्देके लिए निवेदन किया जा चुका है। आशा है, अनुग्राहक ग्राहक पञ्चम वर्षके १म अंक प्रकाशित होनेके पूर्व ही पञ्चम वर्षका चन्दा भेजनेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक,

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्युत

ललिताघाट, काशी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेख-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
बैठेसे बेगार भली	यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज	३६१
अद्वैत-दर्शन	पं० अमृतलालशास्त्री, वेदान्त-व्याकरणतीर्थ	३६८
जीवका स्वरूप और ब्रह्मके साथ उसका सम्बन्ध	पण्डितवर श्रीचण्डीप्रसादजी शुक्ल	३७१
श्रद्धा	यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज	३८०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम् ,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष ४ } काशी, पौष १९९४ { अङ्क १२

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्यार्यास्तोत्रम्

शुकतुण्डच्छवि सवितुश्चण्डरुचः पुण्डरीकवनबन्धोः ।
मण्डलमुदितं वन्दे कुण्डलमाखण्डलाशायाः ॥ १ ॥
यस्योदयास्तसमये सुरमुकुटनिघृष्टचरणकमलोऽपि ।
कुरुतेऽञ्जलिं त्रिनेत्रः स जयति धाम्नां निधिः सूर्यः ॥ २ ॥
उदयाचलतिलकाय प्रणतोऽस्मि विवस्वते ग्रहेशाय ।
अम्बरचूडामणये दिग्वनिताकर्णपूराय ॥ ३ ॥
जयति जनानन्दकरः करनिकरनिरस्ततिमिरसङ्घातः ।
लोकालोकालोकः कमलारुणमण्डलः सूर्यः ॥ ४ ॥
प्रतिबोधितकमलवनः कृतघटनश्चक्रवाकमिथुनानाम् ।
दर्शितसमस्तभुवनः परहितनिरतो रविः सदा जयति ॥ ५ ॥
अपनयतु सकलकलिकृतमलपटलं सुप्रतप्तकनकाभः ।
अरविन्दवृन्दविघटनपटुतरकिरणोत्करः सविता ॥ ६ ॥
उदयाद्रिचारुचामर हरितहयखुरपरिहतरेणुराग ।
हरितहय हरितपरिकर गगनाङ्गनदीपक नमस्ते ॥ ७ ॥
उदितवति त्वयि विकसति मुकुलीयति समस्तमस्तमितबिम्बे ।
नह्यन्यस्मिन् दिनकर सकलं कमलायते भुवनम् ॥ ८ ॥
जयति रविरुदयसमये बालातपः कनकसन्निभो यस्य ।
कुसुमाञ्जलिरिव जलधौ तरन्ति रथसप्तयः सप्त ॥ ९ ॥
आर्या साम्बपुरे सप्त आकाशात्पतिता भुवि ।
यस्य कण्ठे गृहे वापि न स लक्ष्म्या वियुज्यते ॥१०॥
आर्या सप्त सदा यस्तु सप्तम्यां सप्तधा जपेत् ।
तस्य गेहं च देहं च पद्मा सत्यं न मुञ्चति ॥११॥
निधिरेष दरिद्राणां रोगिणां परमौषधम् ।
सिद्धिः सकलकार्याणां गाथेयं संस्मृता रवेः ॥१२॥

—योगियाज्ञवल्क्यः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैठेसे बेगार भली

(लेखक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी, महाराज)

अरे भाई मन ! ठहर जा, क्षणभरके लिए रुक जा, बन्दरके समान उछल-कूद मत मचा, लम्बी-लम्बी छलांगें मत भर ।

अजी ! आप तो सचमुच बहुत ही भोले हैं, बच्चोंकी-सी बातें करते हैं !

अरे भाई ! मैं भोला कैसे हूँ ? बच्चोंकी-सी बातें कैसे करता हूँ ?

अजी ! आपका कथन तो ऐसा है, जैसे कोई घड़ीमें चाबी लगा दे और घड़ीसे कहे कि चल मत । तब आप भोले नहीं, तो क्या हैं ? बच्चोंकी-सी ही आपकी बातें हैं । जैसे चाबी लगायी हुई घड़ी रुक नहीं सकती, जबतक चाबी समाप्त नहीं होगी, चलती ही रहेगी, वैसे ही जबतक प्रारब्धकी चाबी लगी हुई है, तबतक मैं ठहर नहीं सकता, चलता ही रहूँगा । आपने ही तो 'बैठेसे बेगार भली' 'बैठेसे बेगार भली' ऐसा कह-कहकर मुझमें चाबी भर दी है और अब आप कहते हैं कि ठहर जा । भला, चाबी भरा हुआ मैं कैसे ठहर सकता हूँ ? आपकी घड़ी ठहर जाय तो मैं भी ठहर जाऊँ ! मैं भी चाबी भरी हुई घड़ीके समान हूँ, तभी तो विद्वानोंका कथन है कि वायुको रोकना, समुद्रको पी जाना, सुमेरुको निगल जाना और हाथीको कमानकी दंडीमें बांध देना सहज है, परन्तु मनको रोकना कठिन है । आप असम्भव बात करना चाहते हैं, इसलिए मेरी समझसे तो आप भोलोंसे भी अधिक भोले और बच्चोंसे भी अधिक बच्चे हैं ।

मेरे ठहरनेकी आवश्यकता भी क्या है ? लोकमें कहावत है ही कि 'बैठेसे बेगार भली' । विद्वानोंका वचन है कि निरुद्यमी पुरुष जीता हुआ भी मरे हुएके समान है, आलसी पुरुषकी सब निन्दा करते ही हैं । भगवान्‌का गीतामें वचन है कि न करनेसे करना श्रेष्ठ है, चेष्टा किये बिना तो शरीरका निर्वाह भी नहीं हो सकता । कोई प्राणी क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, यह आप मानते ही हैं, फिर मुझसे रुक जानेके लिए क्यों आग्रह करते हैं ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिना किसी युक्तिके मैं रुकनेवाला नहीं हूँ, युक्ति भी मैं, जबतक मेरी समझमें नहीं आवेगी तबतक, माननेवाला नहीं हूँ। सब प्राणी सुख चाहते हैं, मुझे चलनेमें आनन्द आता है, आप कहते हैं कि ठहर जा, भला मैं अपने आनन्दको कैसे छोड़ दूँ? अभी तो छोड़ नहीं सकता, जब ठहरनेमें आनन्द आने लगेगा, तब ठहरने भी लगूँगा! आप मुझे समझा दें कि ठहरनेमें आनन्द है, तब मैं ठहरनेका अभ्यास करने लगूँगा, अभी तो मुझे चलना अच्छा लगता है।

अरे भाई! देख, क्रियामात्र दुःखरूप है, चलनेमें पैरको श्रम होता है, बोलनेमें वाणीको श्रम होता है, धरने-उठानेमें हाथको परिश्रम होता है और ध्यान करनेमें तुझे दुःख होता है, तभी तो तू किसी एक वस्तुका क्षणभर भी ध्यान नहीं कर सकता, इससे क्रिया दुःखसाध्य है, यह सिद्ध होता है। दुःखरूप ही क्रिया हो, इतना ही नहीं है, किन्तु पापरूप भी है, क्योंकि कोई क्रिया कामनाके बिना नहीं होती और कामना—इच्छा—ही सब अनर्थोंकी जड़ है। इच्छा करनेसे ही हे मन! तू दीन-दुःखी हो रहा है, नहीं तो परब्रह्म ही है। इच्छाके कारणसे तू अनेक कर्म करता है, उनका फल अनेक योनियोंमें भोगता है। यदि तू इच्छा न करे, तो कर्म न हो। यदि कर्म न हो, तो तेरा जन्म भी न हो, इसलिए तू ठहर जा, निश्चेष्ट हो जा, तुझे आनन्दका—अपार आनन्दका—अनुभव होगा?

अजी! चिरकालतक तो आप मुझे बेगार करना सिखाते रहे हैं, कुल आठ दिनोंसे सन्त-महात्माओंका संग करने लगे हैं। जबसे सत्संग करने लगे हैं, तबसे मुझे ठहरने का उपदेश देते हैं और ठहराने भी लगे हैं, परंतु बेगार करते-करते तो मुझे न मालूम कितने जन्म बीत गये हैं, थोड़े दिनोंके अभ्याससे मैं कैसे ठहर सकता हूँ? ठहरना तो दूर रहा, मेरा एकाग्र होकर रहना ही प्रथम तो कठिन है, ठहरने की तो बात दूर रही। जब बेगार करनेका स्वभाव छूट जाय, तब कहीं एकाग्र और निरुद्ध होनेका समय आवे।

भाई! मैंने तुझे बेगार करना कब सिखाया है। मैं तो तुझसे बार-बार ठहरनेके लिए ही कहता रहता हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजी ! दो दिनसे आप मुझे ठहरानेका प्रयत्न करने लगे हैं, उमरभर बेगार करना ही सिखाया है। आप ही क्या, सब ही मेरे समान बेगार ही कर रहे हैं, बेगारमें ही सुख मानते हैं, दुःख पाते हैं, फिर भी बेगार छोड़ना नहीं चाहते। छोड़ें भी कहांसे ? बेचारे सीखे ही यही हैं, उनके गुरुओंने भी उन्हें बेगार करना ही सिखाया है, तब बेगार छोड़ें कैसे ?

अरे भाई ! सब बेगार कैसे कर रहे हैं। बेगार कहते किसको हैं ? मुझे तो कोई भी बेगारी नहीं दीखता।

अजी ! तो आप भोले हैं, यह मेरा कथन ठीक ही है ! उमरभर रामायण सुनी, राम कौन थे, रावण कौन था, यह अभीतक खबर ही नहीं, यही कहावत आपकी है। उमरभर सत्संग किया, बेगार क्या है, यह जानते ही नहीं। सुनिये, बहुतसे ऐसे आलसी और कामचोर होते हैं कि कुछ करना ही नहीं चाहते, वे न तो अपने पेटके लिए और न बाल-बच्चोंके लिए कुछ कमाई करना चाहते हैं, किन्तु पूर्वजों द्वारा उपार्जित धनको बैठे-बैठे खा जाते हैं, अथवा अन्य व्यर्थ कार्योंमें खर्च कर देते हैं, अंतमें आप अपने कुटुम्बसहित भूखों मरने लगते हैं। उनके लिए विद्वानोंने कहा है कि 'बैठेसे बेगार भली'। निरुद्यमी मनुष्य मरे हुए के समान है। कितने ही ऐसे होते हैं कि अपने लिए कमाना और अपना खाना-पीना ही मुख्य समझते हैं, ऐसे लोग कमाई तो करते हैं, परंतु अपने तनके लिए ही करते हैं। ये लोग ऊपरके बैठे-बैठे खानेवालोंसे श्रेष्ठ हैं। बहुतसे अपना और अपने परिवारका ही पेट पालते हैं, अन्य किसीका नहीं। ये लोग उपर्युक्त अपने तनका पोषण करनेवालोंसे श्रेष्ठ हैं। कोई अपना और अपने परिवारका पोषण करते हुए दान-धर्म भी थोड़ा-सा करते हैं, कोई-कोई अपने ग्रामका यथासंभव उद्धार करते हैं, कोई अपनी जातिके उपकारमें तत्पर रहते हैं, उपकार भी लौकिक और पारलौकिक भेदसे दो प्रकारका है, पहलेसे पिछला श्रेष्ठ है, ऐसे लोग प्रशंसनीय हैं। कोई कूप-बावड़ी बनाते हैं, क्षेत्र लगाते हैं, कोई विद्यालय खोलते हैं, कोई धर्मार्थ औषधालय खोल देते हैं, गोशाला बनाते हैं, इत्यादि दान करनेवाले श्रेष्ठ हैं, लोकमें प्रशंसनीय भी हैं। इत्यादि सकाम कर्मकी उपासना करनेवाले इस लोकमें प्रशंसा पाते हैं और अपने-अपने कर्मानुसार गंधर्वलोक, पितृलोक अथवा स्वर्गलोकको प्राप्त होकर वहांके दिव्य भोग चिरकालतक भोगते हैं, इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशंसाके पात्र हैं। सकाम वैदिक उपासना करनेवाले तो महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक यानी ब्रह्मलोकतक यथाक्रम प्राप्त करते हैं। उनके भोग कर्मियोंसे श्रेष्ठ हैं, इसलिए उनसे अधिक प्रशंसनीय हैं और देवताओंके भी पूज्य हैं। इस प्रकार क्रम-क्रमसे ये सभी श्रेष्ठ हैं और पूजनीय भी हैं, फिर भी हैं ये सब बेगारी।

प्यारे भाई! इस लोकमें तो थोड़े दिनका जीवन है, यहांके लोग बेगारी हों, तो हों, स्वर्ग और स्वर्गसे ऊँचे लोकोंके लोग बेगारी क्यों हैं? वहां तो बहुत कालतक जीते हैं, नीरोग रहते हैं और एक-से-एक बढ़ कर भोग भोगते हैं।

अरे भाई! इन्द्र, ब्रह्मा आदि तो सब देवताओंसे श्रेष्ठ हैं, इनका पद तो बड़ा भारी तप करनेसे किसी विरले भाग्यवान्‌को प्राप्त होता है। ये तो त्रिलोकी और चौदह भुवनोंके अधिपति होते हैं, उनको बेगारी नहीं कह सकते?

अजी! बेगार उसको कहते हैं, जो बलात्कारसे कराई जाय और जिसमें मजदूरी थोड़ी मिले। लोकदृष्टिसे चाहे कोई इनको बेगारी न कहे, अथवा स्वयं ये अपनेको बेगारी न समझें, क्योंकि 'देवाः स्वयंभातवेदाः' इस न्यायके अनुसार ये सब वेदज्ञ होते हैं, परन्तु ब्रह्मदृष्टिसे तो बेगारी ही हैं, क्योंकि काल्पनिक होनेसे उनके सब पद मिथ्या हैं और मिथ्यासे भय होता है। मिथ्याको प्राप्त करनेसे लाभ कुछ नहीं है। मिथ्या पद एक दिन छुट जाता है और इसमें मोहित होनेका भय होता है, इसलिए विद्वान् मिथ्यासे दूर ही रहते हैं। जैसे उपर्युक्त सब बेगार करनेवाले हैं, वैसे ही मुझे भी आपने बेगार करना सिखाया है। मैं भी अनादि कालसे बेगार करता आया हूँ। अब जल्दीसे बेगार कैसे छोड़ दूँ? मुझसे आप ठहरनेका आग्रह न करें, जब मैं शुद्ध हो जाऊँगा, तब स्वयं ही ठहर जाऊँगा।

भाई! परन्तु तू शुद्ध कैसे होगा और कब होगा?

अजी! अबतक आप कामनासे देवताओंका पूजन करते रहे हैं अथवा मुझसे कराते रहे हैं। अब आप ईश्वरार्पणबुद्धिसे सब कर्म कीजिए, ऐसा करनेसे ऋषि, पितर और देवता प्रसन्न हो जायँगे। जहाँ ईश्वरके अङ्गरूप देवता आदि प्रसन्न हुए कि अङ्गी अन्तर्यामी ईश्वर भी प्रसन्न हुआ। ईश्वरके प्रसन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते ही मैं अप्रसन्न हो जाऊँगा, मेरे अप्रसन्न होते ही आप प्रसन्न हो जायँगे। यद्यपि आप तो स्वभावसे ही प्रसन्न हैं, फिर भी जैसे मलिन दर्पणमें स्पष्ट मुख दिखाई नहीं देता, निर्मल दर्पण हो जानेपर स्पष्ट दिखाई देने लगता है, वैसे ही मेरे शुद्ध हो जानेपर आपको अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव होने लगेगा, इसलिए आप ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करके मुझे शुद्ध कर लीजिए।

अरे भाई! तेरी इन बातोंसे तो मुझे ऐसा अनुमान होता है कि तू इस जन्ममें अथवा पूर्व जन्ममें ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म कर चुका है, तभी तो विवेकियोंके समान बातें करता है, अब तो तू मुझे अपने ठहरनेका उपाय बता, तू स्थिर किस प्रकार होगा, यह मुझे बतला!

अजी! मेरे स्थिर होनेके अनेक उपाय हैं, परन्तु उन सबमें अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय मुख्य हैं।

भाई! दोनोंका स्वरूप, साधन और फल बतला। तेरा कल्याण हो?

अजी! श्रुति कहती है—'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है', 'यह सब ब्रह्म ही है', 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि। इन श्रुतियोंके अनुसार सब दृश्यरूप जगत्में सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मको देखिए। नाम और रूप जगत्के मिथ्या हैं, नाम और रूप उपाधिको छोड़कर सत्यस्वरूप, चैतन्यस्वरूप और सुखस्वरूप ब्रह्म ही सच्चा है, यह ब्रह्म आत्मा है, ऐसा नित्य निरन्तर अभ्यास कीजिए। ऐसा अभ्यास करनेसे वैराग्य स्वयं ही सिद्ध हो जायगा, क्योंकि जहाँ ब्रह्मात्माका सत्यत्व और जगत्का मिथ्यात्व ज्ञात हुआ, जगत्से वैराग्य और ब्रह्मात्मामें अनुराग हो ही जायगा। जगत्में राग न रहना और ब्रह्ममें अनुराग होना, यही दोनोंका स्वरूप है, इसीका अभ्यास करना साधन है और ब्रह्मात्माके सिवा समस्त द्वैतका लय हो जाना फल है, यही जीवन्मुक्ति है और यही विदेहमुक्ति है, इसका अभ्यास करके देखिए, अभी मैं स्थिर हुआ जाता हूँ, ऐसा स्थिर हो जाऊँगा कि मेरा चलना-चलाना भी कठिन हो जायगा।

अहा हा! अब तो भाई ठहरने लगा है, कुछ देरके लिए ही ठहरता है, अधिक नहीं ठहरता। अधिक क्यों नहीं ठहरता, तेरे ठहरनेमें मुझे आनन्द आता है। जब तू चलने लगता है, तो मेरा आनन्द जाता रहता है। यही मैं चाहता हूँ कि तू सर्वदा ठहरा ही रहे, कभी कहीं चले ही नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशंसाके पात्र हैं। सकाम वैदिक उपासना करनेवाले तो महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक यानी ब्रह्मलोकतक यथाक्रम प्राप्त करते हैं। उनके भोग कर्मियोंसे श्रेष्ठ हैं, इसलिए उनसे अधिक प्रशंसनीय हैं और देवताओंके भी पूज्य हैं। इस प्रकार क्रम-क्रमसे ये सभी श्रेष्ठ हैं और पूजनीय भी हैं, फिर भी हैं ये सब बेगारी।

प्यारे भाई! इस लोकमें तो थोड़े दिनका जीवन है, यहांके लोग बेगारी हों, तो हों, स्वर्ग और स्वर्गसे ऊँचे लोकोंके लोग बेगारी क्यों हैं? वहां तो बहुत कालतक जीते हैं, नीरोग रहते हैं और एक-से-एक बढ़ कर भोग भोगते हैं।

अरे भाई! इन्द्र, ब्रह्मा आदि तो सब देवताओंसे श्रेष्ठ हैं, इनका पद तो बड़ा भारी तप करनेसे किसी विरले भाग्यवान्‌को प्राप्त होता है। ये तो त्रिलोकी और चौदह भुवनोंके अधिपति होते हैं, उनको बेगारी नहीं कह सकते?

अजी! बेगार उसको कहते हैं, जो बलात्कारसे कराई जाय और जिसमें मजदूरी थोड़ी मिले। लोकदृष्टिसे चाहे कोई इनको बेगारी न कहे, अथवा स्वयं ये अपनेको बेगारी न समझें, क्योंकि 'देवाः स्वयंभातवेदाः' इस न्यायके अनुसार ये सब वेदज्ञ होते हैं, परन्तु ब्रह्मदृष्टिसे तो बेगारी ही हैं, क्योंकि काल्पनिक होनेसे उनके सब पद मिथ्या हैं और मिथ्यासे भय होता है। मिथ्याको प्राप्त करनेसे लाभ कुछ नहीं है। मिथ्या पद एक दिन छुट जाता है और इसमें मोहित होनेका भय होता है, इसलिए विद्वान् मिथ्यासे दूर ही रहते हैं। जैसे उपर्युक्त सब बेगार करनेवाले हैं, वैसे ही मुझे भी आपने बेगार करना सिखाया है। मैं भी अनादि कालसे बेगार करता आया हूँ। अब जल्दीसे बेगार कैसे छोड़ दूँ? मुझसे आप ठहरनेका आग्रह न करें, जब मैं शुद्ध हो जाऊँगा, तब स्वयं ही ठहर जाऊँगा।

भाई! परन्तु तू शुद्ध कैसे होगा और कब होगा?

अजी! अबतक आप कामनासे देवताओंका पूजन करते रहे हैं अथवा मुझसे कराते रहे हैं। अब आप ईश्वरार्पणबुद्धिसे सब कर्म कीजिए, ऐसा करनेसे ऋषि, पितर और देवता प्रसन्न हो जायँगे। जहाँ ईश्वरके अङ्गरूप देवता आदि प्रसन्न हुए कि अङ्गी अन्तर्यामी ईश्वर भी प्रसन्न हुआ। ईश्वरके प्रसन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते ही मैं अप्रसन्न हो जाऊँगा, मेरे अप्रसन्न होते ही आप प्रसन्न हो जायँगे। यद्यपि आप तो स्वभावसे ही प्रसन्न हैं, फिर भी जैसे मलिन दर्पणमें स्पष्ट मुख दिखाई नहीं देता, निर्मल दर्पण हो जानेपर स्पष्ट दिखाई देने लगता है, वैसे ही मेरे शुद्ध हो जानेपर आपको अपने शुद्ध स्वरूपका अनुभव होने लगेगा, इसलिए आप ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करके मुझे शुद्ध कर लीजिए।

अरे भाई! तेरी इन बातोंसे तो मुझे ऐसा अनुमान होता है कि तू इस जन्ममें अथवा पूर्व जन्ममें ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म कर चुका है, तभी तो विवेकियोंके समान बातें करता है, अब तो तू मुझे अपने ठहरनेका उपाय बता, तू स्थिर किस प्रकार होगा, यह मुझे बतला!

अजी! मेरे स्थिर होनेके अनेक उपाय हैं, परन्तु उन सबमें अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय मुख्य हैं।

भाई! दोनोंका स्वरूप, साधन और फल बतला। तेरा कल्याण हो?

अजी! श्रुति कहती है—'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है', 'यह सब ब्रह्म ही है', 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि। इन श्रुतियोंके अनुसार सब दृश्यरूप जगत्में सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मको देखिए। नाम और रूप जगत्के मिथ्या हैं, नाम और रूप उपाधिको छोड़कर सत्यस्वरूप, चैतन्यस्वरूप और सुखस्वरूप ब्रह्म ही सच्चा है, यह ब्रह्म आत्मा है, ऐसा नित्य निरन्तर अभ्यास कीजिए। ऐसा अभ्यास करनेसे वैराग्य स्वयं ही सिद्ध हो जायगा, क्योंकि जहाँ ब्रह्मात्माका सत्यत्व और जगत्का मिथ्यात्व ज्ञात हुआ, जगत्से वैराग्य और ब्रह्मात्मामें अनुराग हो ही जायगा। जगत्में राग न रहना और ब्रह्ममें अनुराग होना, यही दोनोंका स्वरूप है, इसीका अभ्यास करना साधन है और ब्रह्मात्माके सिवा समस्त द्वैतका लय हो जाना फल है, यही जीवन्मुक्ति है और यही विदेहमुक्ति है, इसका अभ्यास करके देखिए, अभी मैं स्थिर हुआ जाता हूँ, ऐसा स्थिर हो जाऊँगा कि मेरा चलना-चलाना भी कठिन हो जायगा।

अहा हा! अब तो भाई ठहरने लगा है, कुछ देरके लिए ही ठहरता है, अधिक नहीं ठहरता। अधिक क्यों नहीं ठहरता, तेरे ठहरनेमें मुझे आनन्द आता है। जब तू चलने लगता है, तो मेरा आनन्द जाता रहता है। यही मैं चाहता हूँ कि तू सर्वदा ठहरा ही रहे, कभी कहीं चले ही नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अजी ! मेरे ठहरनेमें आपको आनन्द आता है, मेरे न ठहरनेसे आपका आनन्द चला जाता है, तो चला जाय, और आ जाय, वह आनन्द नहीं है। आनन्द तो वही है, जो न कभी जाय, न कभी आवे। मेरा ठहर जाना आनन्द नहीं है, किंतु आनन्दाभास है—आनन्द-सा प्रतीत होता है—परंतु आनन्द है नहीं। जैसे जलकी शीतलता जल नहीं है, वैसे ही आनन्दाभास भी आनन्द नहीं है। आनन्द तो अक्रिय है, शान्त है, नित्य है। आपको तो मेरे ठहरनेमें आनन्द आता है, परन्तु मैं अक्रिय नहीं हुआ, क्योंकि पूर्वमें शरीरादिको चलानेकी क्रिया करता था, अब शरीरादिको चलनेसे रोकनेकी क्रिया करता हूँ, तब मैं तो आनन्दरूप नहीं हुआ। जब मैं नहीं हुआ तब आप भी नहीं हुए। आप तो मुझे आपमें लय करके आप ही शेष रह जाइये, मेरा क्रिया करना और न करना दोनों मिथ्या ही हैं। यदि आप मेरी क्रिया करनेको सुख समझ लेंगे, तो आप कभी मुक्त न होंगे। मेरी क्रिया या अक्रियासे आपका कोई सम्बन्ध नहीं हैं। आप तो कूटस्थ, असङ्ग, क्रिया अथवा अक्रियासे पर नित्य आनन्द स्वरूप हैं। मेरी क्रिया या अक्रिया दोनोंमें आप आनन्दस्वरूप विद्यमान हैं, मेरी क्रिया या अक्रियासे आपका तीनों कालमें सम्बन्ध नहीं है। आप, तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप ही हैं। आप तो पूर्ण होनेसे सर्वदा बैठे ही रहते हैं, बेगारसे आपका कोई कभी कहीं प्रयोजन ही नहीं है। 'बैठेसे बेगार भली', यह लोकोक्ति आप अलौकिकके लिए नहीं है। आपका स्वरूप तो वेद भगवान्‌ने इस प्रकार गाया है—

आत्मदर्शन

(१)

अच्युत निरामय देव जो निष्कल निरंजन नित्य है,
ना बुद्धि ही पहुँचे जहां, नहीं पहुँचता चित्त है।
सो देव मेरा इष्ट है, जो शुद्ध शाश्वत मुक्त है,
योगी जिसे है जानता, जाने न विषयासक्त है॥

(२)

अच्युत-अचल, अक्षय-अचल, शिवशान्त सबका आप है।
माया रहित काया रहित, निस्संग है, निष्पाप है॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो सर्वका आधार है, जो आप बिनु आधार है।
सो देव मेरा ध्येय है, पाता न जिसका पार है॥

(३)

जो सर्वमें है रम रहा, फिर भी सभोंसे भिन्न है।
जो आप सबका आप है, ना आपसे कुछ अन्य है॥
जो धीर इसको जानते, सो ही नरोंमें धन्य है।
सो देव मम भजनीय है, जो सर्वशून्य अनन्य है॥

(५)

यह लोक ही सब जानते, परलोक ना जो मानते।
ना धर्म ही ना ईश, केवल देह आत्मा जानते॥
ऐसे अभागे मूढ़ नर यमयातना सहते रहैं।
सो कल्प तक भवसिंधुसे होते नहीं वे पार हैं॥

(४)

यज्ञादि करि इन्द्रादिसे फल मांगते जो मूढ़ हैं।
वे मोक्ष पदसे सैकड़ों लाखों हि कोसों दूर हैं॥
इन्द्रादिकी बेगार है ऐसा सदा करते रहैं।
ऊँचे चढ़े नीचे गिरैं, जन्मा करैं मरते रहैं॥

(६)

मम देव अच्युत जे भजें, संसारमें ना आये हैं।
शिव शान्त अच्युत माँहि मिल बेगारसे छुट जायँ हैं॥
बेगार भोला! छोड़ दे, तज देह अनुसंधान रे।
पर ध्यान अच्युतका, इसीका रात-दिन करि गान रे॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैत-दर्शन

(पूर्व लेखसे आगे)

(लेखक—पं० श्रीअमृतलाल शास्त्री, वेदान्त-व्याकरणतीर्थ)

पूर्व लेख द्वारा अद्वैतदर्शन-सिद्धान्तमें समस्त दृश्य प्रपञ्चका मिथ्यात्व प्रतिपादन किया। जो द्वैतवादी श्रुति और सूत्रके आधारसे जगत्के सत्यत्वका प्रतिपादन करनेका यत्न करते हैं, उनके प्रति इतना ही कथन पर्याप्त है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंसे जगत्की सत्यता सम्पूर्ण प्राणियोंको ज्ञात है, और अबाधित अर्थका ज्ञापक होना ही शास्त्रके प्रामाण्यका प्रयोजक है। वेद यदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे प्रमित अर्थका प्रतिपादन करेगा, तो वह अनुवादक हो जायगा, वह स्वतन्त्ररूपसे प्रमाण नहीं रहेगा, क्योंकि जिस प्रमाणसे अज्ञातार्थ ज्ञात हुआ है वही मूल प्रमाण रहेगा। उसकी अपेक्षा रखनेवाले वेदवाक्यमें स्वतःप्रमाणत्व दुर्घट हो जायगा। इसलिए सर्वविदित जगत्के सत्यत्वका प्रतिपादन करना शास्त्रके तात्पर्यका विषय नहीं है। वेदप्रतिपादित कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड व्यावहारिक सत्ताको लेकर चित्तशुद्धि द्वारा परम-प्रयोजनमें उपकारक होनेसे उपदिष्ट हैं। जहांतक प्रपञ्चके अधिष्ठान ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार नहीं होता है, वहांतक सम्पूर्ण द्वैतव्यवहार अबाधित चलता है। ब्रह्म-साक्षात्कार होनेके बाद कोई लौकिक या वैदिक व्यवहार रहता ही नहीं। इस-लिए अद्वैतसिद्धान्तमें उक्त व्यवस्था सर्वथा समञ्जस है। अब अद्वैतका विचार करेंगे। द्वयोर्भावो द्विता, द्विता एव द्वैतम्, न द्वैतम् अद्वैतम्—भेदका अभाव। एक ही परमार्थ सत् तत्त्व है, यह अद्वैतपदका अर्थ है। भेदमात्र कल्पनारूप है। मनःस्पन्दन होनेपर ही भेदका स्फुरण होता है। दृश्य प्रपञ्चकी प्रतीति भी मनःस्पन्दनके अधीन है। जाग्रत् और स्वप्नमें मनःस्पन्दन अविरत हुआ करता है, इसलिए उस अवस्थामें प्रपञ्च दीख पड़ता है। सुषुप्ति और समाधिमें मनका उपराम हो जाता है अतः कुछ दृश्य और भेद देखनेमें नहीं आता, इससे उक्त सिद्धान्त उपपन्न है। चलित-भ्रान्त—चित्तके अधीन जिसकी प्रतीति है, उसका सत्यत्व कैसे कहा जाय? अतः अद्वैत ही परमार्थ है। द्वैत सभी उसमें कल्पित है। श्रुतियोंके अनेक वाक्य अद्वैतका प्रतिपादन करते हैं। छान्दोग्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषद्के छठे अध्यायके द्वितीय खण्डमें आरुणिनामक महर्षिने अपने पुत्र श्वेतकेतुको उपदेश दिया है—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'

(यह जगत् उत्पत्तिके पूर्व एक अद्वितीय सद् ब्रह्मरूप ही था) यहां 'एकम्', 'एव' और 'अद्वितीयम्' इन तीन पदों द्वारा स्वगत, सजातीय और विजातीय तीनों भेदोंका निषेध किया गया है। वृक्षमें शाखा, पत्र, पुष्प आदिके भेदको स्वगतभेद कहते हैं, एक वृक्षका सजातीय दूसरे वृक्षसे जो भेद है, उसको सजातीय भेद कहते हैं। एक वृक्षका विजातीय शिलादिसे जो भेद है, उसको विजातीय भेद कहते हैं। इनमें से कोई भेद ब्रह्ममें नहीं है। ब्रह्म निरवयव है, अतः उसमें स्वगत भेद नहीं है। ब्रह्मके समान स्वतन्त्र सत्तावाला कोई पदार्थ नहीं है, अतः उसमें सजातीय भेद नहीं है। ब्रह्ममें विजातीय जड़ पदार्थ कल्पित हैं, अतः वे उसके तादात्म्यसे ही भासते हैं, इसलिए उसमें विजातीय भेद भी नहीं है। इस तरह उत्पत्तिके पूर्व अद्वैतका उपदेश करके 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि वचन द्वारा जगदुत्पत्त्यादिका अध्यारोप करके अनेक उदाहरणों और युक्तियों द्वारा कारणतत्त्वके ही सत्यत्व और सर्वानुस्यूतत्वका उपदेश कर उपसंहारमें 'स एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (जो यह अतिसूक्ष्म पदार्थ है, तद्रूप यह सब विश्व है, वही सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! तुम तद्रूप हो) इस तरह तत्त्वोपदेश देकर मिथ्याज्ञानवालेको, अनृतवादी चौरके दृष्टान्तसे तप्त परशुके दाहके समान, संसारसन्तापकी प्राप्ति और सत्यवादीमें तप्तपरशुदाहके अभावके समान तत्त्वज्ञानीमें संसारदुःखनिवृत्तिरूप फल बतलाया है। इससे अद्वैतब्रह्मनिष्ठा ही कल्याणकारक है, यह स्पष्टरूपसे प्रतिपादन किया। बृहदारण्यक उपनिषद्में भी प्रथमाध्यायके चतुर्थ ब्राह्मणमें 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत्। तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' इस वचनसे अपने आत्माको ब्रह्मरूप जाननेसे सर्वात्मताप्राप्ति और देव, ऋषि और मनुष्योंमें जिसको यह ज्ञान हुआ वह तद्रूप हो गया, इस प्रकार अभेदनिष्ठावालेको उत्तम फलप्राप्ति बतला कर भेदबुद्धिवालेकी निन्दा की है—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' (जो मनुष्य देवताकी अपनी

 CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मासे भिन्न मानकर उपासना करता है, वह देवता अन्य है, मैं अन्य हूँ, ऐसी बुद्धि रखता है, वह सत्यको नहीं जानता है, वह देवोंमें पशुतुल्य है)। ये सब श्रुतिवचन इतने स्पष्ट हैं कि इनमें कोई खींचातानी हो ही नहीं सकती। व्यर्थ शास्त्रार्थ करनेकी यहां जरूरत नहीं है। यह अर्थ प्रमाणान्तरसे अविदित होनेसे अपूर्व है और सफल है, इसलिए अभेदमें ही श्रुतिका तात्पर्य है। एवं 'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद। क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद। लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान् वेद। देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद। भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद। सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद। इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा।' बृहदारण्यकके इस वचननिचयमें भी अद्वैतका ही उपदेश है। जो मनुष्य ब्राह्मण-जातिको अपनी आत्मासे (ब्रह्मस्वरूपसे) भिन्न मानता है, उसको वही ब्राह्मण-जाति मोक्षपदसे दूर करती है, एवं क्षत्रियजाति, लोक, देव, भूत, सर्ववस्तुको आत्मासे पृथक् माननेवाले मिथ्याज्ञानीको वे सब मिथ्याभिमान स्वार्थसे गिरा देते हैं।

भेदवादी लोग 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वाक्योंका ऐसा अर्थ बतलाते हैं कि जैसे 'अस्मिन् ग्रामेऽयमद्वितीयः पुरुषः' अर्थात् इस ग्राममें यह पुरुष अद्वितीय है, इसके तुल्य दूसरा कोई नहीं है, यही सर्वोत्तम है वैसे परमेश्वर ही सर्वोत्तम है, तत्समान कोई नहीं है। परन्तु इस अर्थमें श्रुत्युक्त एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञाकी सिद्धि नहीं हो सकती। और छान्दोग्यमें एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञानकी प्रतिज्ञाके उपपादनके लिए मृल्लोहादि दृष्टान्त बतलाये हैं, उनका तात्पर्य कारणतत्त्वके पारमार्थिकत्वमें ही है। भेदवादीके मतमें कार्य और कारण दोनों सत्य माने गये हैं। श्रुति 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (घटादि विकार—कार्य—वाङ्मात्र हैं, कुछ वस्तु नहीं हैं; मृत्तिकारूप कारण ही सत्य है) ऐसा स्पष्ट उपदेश करती है। इसलिए भेदवादीका मन्तव्य केवल हठाग्रह है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवका स्वरूप और ब्रह्मके साथ उसका सम्बन्ध

(लेखक—पण्डितवर श्रीचण्डीप्रसादजी शुक्ल)

संसारमें लौकिक कारणोंके समान होनेपर भी कार्यमें भेद—वैचित्र्य—देखा जाता है अर्थात् एक ही माता-पितासे जायमान तथा समानरूपसे पोषित बालकोंमें एक बुद्धिमान्, दूसरा मूर्ख, एक सुखी, दूसरा दुःखी, एक नीरोग और दूसरा सरोग देखा जाता है, सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर भी कोई लौकिक कारणका भेद प्रतीत नहीं होता, फिर यह वैचित्र्य कहांसे आया। व्याकरण-भाष्यकार पतञ्जलिमुनिने भाष्यमें लिखा है—

'समानमीहमानानामधीयानानां केचिदर्थैर्युज्यन्ते नाऽपरे तत्र किं कर्तुं शक्यतेऽस्माभिः।'

अर्थात् समानपरिश्रमसे पढ़नेवाले छात्रोंमें कोई कोई पण्डित होते हैं और कोई कोई नहीं होते, उसमें हम क्या करें? हम समानरूपसे पढ़ानेसे अधिक क्या कर सकते हैं?

इस वैचित्र्यका कारण अलौकिक हेतु है, जिसको हम सनातनधर्मी प्रारब्ध कर्म कहते हैं अर्थात् इस जन्ममें जो हम सुख-दुःख भोगते हैं, वे पूर्व-जन्ममें अपनेसे किये गये पुण्य और पापके फल हैं और अब जो पुण्य-पाप करते हैं, उनके फल—सुख-दुःख—अगले जन्ममें भोगेंगे। सारांश यह है कि आत्मा नित्य और अनादि है। वह कर्मके अनुसार कभी ऊँच और कभी नीच शरीरको ग्रहण करता रहता है।

'नद्याः कीटा इवाऽऽवर्त्तात् आवर्त्तान्तरमाशु ते।
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम्॥'

(जैसे नदीके आवर्त्तमें पड़े हुए कीड़े एक आवर्तसे दूसरे आवर्तमें विवश होकर जाते हैं और कभी सुख नहीं पाते, वैसे ही एक शरीरसे अन्य शरीरमें भ्रमण करता हुआ यह जीव कभी सुख नहीं पाता)। यद्यपि जीव नित्य है वस्तुतः उसके जन्म-मरण नहीं होते, तथापि नवीन शरीरका ग्रहण और प्राचीन शरीरका त्याग ही जन्म-मरण कहलाते हैं। इसमें प्रमाण हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'न जायते म्रियते वा विपश्चित् नाऽयं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥'

अर्थात् विद्वान् न जन्म लेता है और न मरता है, क्योंकि पहले न रहकर पीछे होना ही जन्म है, और होकर न होना मरण है। वे दोनों जीवात्माके नहीं हो सकते, कारण कि वह सदा रहता है—वह अज, नित्य, सदातन और पुराना है। शरीरके नष्ट होनेपर भी वह नष्ट नहीं होता।

'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥'

कोई-कोई कर्म और उपासनाके अनुसार शरीरका ग्रहण करनेके लिए योनिमें प्राप्त होते हैं और अन्य स्थावरभावको प्राप्त होते हैं।

'देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥'

अर्थात् जैसे देहमें बचपन, जवानी और बुढ़ापा—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं वैसे ही जीवको देहान्तरकी प्राप्ति होती है, इसमें धीर मोहको प्राप्त नहीं होते।

'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नरोऽपराणि॥'

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंका त्याग कर नये वस्त्र धारण करते हैं, वैसे ही जीव पुराने शरीरका त्याग कर नये शरीरका ग्रहण करते हैं—इत्यादि अनेक वचन। यही प्रारब्धवाद—पुनर्जन्मवाद—सनातनधर्मरूपी कल्पवृक्षकी प्रधान जड़ है और वैदिक धर्मरूप प्रासादकी बुनियाद है। सनातन वैदिक धर्ममें अनेक मत-भेद होनेपर भी इस विषयमें ऐक्य है। इस विषयपर पूज्यचरण उदयनाचार्यने—

'सापेक्षत्वादनादित्वात् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुरलौकिकः॥'

(कारणकी अपेक्षासे ही सभी कार्य उत्पन्न होते हैं और वे कारण भी अपने कारणकी अपेक्षासे ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् कार्यकारणभावका प्रवाह अनादि है, अतः कारणसे ही कार्य उत्पन्न होते हैं, बिना कारणके नहीं; यह सिद्ध होता है। और मूर्खसे पण्डित तक मनुष्यमात्रकी स्वाभाविक धार्मिक प्रवृत्तिसे और लौकिक कारणके समान होनेपर भी बुद्धि, विद्या, सुख आदि कार्योंमें भेद होनेसे तथा प्रतिजीव भोगके नियत होनेसे अलौकिक प्रारब्धकर्म भी कार्यके प्रति कारण है, यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्ध होता है) इस वचनसे खूब प्रकाश डाला है। यही ईसाई और इसलाम धर्मसे सनातनधर्ममें अन्तर है। उन मतोंमें प्रारब्ध कर्म और पुनर्जन्म नहीं माना गया है। हम दार्शनिकोंसे प्रार्थना करते हैं कि इस विषयपर अधिकसे अधिक प्रकाश डालें।

थियोसोफिष्ट-सम्प्रदायकी अधिनेत्री वासन्तीदेवीने हिन्दू-धर्मकी दीक्षाके ग्रहणमें कारण बतलाते समय एक पत्रमें लिखा था कि मेरा प्रिय पुत्र बिमार हो गया, मैंने जी-जानसे सब उद्योग किये, प्रसिद्ध-प्रसिद्ध अनेक डाक्टरोंकी ओषधि की, परन्तु रोग नहीं छूटा, अन्तमें मुझे प्रिय पुत्रके वियोगसे असह्य दुःख भोगना पड़ा और यह निश्चय हुआ कि पूर्व-जन्ममें सञ्चित अनुकूल कर्म होनेपर ही लौकिक उपाय सफल होते हैं अन्यथा नहीं। उन्होंने तुरन्त प्रारब्धवाद और पुनर्जन्मवाद पर विश्वास कर हिन्दू-धर्मकी दीक्षा ली।

'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता'।

विधिके—प्रारब्धके—प्रतिकूल होनेपर बहुत-से उपाय व्यर्थ हो जाते हैं, अभिलषित कार्य सिद्ध नहीं होता, इस अभियुक्तकी उक्तिके अनुसार यह ठीक ही है।

'परमेश्वर सृष्टि बनाता है' इस ईश्वरसृष्टिवादमें विपक्षी दो प्रश्न करते हैं। प्रथम प्रश्न यह कि यदि परमेश्वर सृष्टि बनाता है, तो सभी जीवोंको सुखी, धनी, नीरोग और बुद्धिमान् क्यों नहीं बनाता? विषम सृष्टि क्यों बनाता है? दूसरा प्रश्न यह है कि दुःखियोंके हा! हा! शब्द सुनकर उनपर दया उसे क्यों नहीं आती? प्रश्नका आशय यह है कि चेतन ऐसा कार्य नहीं करता जिससे उसमें वैषम्य और नैर्घृण्यका दोष लगे। सृष्टिके निर्माणमें दो दोष हैं, इससे वह चेतनसे—ईश्वरसे—कृत नहीं है। इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर प्रारब्धवादमें बड़ी खूबीसे हो जाता है कि ईश्वर जीवोंके सञ्चित कर्मोंके अनुसार अर्थात् जिस जीवका जैसा कर्म है, उसके लिए वैसी ही सृष्टि बनाता है। इससे उसमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं है। किसी भी न्यायी राजामें योग्यका सत्कार करने और अयोग्यको दण्ड देनेसे वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं लगता। यह बात वेदान्तदर्शनमें व्यासदेवने 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' (जीवोंके कर्मोंके अनुसार ईश्वर सृष्टि बनाता है, इससे उसमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं लगते) इस सूत्रमें स्पष्ट दिखलाई है। इन प्रश्नोंका उत्तर ईसाई प्रभृतिके मतानुसार कभी नहीं हो सकता।

अब तकके लेखसे यह सिद्ध हो गया कि जीव नित्य है और अपने कर्मोंके अनुसार नये शरीरका ग्रहण और पुराने शरीरका त्याग करता रहता है। इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहण और त्यागको जन्म और मरण कहते हैं। वस्तुतः जीवके जन्म-मरण नहीं होते। अब जीवका स्वभाव और परमात्माके साथ उसका सम्बन्ध क्या है? यह यथाशक्ति दिखलावेंगे—

'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा'॥

जैसे एक ही ज्योतिःस्वरूप सूर्य भिन्न-भिन्न जलमें प्रतिबिम्बित होकर अनेक-रूप हो जाता है, वैसे ही प्रकाशस्वरूप एक ही परमात्मा अविद्या, सूक्ष्म और स्थूल शरीरमें प्रतिबिम्बित होकर अनेक जीवरूप हो जाता है।

'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥'

जैसे चन्द्रमा आकाशमें एकरूपसे और जलमें अनेकरूपसे दीखता है वैसे ही एक ही सत्य परमात्मा शरीर-शरीरमें प्रतिबिम्बित होकर अनेकरूपसे दीखता है।

इन वचनोंसे यह प्रतीत होता है कि जीव परमेश्वरका प्रतिबिम्ब है और परमेश्वर एक है एवं अविद्या, सूक्ष्म और स्थूल शरीरोंके भेदसे उसके प्रतिबिम्ब (जीव) अनेक हैं। तथा 'मम इदं मुखं दर्पणे भासते' (मेरा यह मुख दर्पणमें भासता है), 'आकाशस्थः सूर्यो जले भासते' (आकाशका सूर्य जलमें भासता है)—इन अनुभवोंसे प्रतीत होता है कि भेदके भासनेपर भी वस्तुतः बिम्ब और प्रतिबिम्ब एक ही है, अतः ब्रह्म और जीव भी एक ही हैं, भेदप्रतीति भ्रमसे होती है। और जैसे परमार्थ ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द रूप निर्विशेष है, वैसे ही उसके साथ ऐक्य होनेसे जीव भी सत्, चित्, आनन्दरूप निर्विशेष ही है। फिर भी माया—अविद्या—उपाधिसे जैसे ब्रह्म सर्वज्ञत्व, अन्तर्यामित्व, भूतानुग्राहकत्व आदि कल्याण गुणोंका भाजन होता है, वैसे ही जीव अविद्यावश अज्ञत्व, दुःखित्व आदि अशुभ गुणोंसे युक्त होता है। यह बात—

'मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वत्र ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा॥'

(बिम्बस्थानीय ब्रह्म मायारूप उपाधिको अपने वशमें कर सर्वज्ञ, ईश्वर—अन्तर्यामी—है और अविद्याके स्वयं वशमें होकर जीव अनेक और दुःखी हैं।) इस वचनमें स्पष्ट कही गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न—चन्द्र और सूर्य मूर्त्त हैं और जल भी मूर्त्त और भिन्न रूपसे प्रत्यक्ष है, अतः वहाँ उनका प्रतिविम्ब होना युक्त है, परन्तु ब्रह्म अमूर्त्त एवं व्यापक है और अविद्या एवं अन्तःकरण अप्रत्यक्ष तथा उससे अलग नहीं हैं। अतः यहाँ प्रतिविम्ब कैसे होगा ?

उत्तर—दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका साम्य सब अंशोंमें कहीं भी नहीं होता, किन्तु विवक्षित अंशमें होता है, वह यहाँ भी है ही। जैसे जलकी वृद्धि या अल्पता होनेपर प्रतिविम्ब भी बढ़-घट जाता है और चलनेपर वह चलता है, विम्ब सदा एकरूप रहता है, वैसे ही उपाधि शरीर और अन्तःकरणके छोटे, बड़े और चलित होनेपर प्रतिविम्ब—जीव—भी छोटे, बड़े एवं चलित होते हैं। विम्ब—ब्रह्म—सदा एकरस रहता है, यही विवक्षित अंश है, उसमें साम्य है, इससे उपमा ठीक ही है।

प्रश्न—'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥'

(जैसे अग्नि काष्ठरूप भुवनमें प्रवेश कर प्रत्येक काष्ठमें उसके सदृश होती है। अथवा जैसे वायु पंखारूप भुवनमें प्रवेश कर प्रत्येक पंखेमें उनके सदृश हो जाता है, वैसे ही सब भूतोंके भीतर रहनेवाला एक ही परमात्मा अविद्या, अन्तःकरण और स्थूल शरीरमें प्रवेश कर—उन शरीरोंसे अवच्छिन्न होकर—उनके सदृश छोटा या बड़ा हो जाता है) इन वचनोंमें जब अविद्या आदिसे अवच्छिन्न चैतन्य जीव है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है, तब प्रतिविम्ब ही जीव है, यह क्यों माना जाता है ?

उत्तर—आप ठीक कहते हैं, इन वचनोंमें अवच्छेदवादका ही प्रतिपादन होता है, परन्तु इससे अद्वैतसिद्धान्तकी कोई हानि नहीं है, क्योंकि ये वाद मन और वाणीके अगोचर उपेय ब्रह्मके प्रतिपादनके उपाय हैं। और उपायोंके विषयमें अभियुक्तोंकी यह उक्ति है कि 'उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः' (उपाय उपेयके ज्ञानके लिए हैं और वे नियत नहीं हैं)।

'यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चाऽनवस्थिता॥'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(जिस-जिस प्रक्रियासे—उपायसे अर्थात् अवच्छेदवाद या प्रतिबिम्बवाद आदिसे—अधिकारी पुरुषको ब्रह्मका बोध हो वही उपाय साधु है और वह उपाय व्यवस्थित नहीं है।) इन वचनोंमें जो 'अव्यवस्थित और अनवस्थित' शब्द हैं, उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदान्तशास्त्रका मुख्य तात्पर्य अद्वय ब्रह्ममें है, उसीमें वे प्रमाण हैं। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' (जिस अर्थमें शब्दका तात्पर्य हो, वही अर्थ होता है।) इस अभियुक्तकी उक्तिका भी यही तात्पर्य है। जैसे महाकाश—निरवच्छिन्न आकाश—और घटाकाश—घटसे अवच्छिन्न आकाश—परमार्थमें एक ही हैं, वैसे ही ब्रह्म—निरवच्छिन्न चैतन्य—और जीव—अन्तःकरणसे अवच्छिन्न चैतन्य—दोनों एक ही हैं और दोनों निर्विशेष शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और आनन्दरूप हैं, यह जीव और ब्रह्मका ऐक्यरूप वेदान्तका मुख्य तात्पर्यविषय अर्थ अवच्छेदवादसे उपपादित होता है, उससे मुख्य सिद्धान्तमें कोई हानि नहीं है। पूर्व लेखसे यह सिद्ध हो गया कि परमात्मा और जीवका परमार्थमें अभेद—ऐक्य—ही सम्बन्ध है और परमात्माके तुल्य जीवात्मा भी परमार्थमें सत्, चित् और आनन्दरूप निर्विशेष है।

प्रश्न—यदि दोनोंमें ऐक्य मानें तो—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥'

(एक शरीररूप वृक्षमें सदा साथ रहनेवाले सुन्दर पंखवाले चिद्रूप होनेसे समान दो ईश और जीवरूप पक्षी रहते हैं। उनमें एक जीवरूपी पक्षी कर्मफलरूपी स्वादिष्ट पिप्पलफलोंका—विषयभोगोंका—स्वाद चखता है और दूसरा ईश्वररूप पक्षी कुछ भी नहीं खाता हुआ अर्थात् कर्मफलोंका उपभोग न करता हुआ भी सदा एक-सा प्रकाशमान रहता है।)

'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः'

(जब ध्याताके चित्तमें सत्त्वगुण शुद्ध होता है, तब वह निष्कल परमात्माको ज्ञानदृष्टिसे देखता है।)

'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥'

(जैसे नदियाँ बहती हुई अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी पुरुष नाम-रूपको छोड़कर पर—हिरण्यगर्भसे पर—पुरुषको प्राप्त होते हैं।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सर्वाणि भूतानि अन्तरो यमयति'

(जो परमात्मा सब भूतोंके भीतर विद्यमान होकर उनका नियमन करता है।)

इन वचनोंमें जो भेदसम्बन्ध अर्थात् ध्यातृध्यातव्यभाव, द्रष्टृदृश्यभाव, गन्तृगन्तव्यभाव और नियन्तृनियन्तव्यभाव सम्बन्ध प्रतीत होते हैं, उनकी क्या गति होगी ? वे वचन अप्रमाण हो जायँगे । वेद स्वतःप्रमाण है, अतः उसके किसी वचनको अप्रमाण कहना युक्त नहीं है ?

उत्तर—आप सत्य कहते हैं, उन वचनोंमें जीव और ब्रह्मके भेदका प्रतिपादन अवश्य है, परन्तु 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१) 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।३) इन वचनोंमें अभेद भी स्पष्ट ही प्रतीत होता है। भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं अर्थात् यदि जीव और ब्रह्ममें भेद मानें, तो अभेद नहीं मान सकेंगे और यदि अभेद मानें, तो भेद नहीं मान सकेंगे। वेदमें दोनों प्रकारके वचन आते हैं। वेद परस्पर विरुद्धभाषी होनेसे अप्रमाण ही है, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसके स्वतःसिद्ध प्रामाण्यमें आस्तिकमात्रका ऐक्यमत्य है अर्थात् भेदवादी और अभेदवादी सभी वेदका प्रामाण्य एकस्वरसे मानते हैं, अतः इस विरोधको मिटानेके लिए ही अद्वैतवादी वेदान्तियोंने पारमार्थिक—सत्य—और अपारमार्थिक (मिथ्या) भेदसे जीवके दो स्वरूप माने हैं, जीवका परमार्थस्वरूप सच्चिदानन्द निर्विशेष है, इसी पारमार्थिक स्वरूपका ग्रहण कर 'तत्त्वमसि' आदि वचन हैं और अपारमार्थिक जो कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अज्ञत्व और दुःखित्वसे युक्त जीव-स्वरूप है, उसका ग्रहण कर भेद तथा नियन्तृनियम्यभाव आदि सम्बन्धके प्रतिपादक 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि वचन हैं। और उस अवस्थामें जीव अपनेको दुःखी एवं अज्ञ मानता है, सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिके लिए नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्म और परमात्माकी उपासना करता है। जीवकी पारमार्थिक और आविद्यिक दो अवस्थाएँ हैं, यह बात 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्' (जैसे सूर्यप्रकाश आदि उपाधिके भेदसे भिन्न-सा हो जाता है, वैसे चेतन भी कर्म—उपाधि—अन्तःकरणमें भिन्न हो जाता है, परन्तु परमार्थमें वह निर्विशेष चिद्रूप ही है) इस ब्रह्मसूत्र (अ० ३ पा० २ सू० २५) में स्पष्ट कही गई है अर्थात् अवस्थाभेदसे दोनों प्रमाण हैं। अद्वैत-वेदान्तका निष्कर्ष यह है कि जब तक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे जन्य ब्रह्मात्मैक्यका अपरोक्ष अनुभव नहीं हुआ है अर्थात् अविद्याकृत आवरण निवृत्त नहीं हुआ है, भेद भासता है, तबतक जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवकी लोकसिद्ध अवस्था है, उसका अवलम्बन कर 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि वचन हैं, व्यर्थ नहीं हैं।

प्रश्न—जैसे 'मृद् घटः' 'सुवर्णं कुण्डलम्' इस सामानाधिकरण्यप्रतीतिके अनुसार मृद् और घटमें एवं सुवर्ण और कुण्डलमें भेद और अभेद दोनोंको परमार्थ-सत्य-मानते हैं, क्योंकि केवल अभेद मानें, तो 'घटो घटः' के तुल्य और केवल भेद मानें तो 'घटः पटः' के तुल्य सामानाधिकरण्यप्रतीति नहीं होगी, अतः सामानाधिकरण्यके अनुरोधसे उक्त स्थलमें भेद और अभेद दोनोंको पारमार्थिक मानते हैं, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यमें सामानाधिकरण्यके अनुरोधसे जीव एवं ब्रह्ममें भेद और अभेद दोनोंको पारमार्थिक मानिये, हानि क्या है?

उत्तर—दृष्टान्त विषम है अर्थात् मृत् और घटमें उपादान-उपादेयभाव है इससे भेदाभेदका सम्भव है, परन्तु जीव और ब्रह्म दोनों नित्य हैं, उनमें उपादानोपादेयभावका सम्भव नहीं है और चैतन्यरूपसे सदृश होनेपर भी जीव और ब्रह्म दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं, उनमें भेद और अभेद दोनों पारमार्थिक एक कालमें कैसे हो सकते हैं? उनमें तो परमार्थमें अभेद और व्यवहारमें अविद्याकल्पित भेद अवस्थाभेद तथा कालभेदसे ही हो सकेंगे।

प्रश्न—जीव और ब्रह्मका पारमार्थिक भेद ही मानिये? इससे लोकप्रसिद्धिसे तथा न्याय आदि शास्त्रोंसे विरोध नहीं होगा। यदि कहें कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्यकी क्या व्यवस्था होगी, तो सुनिये—जैसे 'अथ सम्पदः' इस अधिकारमें 'अनन्तं वै मनः अनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' (बृ० ३।१।९) मन वृत्तियोंके भेदसे अनन्त है और विश्वेदेव देवता भी अनन्त हैं, इससे मनको अविद्यमान-सा कर उसमें विश्वेदेवका सम्पादन कर उपासना करे, उससे उपासक अनन्त लोकका जय करता है। यहाँपर जैसे मनमें विश्वेदेवका सम्पादन कर उपासना करते हैं, वैसे ही 'तत्त्वमसि' यह वाक्य जीवमें ब्रह्मका सम्पादन कर उपासनाका विधान करता है और उससे अमृतत्व फल होता है। ऐसा माननेमें कोई हानि नहीं है, अतः ऐसा ही क्यों न मानें?

उत्तर—ऐसा माननेपर 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका (तू वह है) इस अक्षरार्थका त्याग करना पड़ेगा। 'स्वं ब्रह्म सम्पाद्य उपासीत' (अपनेको ब्रह्म सम्पादन कर उपासना करे) ऐसी गौणी वृत्ति माननी पड़ेगी। यदि कहें कि मुख्यार्थका—जीव और ब्रह्मके ऐक्यका—बाध है, इससे लक्षणा 'अग्निर्माणवकः' इस वाक्यके तुल्य मानते हैं, इसमें कोई हानि नहीं है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' ॥ (कठ० ४।११)

(यह ब्रह्म श्रवण, मनन, और निदिध्यासनसे संस्कृत मनसे ही जानने योग्य है, इस संसारमें ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है। जो ब्रह्मसे भिन्न देखता है वह मरकर फिर मरता है अर्थात् जन्म-मरण सदा प्राप्त करता रहता है।)

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्' (श्वेता० १।१२)

(भोक्ता—जीव, भोग्य—शब्दादि विषय—और प्रेरिता—परमेश्वर, ये तीनों विचारदृष्टिसे ब्रह्म ही हैं।)

इन वचनोंके अनुसार जब सम्पूर्ण द्वैत मिथ्या ही भासता है, परमार्थमें है ही नहीं, तब जीवमें कर्तृत्व, अज्ञत्व, दुःखित्व आदि भी मिथ्या ही हैं, परमार्थमें नहीं हैं। अतः लक्षणाके बिना 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे अखण्ड विशुद्ध चित्का बोध हो सकता है, फिर उसे लक्षणासे सम्पाद्य उपासनापरक क्यों मानें। यह बात पूज्यचरण श्रीवाचस्पतिमिश्रने बड़ी खूबी से—

'विगलितपरागवृत्त्यर्थत्वं पदस्य तदस्तदा
तदिति हि पदेनैकार्थ्ये त्वमित्यपि यत्पदम्।
तदपि च तदा गत्वैकार्थ्यं विशुद्धचिदात्मताम्
त्यजति सकलान् कर्तृत्वादिपदार्थमलान्निजान्॥'

(जब 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें स्थित 'तत्' पद शुद्ध चित्को कहता है, तब तत् पदके अर्थभूत विशुद्ध चित्के एकत्वको प्राप्त 'त्वम्' पदार्थ भी अविद्यासे आरोपित कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि मलको त्याग देता है)—दिखलाई है। और यह भी विचारना चाहिए कि जब 'तत्त्वमसि' वाक्य ब्रह्मात्मैक्यपरक नहीं है, किन्तु सम्पाद्य उपासनापरक है, तब ज्ञानसे मोक्ष—अमृतत्व—प्राप्त होता है, यह बात नहीं रहेगी, किन्तु वह उक्त उपासनासे जन्य अदृष्टसे जन्य होगा। इस परिस्थितिमें 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है) 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' (उस परमात्माका साक्षात्कार होनेपर अविद्यामूलक गाँठ [शरीरमें आत्माध्यास] खुल जाती है, सब सन्देह दूर हो जाते हैं, सब कर्म क्षीण हो जाते हैं) इत्यादि वचनका अर्थ बाधित हो जायगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव सच्चिदानन्दरूप निर्विशेष है और ब्रह्मसे परमार्थमें ऐक्य ही उसका सम्बन्ध है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रद्धा

अरे भाई मन ! संशय क्यों किया करता है ? विश्वास क्यों नहीं करता ? श्रद्धा क्यों नहीं करता ? संशय त्याग दे, विश्वास कर, श्रद्धा कर। 'संशयात्मा विनश्यति' इस न्यायसे संशय करनेवालेका कल्याण नहीं होता किन्तु उसे अधोगतिकी ही प्राप्ति होती है, संशय करनेवाला यहीं सुख नहीं पाता, परलोकमें तो कहांसे सुख पावेगा ? संशयालुको कर्मफलमें संशय होता है, इसलिए वह सकाम कर्म नहीं करता, सकाम कर्म न करनेसे उसे चन्द्रलोक आदिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। खाने-पीने आदिमें भी उसे संशय होता है कि खाऊं या न खाऊं ? किसीने विष तो नहीं मिला दिया है ! इसको खा-पीकर कहीं बीमार तो नहीं हो जाऊंगा ! बीमार हो गया, तो अच्छा होऊंगा या नहीं ? मर तो नहीं जाऊंगा ? अच्छा भी हो गया, तो वैद्य आदि न मालूम मेरा कितना धन खींच ले जायँगे ? इत्यादि संशयोंके कारण संशयालुको इस लोकका भी सुख नहीं होता, जब उसे लोक परलोकका ही सुख नहीं, तो उपासनाके फल ब्रह्मलोक आदिकी प्राप्ति और ज्ञानके फल मोक्षकी प्राप्ति तो कहांसे होगी ! परिशेषसे उसे नरककी ही प्राप्ति होती है, यही उसका नष्ट होना है, जो नष्ट होनेसे भी बुरा है। नष्ट होनेमें दुःख तो नहीं होता, उसमें दुःख होता है। 'धोबीका कुत्ता घरका न घाटका' यह कहावत संशयालु-पर घटती है, इसलिए संशय छोड़ दे, श्रद्धा कर।

अजी ! आप तो मेरे कान खा गये श्रद्धा कर, श्रद्धा कर, दिन रात यही कहा करते हैं। हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ गये हैं। मेरी जान लेकर भी न मालूम मेरा पीछा छोड़ेंगे, या नहीं ! कैसे श्रद्धा करूं ? क्या मर जाऊं ? श्रद्धा करता तो हूं, श्रद्धा किये बिना रह भी कैसे सकता हूँ ? त्रिलोकीमें क्या चौदह लोकोंमें भी कोई ऐसा प्राणी नहीं है, जो श्रद्धाहीन हो। संशयालु भी किसी-न-किसी अंशमें श्रद्धालु होता ही है। सबको श्रद्धा है कि भोजन करनेसे भूखकी निवृत्ति हो जायगी, सबको श्रद्धा है कि ऊंचे स्थानसे गिरनेसे चोट लग जायगी अथवा मर ही जाऊंगा। सबको श्रद्धा है कि जलती आगमें हाथ देनेसे जल जाते हैं, इत्यादि अनेक दृष्टान्त हैं। सिद्ध हुआ कि श्रद्धासे रहित कहीं कोई कभी नहीं है, सभी श्रद्धालु हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण माननेवालोंको अनुमान प्रमाण मानना ही पड़ता है। अनुमानके बिना उनका व्यापार चल ही नहीं सकता, इसलिए सब श्रद्धालु हैं, तब मैं कैसे अश्रद्धालु हूं ?

भाई ! मरना क्या है और जीना क्या है ? यह बात अभी तेरी समझमें नहीं आ सकती, मंगल मंगल आठ दिन, अभी एक चतुर्मास ही तो तुझे सत्संगमें आये हुए हुआ है। मर जायँ तब तो सब पाप ही कट जाय, सर्वदाके लिए जी जायँ। श्रुति कहती है—'स्वयं भूत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते'—आप मर कर आप होकर आप ही शेष रहता है, इस-पर तुझे श्रद्धा कराना ऐसा है, जैसे बकरे को दिन भर खिलाना पिलाना और रातको भेड़िया दिखा देना। मरना ही जीना है, यह सुनते ही तेरी नाड़ी छूट जायगी, आँखें निकल आवेंगी। यहां जङ्गलमें कोई निपुण वैद्य भी नहीं है, जो तेरी चिकित्सा करे और मेरे पास कोई सेवक भी नहीं है, जो पवनसुतके समान द्रोणगिरिपरसे संजीवन बूटी ले आवे। सचमुच तू मर ही जायगा। शम, दम आदि जो कुछ अब कर रहा है, उन्हें छोड़ कर भाग जायगा, अथवा दम, नियम आदि करनेके लिए भी मना कर देगा। पूर्वाचार्योंका वचन है कि अभयमें भय देखनेवाले भेददर्शियोंके लिए निर्विकल्प समाधि दुर्लभ है, यह उनका कथन ठीक ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं तुझसे अभी यह नहीं कहता कि तू एक दम मौन हो जा, फिर भी तू प्रत्यक्षमात्र माननेवाला तो है नहीं, शब्दप्रमाणको भी तो मानता ही है, उसीपर श्रद्धा कर।

शास्त्रके ऊपर मेरी पूर्ण श्रद्धा है। मैं मानता हूँ कि यह पुरुष श्रद्धामय है, जैसी श्रद्धावाला मनुष्य होता है वैसा ही वह होता है। भूत-प्रेतोंका, यक्ष-राक्षसोंका पूजन मैं कभी नहीं करता। शास्त्रमें अविहित घोर तप कीलों आदिपर बैठना आदि भी नहीं करता, और न दुराग्रहसे शरीरको भोजन न देकर पांचों भूतोंको मैं कष्ट ही देता हूँ। शरीरमें रहनेवाले हृषीकेशको भी मैं भूखा रहकर दुःख नहीं देता। दम्भ और अहंकार तो मेरे पास ही नहीं फटकते। कामना भी नहीं करता, राग द्वेषसे भी मैं दूर ही रहता हूँ। देवताओंका मैं अवश्य पूजन करता हूँ, उनसे फल भी मैं नहीं चाहता, शास्त्र कर्म करनेको कहता ही है, फिर मैं अश्रद्धालु कैसे हूँ? विद्वानोंका साधु महात्माओंका सत्कार करता हूँ, स्वाध्याय करता हूँ, कड़वी वाणी बोलकर किसीके चित्तको भी नहीं दुखाता। सत्य, हित और थोड़ा यथासंभव बोलता हूँ, युक्त आहार-विहार करता हूँ, सीधा, सरल और सच्चा व्यापार करता हूँ, धर्म पर चलता हूँ और मनसे, कर्मसे और वाणीसे किसीको पीड़ा नहीं देता। पहले मैं यह सब अपने सत्कार, मानपूजाके लिए करता था, सब मुझे शिष्ट और श्रेष्ठ कहें, यह मेरी इच्छा रहती थी, उसमें भी यदि मेरी अश्रद्धा हो तो कहिये, जैसा आप कहें, वैसा करनेको मैं तैयार हूँ, शिर-आँखोंसे आपकी आज्ञाका पालन करूँगा, युक्तियुक्त प्रामाणिक हितकी बात मैं अवश्य मानूँगा और करूँगा भी।

भाई! तू अवश्य अपना कल्याण कर लेगा, यह मैं मानता हूँ। अपना मन ही अपना शत्रु होता है और मन ही मित्र होता है, ऐसा विद्वानोंका मत है। जो मन स्वेच्छाचारी होता है, वह आत्माको नरकमें ले जाता है और आप भी नरकमें जाता है, इसलिए शत्रु है। जो आज्ञानुसारी होता है, वह भवसागरसे आप पार होता है और अपने आत्माको भी चौरासीके चक्रसे छुड़ा लेता है, ऐसा मैंने सुना है, तू मेरी आज्ञा माननेको तैयार है, इसलिए तू मेरा मित्र है, शत्रु नहीं है। अब तेरे और मेरे कल्याणमें देर नहीं है, ऐसा मैं समझता हूँ। जिससे सुनता हूँ, उससे यही सुनता हूँ कि मेरा मन वशमें नहीं है, मेरी आज्ञामें नहीं चलता, अपनी मनमानी करता है, मनने मुझे बड़ा दुःखी कर रक्खा है। क्या करूँ, कैसे करूँ? जिससे मेरा मन मेरे अधीन हो जाय। मन ही बंधका कारण है, मन ही मोक्षका कारण है, ऐसा वेदवेत्ता कहते हैं परन्तु मेरी समझमें तो मन बंधका ही कारण है, मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि वशमें तो होता ही नहीं। जिस दिन वशमें हो जायगा, उस दिन समझूँगा कि मन मोक्षका भी कारण है। अभी तो वेदवेत्ताओंकी बात मेरी समझमें नहीं आती इत्यादि कह कर प्रायः सभी मनकी बुराई करते हैं। जिसकी सभी बुराई करते हैं, वही तू मेरी आज्ञामें चलनेको कहता है, उससे मैं समझता हूँ कि शङ्कर त्रिपुरारि और माधव मुरारि दोनों ही मेरे ऊपर प्रसन्न हैं, क्योंकि समुद्रको पी जानेसे, अग्निको खा जानेसे और सुमेरुके उखाड़नेसे भी जिसका रोकना कठिन है, वही अपने वश होकर आज्ञानुसार चलने लगे, तो समझना चाहिये कि केशवकंसारि मुझपर प्रसन्न हैं।

भाई! सुन, जो तू करता है, वह ठीक है, फिर भी उतना करनेसे कार्यकी सिद्धि हो नहीं सकती, उससे भी अधिक करना है। श्रद्धामय पुरुष है, जैसी श्रद्धावाला जो होता है, वैसा ही वह हो जाता है, इसपर तो तेरी श्रद्धा है ही। अब तू ऐसा कर कि जितने तेरे संशय हैं, उन सबको अपनेमें से निःशेष निकाल दे, क्योंकि जबतक संशयकी निःशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवृत्ति नहीं होगी, तबतक दृढ़ श्रद्धा नहीं होगी। दृढ़ श्रद्धा उसका नाम है कि जो किसी कालमें, किसी देशमें किसी प्रमाणसे टाली न जा सके, हिलाई हिले नहीं, टाली टले नहीं, किन्तु मेरु पर्वतके समान, अथवा ध्रुवके समान अटल और अचल रहे। संशय उसको कहते हैं कि एक कालमें, एक देशमें, एक प्रमाणसे एक वस्तुमें श्रद्धा कर ली, दूसरे कालमें, दूसरे देशमें दूसरे प्रमाणसे श्रद्धा हट गई, उसी वस्तुमें अश्रद्धा हो गई। ऐसी श्रद्धा श्रद्धा नहीं है, किन्तु अश्रद्धा ही है अथवा संशय ही है।

अजी! इस समय मुझमें तीव्र वैराग्य और तीव्र मोक्ष इच्छाका वेग है, शीघ्र ही बतलाइये कि क्या-क्या संशय नहीं करूँ?

भाई! शीघ्रता राजसी गुण है, धैर्यसे विचार करके कार्य प्रारंभ करना चाहिए। प्रायः मुमुक्षुओंको ऐसे संशय हुआ करते हैं कि आत्मा चेतन है या अचेतन? चेतन है, तो नित्य है या अनित्य? नित्य है, तो देहादिसे भिन्न है या अभिन्न? भिन्न है, तो देहादिसे उसका सम्बन्ध है या नहीं? सम्बन्ध नहीं है, तो आत्मा स्वयं कर्ता है या अकर्ता? अकर्ता है, तो भोक्ता है या अभोक्ता? अभोक्ता है, तो आप असंग है या नहीं? असंग है, तो देहादिकी क्रियासे लिप्त होता है या नहीं? कर्म का लेप आत्मामें नहीं होता, तो भी आत्मा ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न है? ब्रह्मसे अभिन्न है, तो मुझे आत्मा और ब्रह्मके एकत्वका विज्ञान हुआ है या नहीं? ज्ञान हो गया है, तो वह ज्ञान यथार्थ है या नहीं है? यथार्थ है, तो मुक्तिका साधक है या नहीं? साधक है, तो मुझे जीवन्मुक्ति प्राप्त हुई या नहीं हुई? प्राप्त हुई है, तो मुझे विदेह मुक्ति प्राप्त होगी या नहीं इत्यादि।

भाई! तुझे ऐसे संशय कभी भी न करने चाहिए, किन्तु ऐसी दृढ़ श्रद्धा करनी चाहिए कि आत्मा चेतनोंका भी चेतन है—बुद्धि आदि चेतनोंको—लोकमें माने हुए चेतनोंको—चेतन करनेवाला होनेसे चेतनोंका चेतन है; नित्योंका भी नित्य है—लोकमें नित्य माने हुए परमाणु, आकाश, काल आदिकी अपेक्षासे भी नित्य है—प्रलयमें जब ये नहीं रहते, तब भी आत्मा रहता है, इसलिए नित्योंका भी नित्य है; देहादिसे भिन्न है—लोकमें अचेतन माने हुए देहादिका द्रष्टा—साक्षी—प्रकाशक है, इसलिए देहादिसे भिन्न है। चेतन होनेसे ही अचेतन देहादिसे आत्माका सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध न होनेसे ही आत्मा कर्ता और भोक्ता भी नहीं है। किसीसे आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसीसे आत्मा असंग है। असंग होनेसे ही देहादिकी क्रियासे आत्मा लिप्त नहीं होता। असंग होनेसे आत्मा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, किन्तु अभिन्न है—दोनों एक ही हैं, जब दोनों एक ही हैं, तब दोनोंके एकत्वका ज्ञान है ही, जब एकत्वका ज्ञान है, तो जीवन्मुक्ति सिद्ध ही है; जीवन्मुक्ति है, तो विदेहमुक्तिमें संशय करनेका काम ही नहीं है।

अजी! शास्त्रसे और युक्तिसे दोनोंका एकत्व होनेमें संशय नहीं है किन्तु पूर्ण श्रद्धा होनेपर भी पूर्वकी वासनाओंसे जगत्-भेद दिखाई देता ही है, उसका क्या उपाय है? शास्त्रसे मैंने सुना है कि आपमें और ब्रह्ममें जो कोई थोड़ासा भी भेद मानता है, उसको भय होता है—वह जन्ममरणरूप संसारसे मुक्त नहीं होता। यह भेददृष्टि कैसे जाय, इस भेद दृष्टिके निवृत्त होनेका क्या उपाय है? यह बतलाइए। स्थाणुको पुरुष समझना अथवा पुरुषको स्थाणु समझना, इसका नाम संशय है और स्थाणुको स्थाणु अथवा पुरुषको पुरुष देखना, इसका नाम श्रद्धा है। अभी तो मुझे जगत् और ब्रह्म दोनों ही भासते हैं, कभी जगत्को ब्रह्म देखने लगता हूँ, कभी ब्रह्मको जगत्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखने लगता हूँ, कभी अनुभव करने लगता हूँ कि मैं देह हूँ, कभी अनुभव करता हूँ कि मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा नहीं होता कि सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते मैं ब्रह्म ही हूँ, ऐसा अनुभव करूँ, तीनों कालमें मुझे देहका अनुसन्धान न हो, किन्तु सर्वदा ब्रह्मका ही अनुसन्धान हो ऐसा मैं चाहता हूँ, यह मेरी इच्छा कब पूरी होगी ? देह छूटनेसे पहले ही मुझे ऐसा अनुभव होने लगे, ऐसी मेरी तीव्र इच्छा है।

भाई ! ईश्वर सबकी इच्छाएँ पूर्ण करता है और तीव्र इच्छा तो तुरन्त पूर्ण करता है। यदि तू भेददृष्टि मिटाना चाहता है, तो सब धर्मोंको छोड़ दे और अन्तर्यामी ईश्वरकी शरण ले—अपनी चीं-चपड़ लगाना छोड़ दे और जैसी ईश्वर प्रेरणा करे, वैसा ही कर लिया कर। यदि ईश्वर सुख दे, तो सुख पाकर उछल मत, यदि दुःख दे, तो दुःख पाकर हाय हाय मत कर। यदि रूखी-सूखी रोटी मिल जाय, तो पेट भर कर ठंडा पानी पीकर सो जा। यदि मोहनभोग मिल जाय, तो भी वैसा ही कर। यदि ईश्वर रथ, हाथी और घोड़ों पर चढ़ावे, तो हां ना मत कर चढ़ ले, गदहे पर चढ़ावे तो भी हां ना मत कर, चढ़ ले। यदि पैदल चलावे तो पैदल चलनेमें ही सुख मान। यदि ईश्वर मण्डलेश्वर बना दे, तो मंडली रख साथमें, यदि ईश्वर पात्र छीन ले, तो भिक्षा ले लिया कर हाथमें। इतना स्मरण रख कि मण्डलेश्वरसे करपात्री उत्तम है, क्योंकि लक्ष्मी महारानी विष्णुकी पटरानी बड़ी सयानी है, विष्णुभक्तोंसे दूर ही रहती है, क्योंकि जानती है कि मेरे संगसे सत्पुरुषोंका भी मन विमन हो जाता है, अमनसे दूर कर देता है, इसलिए लक्ष्मी भक्तोंके पास स्वयं नहीं आती, क्योंकि समझती है कि ये विष्णुकी भक्ति छोड़कर मेरी ही भक्ति—आसक्ति—करने लगेंगे।

अजी ! आप मेरी तरफसे ऐसी शङ्का न कीजिए, मैं जानता हूँ और मुझे पूर्ण श्रद्धा है कि संन्यास ब्रह्म है, ब्रह्म सबसे परे है, वही सबकी चरम गति है। ऋत तप है, सत्य तप है, शान्ति परम तप है, अभय परम धर्म है, अहिंसा परम धर्म है, त्यागसे ही आत्माका ज्ञान और विज्ञान होता है, हजारों अश्वमेधोंसे मनका एकाग्र होना उत्तम है, मनकी एकाग्रताका सोलहवां अंश भी अश्वमेध आदि नहीं हैं। तपस्वीसे योगी श्रेष्ठ है, श्रोत्रियसे भी ब्रह्मनिष्ठ योगी श्रेष्ठ है, कर्मियोंसे भी ब्रह्मनिष्ठ योगी श्रेष्ठ है। ब्रह्मनिष्ठासे ही भेदबुद्धिकी निवृत्ति होती है, ब्रह्मनिष्ठाके सिवा सर्वात्मदर्शनका अन्य उपाय नहीं है। ब्रह्मनिष्ठाके सिवा अब मैं दूसरा व्यापार नहीं करूँगा। नामरूपका त्याग करके अब मैं सबमें ब्रह्मका ही दर्शन करूँगा। मुझे श्रद्धा है कि श्रुति कहती है कि आदित्य ब्रह्म है, नामरूप छोड़कर आदित्य ब्रह्म ही है, इसमें मुझे संशय नहीं है। श्रुति कहती है कि मन ब्रह्म है, ठीक ही है, मेरा नामरूप छोड़कर मेरा आत्मा ब्रह्म ही है। श्रुति कहती है कि यह सब ब्रह्म ही है, ठीक है, सबका नामरूप त्यागकर सब ब्रह्म ही है। श्रुति कहती है कि यह आत्मा ब्रह्म है, ठीक ही है, यदि आत्मा ब्रह्म न हो, तो परिच्छिन्न हो जाय और ब्रह्म यदि आत्मा न हो, तो अन्य हो जाय, अन्य होनेसे दृश्य हो जाय, दृश्य होनेसे जड़ हो जाय और जड़ होनेसे मिथ्या हो जाय, इसलिए आत्मा और ब्रह्म एक ही के दो नाम हैं। सबका स्वरूप होनेसे ब्रह्म आत्माका किसी कालसे, किसी देशसे और किसी प्रमणासे बाध नहीं होता, इसलिए आत्मा पूर्ण है और पूर्ण होनेसे ब्रह्म है। अब मैं इस ब्रह्म आत्माका ही सर्वत्र सर्वदा, सर्वथा सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, अनुसन्धान करूँगा। मुझे पूर्ण श्रद्धा है, दृढ़ श्रद्धा है कि ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ नहीं है और वही मेरा आत्मा और सबका आत्मा है, अब मैं उसीमें निष्ठा करूँगा—उसमें स्थित होकर अचल, पूर्ण और स्थिर हो जाऊँगा। आपकी आज्ञा सुनकर और श्रुतियोंका उपदेश सुनकर मैं तनमें फूला नहीं समाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हूँ । ऐसा अनुभव होता है कि मैं सर्वत्र भरा हूँ, एक शरीरमें नहीं, सबके शरीरोंमें मैं ही भर रहा हूँ। मुझे स्मरण हो गया है कि कृष्णका मनसुख सखा मैं ही हूँ। यदि मैं पार्थके सारथीका सखा नहीं होता, तो मुझमें इतनी सामर्थ्य कहांसे आती कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण, सबका ध्यान करता हुआ सर्वाकार हो जाऊँ, सर्वाकार ही नहीं, एकाकार, आत्मान्तर, ब्रह्माकार भी हो जाऊँ।

और भी सुनिए, बन्ध और मोक्ष, संसार बनाना और संसार मिटाना, ये दोनों मेरे बाएँ हाथके खेल हैं, श्रद्धा तथा अश्रद्धा ये दोनों मेरे ही धर्म हैं, आपमें कोई धर्म नहीं है, आप तो सत्य, ज्ञान, अनन्त स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अखण्डानन्द, एकरस हैं, जब मैं अशुद्ध होता हूँ, तब मैं अपने धर्म आपमें दिखता हूँ, और जब मैं शुद्ध होता हूँ, तो मैं अपने और आपके स्वरूपको भिन्न-भिन्न करके बना देता हूँ। पीछे मैं भी आपमें लीन होकर आपही हो जाता हूँ। परमार्थसे मेरा ही बन्ध है और मेरा ही मोक्ष है, क्योंकि बन्ध और मोक्ष गुणोंमें ही हैं, आप निर्गुणमें—गुणातीतमें—दोनोंमें से एक भी नहीं है। सच पूछिए, तो न किसीमें बन्ध है और न मोक्ष है। भूलसे मन बन गया है, मनसे मनु बन गए हैं और मनुसे मनुष्य बन गए हैं, भूलसे अश्रद्धा है और भूल निकल जाना श्रद्धा है। किसीने कहा है—

संन्यास [हरिगीत छन्दमें]

जो न्यास है, सो ब्रह्म है, संशय न इसमें जान रे । जो ब्रह्म है, सो आप तू, यह बात पक्की मान रे ॥
मत अन्यको कर प्यार तू, कर आपको ही प्यार रे । पल्ला छुड़ाकर अन्यसे, भवचक्रसे हो पार रे ॥
तज सूत्र दे, तज दे शिखा, तज पुत्र दे, तज द्वार रे । तज कर्म दे, तज धर्म दे, तज गेह, तज परिवार रे॥
कौपीन कंथामात्र ले, मत अन्य कुछ रख पास रे । यदि हो सके वह भी न रख, एकान्तमें कर वास रे॥
ना खानकी ना पानकी, चिन्ता कभी कर लेश रे । भय मत किसीका कर कभी, मत मान तनको क्लेश रे
जो गर्भमें था साथ सो ही साथ है विश्वेश रे । रक्षा करेगा देव सो प्रारब्ध तव यदि शेष रे ॥
निश्चिन्त हो मन शान्त कर जा बैठ तू आसन लगा । सब वृत्तियोंको एक कर, दे आपमें ही मन लगा॥
कुछ भी मती कर चिन्तवन, हो आप अपना आप रे। कट जायँगे सब पाप रे, मिट जायँगे सन्ताप रे ॥
कुछ कालके अभ्याससे, अज्ञान मल जल जायगा । ब्रह्मात्मदर्शन होयगा, भ्रमभेद सब गल जायगा ॥
निर्वासना हो जायगा, आनन्द अभय पायगा । स्वराज्य पा होगा अमर, भव चक्रमें ना आयगा ॥
यदि तू विरागी धीर है, घर छोड़कर धर मार्ग रे । यदि राग तव मन माहिं है, तो घर कभी मत त्याग रे
नित्यादि वैदिक कर्म कर, फल कर्मका मत मांग रे । कर कृष्णअर्पण कर्म सब ही कृष्णमें अनुराग रे ॥
ऐसा किए ऋषि, पितर, सुर, राजी सभी हो जायँ रे । तव श्रेय चाहें नित्य ही, ना विघ्न कोई लायँ रे ॥
ईश्वर करे तुझपर कृपा, दे काट तेरे पाप रे । दे तत्त्व भी अपना बना, हर लेय तीनों ताप रे ॥
नरदेह नाहीं मिला है, भोग करनेके लिए । विश्वेशने यह है दिया, निज योग करनेके लिए ॥
जैसे बने वैसे तुरत दे त्याग नश्वर भोग रे । करके श्रवण अथवा मनन, कर नित्यसुखसे योग रे
तत्त्वज्ञ यदि तू होय तो, तेरा न कुछ कर्तव्य रे । प्राप्तव्य जब कुछ है नहीं, तो होय क्या ज्ञातव्य रे ॥
मत तज शिखा, मत सूत्र तज, मत पुत्र तज मत दार रे। कुछ भी मती व्यापार कर, पा कर सभी व्यापार रे
हरिगान कर शिवध्यान धर, स्वाध्याय कर दे दान रे । तल्लीन हो जा ब्रह्ममें, या विष्णुको दे मान रे ॥
दे कान सुन भगवत्कथा मीचे भले रख कान रे । है एक कर्मोपासना तेरे लिए अरु जान रे ॥
सब धर्म भोला ! त्याग अब क्यों कर रहा तकरार रे । करना न करना धर्म सब, धर्मेश शिरधरमार रे ॥
धर्मेशको क्या भार, जिसके शेष हैं अवतार रे । मारा गया बेड़ा गया, इस पारसे उस पार रे ॥

—सकलचरानुचर भोला

CC-0.In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवरणप्रमेयसङ्ग्रहः

अनुवादक—पं० श्रीललिताप्रसादजी डबराल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
'विद्याप्राप्ति' शब्दका निर्वचन	३४५	१
प्रमाणमें तर्ककी उपयोगिता	३४६	४
प्रामाण्यवादमें बौद्धमतका खण्डन	३४८	५
अप्रामाण्यका परतस्त्व और उसका उपपादन	३५३	३
अप्रामाण्यके स्वतस्त्वमें अनुपपत्ति	३५४	३
निदिध्यासनमें अङ्गित्वका खण्डन	३५६	३
जीवन्मुक्ति अवस्थामें देहादिकी उपपत्ति	३६२	४
सूत्र द्वारा विषय और प्रयोजनका प्रतिपादन	३६५	१
लिङादिप्रत्ययके इष्टसाधनत्वार्थकत्वकी उपपत्ति	३६६	२
धात्वर्थ और स्वर्गादिके परस्पर साध्यसाधनसम्बन्धके परिज्ञानमें विरोधीके मतका परिहार	३७३	२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्यते--प्रमाणजनितान्तःकरणवृत्तिर्विद्या तया विषयनिश्चयः प्राप्ति-शब्देन विवक्षितः। तत्र घटादिविद्यायाः स्वोत्पत्तिमात्रेण विषयनिश्चायकत्वेऽपि न ब्रह्मविद्यायास्तथा सहसा निश्चायकत्वम्, असम्भावनाविपरीतभावनाभ्यामभिभूतविषयत्वात्। तत्राऽसम्भावना नाम चित्तस्य प्रत्यग्ब्रह्मात्मैक्यपरिभावनाप्रचयनिमित्तैकाग्र्यवृत्त्ययोग्यतोच्यते विपरीतभावनेति च शरीराद्यध्याससंस्कारप्रचयः। न चाऽपरोक्षावभासनिमित्तप्रमाणगृहीते वस्तुन्युभयविधचित्तदोषादपरोक्षावभासनिश्चयाभावो न दृष्टचर इति वाच्यम्, वाराणसीप्रदेशादावार्द्रमरिचमञ्जर्यादिष्वत्यन्तादृष्टपूर्वेषु दूरदेशात् समानीतेषु

समाधान किया जाता है—प्रकृतमें विद्याशब्दसे प्रमाण--इन्द्रियादि--द्वारा उत्पन्न हुई अन्तःकरणकी वृत्ति ली जाती है। उस अन्तःकरणकी वृत्तिसे विषयका निश्चय करना प्राप्तिशब्दका तात्पर्य समझना चाहिए। यद्यपि घटादिविषयक विद्या केवल अपनी उत्पत्तिसे ही घटादि विषयका निश्चय कर देती है, तथापि ब्रह्मविद्या—विचारके पूर्व ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान—अपने विषय ब्रह्मका सहसा (विचारके विना) निश्चय नहीं करा सकती, कारण कि उसका विषय असम्भावना और विपरीतभावनासे घिरा हुआ है। उनमें असम्भावना है—ब्रह्म तथा आत्माकी—जीवकी—एकताका बार बार चिन्तन करनेसे उत्पन्न होनेवाली चित्तकी एकाग्रवृत्तिकी योग्यताका अभाव और शरीरादिमें आत्म-तादात्म्याध्यासके संस्कारोंका दार्ढ्य विपरीतभावना है। प्रत्यक्ष ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले प्रमाणोंसे ज्ञात हुई वस्तुमें चित्तके पूर्वोक्त असंभावना और विपरीतभावना—इन दो दोषोंके कारण प्रत्यक्ष ज्ञानके अभावका निश्चय नहीं देखा गया है। [एवम् प्रत्यक्ष ज्ञानसे—गृहीत घटादिके तुल्य ब्रह्मविषयक प्रत्यक्ष ज्ञानरूप विद्यासे—ज्ञात हुए ब्रह्ममें चित्तके उक्त दोषोंसे ब्रह्मप्रत्यक्षके अभावका निश्चय होना संगत नहीं है] ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि [काली या सफेद] गोल मिर्चकी ताजी हरी मञ्जरी काशी आदि [पूर्वोत्तर] प्रदेशोंमें कभी भी नहीं देखी जाती है। दूर देशसे (दक्षिण भारतसे) लाई गई उन मञ्जरियोंको प्रत्यक्ष देख लेनेपर भी चित्तके उक्त दोषोंके कारण 'यह हमारे सामने मिर्चकी ही कोंपल है' ऐसा विश्वास उत्पन्न न होनेसे तुरत देखते ही 'यह मिरिचमञ्जरी ही है' इस निश्चयकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्षेण दृश्यमानेष्वप्यविश्वासेन झटिति निश्चयोत्पादादर्शनात्। अतः शास्त्रप्रमाणादुत्पन्नाऽपि ब्रह्मविद्या चित्तदोषप्रतिबद्धा तर्कं सहायमपेक्ष्य पश्चाद्विषयं निश्चिनोति।

तर्कस्य प्रमाणत्वे स्वतन्त्रत्वादप्रमाणत्वे चाऽनुपकारित्वान्न प्रमाणं प्रति सहकारित्वं सम्भवतीति चेद्, मैवम्; तर्कस्याऽप्रमाणभूतस्य स्वातन्त्र्येण वस्त्वनिश्चायकत्वेऽपि नाऽत्यन्तमनुपकारित्वम्, प्रमाणतच्छक्तिप्रमेयाणां स्वरूपे सम्भवासम्भवप्रत्ययरूपत्वात्। अत एव प्रमाणानामनुग्राहकस्तर्क इति तर्कविदः।

[अर्थात् यह कहना कि 'प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तुमें संशय नहीं होता' व्यभिचरित है।] इसलिए वेदान्तशास्त्ररूप प्रमाणसे उत्पन्न हुई भी ब्रह्मविद्या चित्तके दोषोंसे प्रतिबद्ध होकर (स्वयं विषयका निश्चय करानेमें असमर्थ होकर) सहायक तर्ककी—विचारकी—अपेक्षाके अनन्तर ही विषयका निश्चय कराती है।

शङ्का—यदि तर्कको—विचारको—अर्थात् युक्तिवादको प्रमाका जनक मानो, तो वह स्वतन्त्र प्रमाण हो जायगा, सहायक नहीं होगा और यदि उसको प्रमाका जनक न मानो, तो वह प्रमाणका उपकारी नहीं हो सकेगा। [क्योंकि प्रमा-जनकका उपकार जो प्रमाका जनक होगा वही कर सकता है। प्रमाका अजनक नहीं कर सकता] इससे प्रमाणके प्रति तर्कका सहायक होना नहीं बन सकता।

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यद्यपि तर्क स्वयं प्रमाण नहीं है, अतः स्वतन्त्ररूपसे वस्तुका निश्चय नहीं करा सकता, तथापि वह प्रमाणका अत्यन्त * उपकारी नहीं है, ऐसा नहीं है, किन्तु है ही।

कारण कि प्रमाण और उसकी शक्ति तथा प्रमेय—विषय—इनके स्वरूपोंमें सम्भव या असम्भवविषयक ज्ञानस्वरूप ही तर्क है। [अर्थात् तर्क द्वारा प्रमाणादिमें सम्भव या असम्भवका ही ज्ञान होता है, प्रमाणादिनिश्चयरूप नहीं है।] अतएव तर्क प्रमाणोंका अनुग्राहक—सहकारी—है, ऐसा तर्कवादी—नैयायिक—स्वीकार करते हैं।

---

* अत्यन्त पद इसलिए देते हैं कि प्रमाणको उपकारी तर्ककी सहायता सर्वत्र अपेक्षित नहीं है। यथा—जहांपर दोषरहित चित्तावस्थामें हुए प्रत्यक्षके विषयका स्वयं ज्ञान ही निश्चय करा देता है या श्रद्धालुको विना कुचोद्य किये ही गुरुवाक्योंमें श्रद्धा होनेसे गुरुके उपदेशमात्रसे निश्चय हो जाता है, ऐसे स्थलोंमें तर्ककी सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ननु प्रमाणस्य तर्कापेक्षया निश्चायकत्वेऽपसिद्धान्तापत्तिः। तथा-हि--ज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं च स्वत एवेति सांख्याः। उभयमपि परत इति तार्किकाः। अप्रामाण्यमेव स्वत इति बौद्धाः। प्रामाण्यमेव स्वत इति वेदान्तिनः।

न तावत् सांख्यपक्षो युक्तः। तत्र किमेकस्यामेव ज्ञानव्यक्तौ प्रामा-ण्याप्रामाण्ययोः समावेशोऽभिप्रेत उत व्यक्तिभेदेन तयोर्व्यवस्था। नाऽऽद्यः, विरोधात्। न द्वितीयः, अस्या व्यक्तेः प्रामाण्यमस्याश्चाऽप्रामाण्यमिति

[यदि प्रमाण वस्तुका निश्चय करानेमें तर्ककी अपेक्षा रखते हैं, तो वेदान्त-सम्मत प्रमाणोंमें स्वतःप्रामाण्यकी उपपत्ति नहीं होगी, इस आशयसे शङ्का करते हैं--] यदि तर्ककी सहायतासे प्रमाणोंको वस्तुका निश्चायक मानें, तो अपसिद्धान्तकी—अपने प्रमाणोंके स्वतःप्रामाण्य सिद्धान्तके विरुद्ध सिद्धान्तकी—आपत्ति आ जायगी [जिसको वेदान्ती मान नहीं सकता]। [अपसिद्धान्तके स्पष्टीकरणके लिए भिन्न-भिन्न वादियोंका प्रमाणविषयक मत दिखलाते हैं--] सांख्यसिद्धान्त है कि ज्ञानका प्रामाण्य—वस्तुनिश्चायकत्व—या अप्रामाण्य स्वतः—तर्क आदिकी अपेक्षाके विना—ही सिद्ध है। नैयायिक मानते हैं कि प्रमाणोंके प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य दोनों ही परतः—दूसरे तर्कादिकी ही सहायतासे—होते हैं। [अर्थात् प्रमाणोंमें प्रामाण्य या अप्रामाण्य कोई भी स्वतः नहीं है।] बौद्ध कहते हैं कि प्रमाणोंमें स्वतः अप्रामाण्य है [और प्रामाण्य दूसरेकी सहायतासे है।] और वेदान्ती प्रमाणमें प्रामाण्यको स्वतः—अन्या-निरक्षेप—ही मानते हैं।

[प्रसङ्गप्राप्त अन्य वादियोंके मतोंका खण्डन करते हैं—] इनमें सांख्यमत युक्तिसङ्गत नहीं है। क्या एक ही ज्ञानव्यक्तिमें प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनोंका समावेश है अथवा भिन्न-भिन्न ज्ञानव्यक्तियोंमें इनकी व्यवस्था करते हो ? अर्थात् एक ज्ञानव्यक्तिमें प्रामाण्य दूसरी व्यक्तिमें अप्रामाण्य है, ऐसी व्यवस्था करते हो ? पहला पक्ष नहीं बन सकता, कारण कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनोंका एक साथ रहना विरुद्ध है। दूसरा विकल्प भी उचित नहीं है, क्योंकि इस ज्ञानव्यक्तिमें प्रामाण्य है और इसमें अप्रामाण्य है, इसका कोई व्यवस्थापक नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्थापकाभावात् । ज्ञानत्वस्योभयत्र समत्वात् । अन्यस्य व्यवस्थापकस्य स्वतस्त्ववादिनाऽनङ्गीकारात् ।

नाऽप्युभयं परतः । तदा ह्युत्पन्नमात्रं ज्ञानं प्रामाण्याप्रामाण्यरहितं किञ्चित्कालं समवतिष्ठेत । न चैतल्लोके प्रसिद्धम् ।

अस्तु तर्हि बौद्धपक्षः--अप्रामाण्यमेव स्वतः प्रामाण्यं परत इति । नाऽयमप्युपपन्नः । तत्र प्रामाण्यस्य परतस्त्वम् उत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा ? नोत्पत्तौ तत्सम्भवति, चक्षुरादिकारणेभ्य उत्पन्नस्य ज्ञानस्य क्षणिकस्य स्वस्मिन् प्रामाण्यधर्मोत्पत्तिपर्यन्तमवस्थानासंभवात् । ननु ज्ञानकारणाद् ज्ञानोत्पत्तौ

कारण कि ज्ञानत्व दोनों व्यक्तियोंमें एक-सा ही है । स्वतस्त्ववादी दूसरेको व्यवस्थापक नहीं मानता । [ज्ञानोंका प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः है, इससे ज्ञानसामान्यमें दोनोंका ही होना स्वतः पाया जाता है और इस भूतलमें अमुक कारणसे अमुक ज्ञानव्यक्तिमें प्रामाण्य और इतरमें अमुक कारण न होनेसे या भिन्न कारण होनेसे अप्रामाण्य है, ऐसी व्यवस्था नहीं की जा सकती ।]

प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही दूसरेके कारण हैं, ऐसा भी मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे उत्पन्न हुआ ज्ञान पहले कुछ समय तक प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनोंसे रहित होगा । परन्तु ऐसा लोकमें प्रसिद्ध नहीं है ।

ऐसी दशामें 'अप्रामाण्य तो स्वतः है और प्रामाण्य परतः है, यह बौद्धपक्ष ही मान लिया जाय ।' यह भी युक्तिसंगत नहीं है । [विकल्प करके युक्तिविरोध दिखलाते हैं—] उस मतमें ज्ञानोंका दूसरेकी सहायतासे प्रामाण्य उत्पत्तिमें है अथवा ज्ञप्तिमें है ? [अर्थात् ज्ञानव्यक्तिके उत्पन्न होनेके अनन्तर उससे इतर व्यक्ति उस ज्ञानमें प्रामाण्य उत्पन्न करती है अथवा ज्ञानोंके साथ-साथ ही उत्पन्न होता हुआ भी प्रामाण्य दूसरेकी सहायतासे मालूम हो सकता है, स्वतः नहीं ?] उत्पत्तिमें ऐसा होना—ज्ञानके उत्पन्न होनेके अनन्तर उसमें प्रामाण्यका उत्पन्न होना—सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञानके कारण चक्षुरादि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ क्षणमात्रस्थायी ज्ञान अपनेमें प्रामाण्यधर्मकी उत्पत्ति होने तक स्थिर ही नहीं रह सकता ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यां पश्चात्तत्कारणगतगुणात्तस्मिन् ज्ञाने प्रामाण्योत्पत्तिरुत्पत्तिपरतस्त्वम्, तद्यदि न सम्भवेत् कथं तर्हि प्रामाण्यस्य गुणान्वयव्यतिरेकाविति चेद्, नः प्रामाण्यप्रतिबन्धकस्य दोषस्याऽभावं विषयीकृत्याऽवस्थानेऽपि तयोरुपपत्तेः। न च गुणान्वयव्यतिरेकयोर्दोषाभावविषयत्वे वैयधिकरण्यं शङ्कनीयम्, दोषाभावस्यैव गुणत्वात्। नहीन्द्रियादिषु दोषाभावव्यतिरेकेण गुणो दृश्यते।

अथ यः कश्चिद्गुणः स्यात् तदापि दोषनिवृत्तिहेतोस्तस्य गुणस्य दोषाभावेनैव साक्षादन्वयव्यतिरेकौ निवृत्ते तु दोषे प्रामाण्यं निष्प्रतिबन्धं सिध्यतीति प्रामाण्येनाऽपि सह गुणस्य दोषाभावद्वाराऽन्वयव्यतिरेकौ

शङ्का—ज्ञानके कारण चक्षुरादि इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञानकी उत्पत्ति होनेके अनन्तर उसके कारण चक्षुरादि इन्द्रियोंके गुणोंसे उस ज्ञानमें प्रामाण्यकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारके उत्पत्तिपरतस्त्वका यदि ज्ञानमें होना सम्भव नहीं हो सकता, तो प्रामाण्यके साथ गुणका अन्वय और व्यतिरेक कैसे होगा? अर्थात् कारणगत गुणोंसे ही ज्ञानमें प्रामाण्य हो सकता है, अन्यथा नहीं; इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक नहीं बन सकेगा।

समाधान—प्रामाण्यके प्रतिबन्धक दोषोंके अभावको विषय करके भी अन्वय और व्यतिरेककी उपपत्ति हो सकती है। यदि दोषके अभावको लेकर गुणोंके अन्वय और व्यतिरेककी उपपत्ति की जाय, तो व्यधिकरण दोष हो जायगा, ऐसी शङ्का भी नहीं हो सकती है, कारण कि दोषके अभावका ही नाम गुण है। क्योंकि ज्ञानके कारण इन्द्रियादि दोषके अभावसे अतिरिक्त कोई गुण पदार्थ नहीं पाया जाता।

शङ्का—यदि कोई [अतिरिक्त] गुण हो भी, तो दोषकी निवृत्तिके कारणीभूत उस गुणका अन्वय और व्यतिरेक तो साक्षात् दोषके अभावके ही साथ है अर्थात् उस विद्यमान गुणके रहनेसे दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है, अतः गुणोंका अन्वय और व्यतिरेक दोषाभावके ही विषयमें मानना चाहिए, [ज्ञानोंके प्रामाण्यमें नहीं] दोषोंके निवृत्त हो जानेपर ज्ञानोंका प्रामाण्य बिना किसी रुकावटके ही सिद्ध हो जाता है। इससे दोषाभावके द्वारा ही प्रामाण्यके साथ गुणके अन्वय और व्यतिरेककी प्रतीति होती है, प्रामाण्यके विषयमें गुणका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीयेते, न तु तत्र साक्षात्तौ विद्येते। अस्तु तर्हि प्रतिबन्धकस्य दोषस्याऽभाव एव प्रामाण्यकारणं साक्षादन्वयव्यतिरेकवत्त्वादिति चेद्, न, तथा सति दोषस्य प्रतिबन्धकत्वासंभवात्। सत्येव पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधितया प्राप्तं हि प्रतिबन्धकम्। न हि दोषाभावे सति दोषः प्राप्नोति। अतो नोत्पत्तौ परतस्त्वम्। ज्ञप्तिरपि प्रामाण्यस्य कथं परतः स्यात्? प्रामाण्यं नाम ज्ञानस्यार्थपरिच्छेदसामर्थ्यम्, तत्किं गुणजन्यत्वज्ञानादवगम्यते अर्थक्रियासंवादज्ञानाद्वा? नाऽऽद्यः, घटे ज्ञायमानेऽपि तस्य ज्ञानस्य गुणजन्यत्वं यावन्न ज्ञायते तावद् घटपरिच्छेदसामर्थ्याप्रतीतौ घटव्यवहारानुदयप्रसङ्गात्।

अन्वय और व्यतिरेक साक्षात् नहीं है। तब तो अन्वय और व्यतिरेकके बलसे प्रतिबन्धक दोषका अभाव ही प्रामाण्यका कारण होगा? [अतः प्रामाण्यमें परतस्त्व सिद्ध हो गया]।

समाधान—उक्त शङ्का नहीं बन सकती, कारण कि ऐसा माननेसे दोष प्रतिबन्धक नहीं हो सकता, क्योंकि पर्याप्त कारणोंके रहते कार्यकी उत्पत्तिमें बाधा पहुँचानेवाला ही प्रतिबन्धक कहलाता है। दोषका अभाव होनेपर दोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती। [यदि गुण है तो, दोषका अभाव होनेसे प्रतिबन्धक दोषकी प्राप्तिका सम्भव ही नहीं है। अथ च गुण नहीं है, तो पुष्कल कारण ही नहीं है। इसलिए दोषके रहते हुए भी यदि वह प्रतिबन्धक नहीं कहा जा सकता, तो प्रतिबन्धक दोषका अभाव ज्ञानोंका प्रामाण्य उत्पन्न करता है, यह कहना कैसे सङ्गत हो सकता है? इस अभिप्रायसे प्रघट्टकका निष्कर्ष लिखते हैं—] इसलिए उत्पत्तिमें परतस्त्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती। [दूसरे पक्षका खण्डन करते हैं—] प्रामाण्यकी ज्ञप्ति—ज्ञात होना—भी दूसरेके द्वारा कैसे सम्भव होगा? कारण कि ज्ञानोंके अर्थपरिच्छेदकी—विषयका निश्चयात्मक ज्ञान करानेकी—सामर्थ्य ही तो प्रामाण्य है, ऐसी दशामें क्या वह प्रामाण्य गुणसे उत्पन्न हुआ है, इसलिए जाना जाता है? अथवा अर्थक्रियाके व्यवहारके संवादज्ञानसे जाना जाता है? प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि घटका ज्ञान होनेपर भी जबतक उस ज्ञानमें यह ज्ञान गुणसे उत्पन्न हुआ है, ऐसा ज्ञान न हो, तबतक उसमें घटका निश्चय करनेकी सामर्थ्यकी प्रतीति न होनेसे 'यह घट है'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तु गुणजन्यत्वज्ञाने सति पश्चाद् व्यवहार इति चेद्, न; घटज्ञानवद् गुणजन्यत्वज्ञानस्याऽपि स्वप्रामाण्यनिश्चायकज्ञानान्तरात् प्रागकिञ्चित्करत्वे सत्यनवस्थाप्रसङ्गात्। द्वितीयेऽप्ययं न्यायस्तुल्यः।

अथ मतम्—साधनभूतभोजनादिज्ञानानां तृप्त्याद्यर्थक्रियासंवादज्ञानात् प्रामाण्यावगमः, फलभूततृप्त्यादिज्ञानानां तु स्वत एव तदवगमः; अर्थक्रियान्तराभावात्, ततो नाऽनवस्थेति। तदसत्, विमतं साधनज्ञानं स्वत एव प्रमाणम्, ज्ञानत्वात्, फलज्ञानवत्। विपक्षे चाऽन्योन्याश्रयप्रसङ्गो बाधः।

ऐसा घटव्यवहारका उदय नहीं हो सकता। गुणजन्यत्व ज्ञान होनेके अनन्तर ही व्यवहार होगा, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि घटज्ञानके सदृश गुणजन्यत्व ज्ञानके भी अपनेमें प्रामाण्यका ज्ञान करानेवाले दूसरे ज्ञान होनेके पूर्व अकिञ्चित्कर होनेके कारण [दूसरे ज्ञानोंकी अपेक्षासे] अनवस्थाका प्रसङ्ग होगा *। द्वितीय पक्ष माननेमें भी यह न्याय—अनवस्थादोषप्रसङ्ग—समान ही है।

[व्यवहारसंवादसे यदि ज्ञानका प्रामाण्य मानो, तो व्यवहारसंवादज्ञानका प्रामाण्य किसी दूसरे ज्ञानसे होगा, उसका तीसरेसे और उसका भी चौथे से, इत्यादि रीतिसे अनवस्था बनी ही है।]

हेतुभूत भोजनादि ज्ञानोंका प्रामाण्य तृप्तिरूप व्यवहारसे जाना जायगा। और फलस्वरूप तृप्ति आदि ज्ञानोंका प्रामाण्य स्वतः प्रतीत हो जायगा। इससे अनवस्थाका प्रसङ्ग नहीं आता, यह कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि विमत—विवादग्रस्त साधनज्ञान (तृप्तिके कारण भोजनादि-ज्ञान) स्वतः निश्चायक हैं, ज्ञान होनेसे, तृप्ति आदि फलज्ञानके समान। [प्रतिवादी फलज्ञानको स्वतःप्रमाण मानता ही है, उसमें विद्यमान ज्ञानत्व-सामान्यसे कारण ज्ञानको भी स्वतःप्रमाण मानना उचित है। कोई ज्ञान स्वतःप्रमाण और कोई परतःप्रमाण होता है, इसमें विनिगमक नहीं है। उक्तानुमानमें अनुकूल तर्क दिखलाते हैं—] इस उक्तानुमानसे सिद्ध स्वतःप्रामाण्यके विपरीत परतःप्रामाण्य माननेमें अन्योन्याश्रयका प्रसङ्गरूप बाध है। कार्यमें

---

* जैसे घटज्ञान गुणजन्यत्व ज्ञान होनेके पूर्व निश्चायक नहीं हो सकता एवम् गुणजन्यत्व ज्ञान भी स्वयं निश्चायक नहीं हो सकता, कारण कि वह भी तो ज्ञान ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृत्तस्याऽर्थक्रियासंवादज्ञानात् प्रामाण्यनिश्चयः प्रामाण्यनिश्चये च प्रवृत्तिरिति। अनिश्चिते एव प्रामाण्ये तन्निश्चयाय प्रवृत्त्युपपत्तेर्नाऽन्योन्याश्रयतेति चेत्, सति संदेहे तथाऽस्तु। असंदिग्धार्थेष्वभ्यस्तघटादिविषयज्ञानेषु कथं प्रामाण्यनिश्चयाय प्रवृत्तिः स्यात्। ननु सुवर्णपरीक्षायां निरीक्षणनिकर्षणदाहच्छेदरूपात् प्रत्ययचतुष्टयादर्थनिश्चयः, न प्रथमप्रत्ययमात्रात्, ततः परतः प्रामाण्यमनिवार्यमिति चेद्, न; तत्र हि द्वितीयादि ज्ञानानि प्रथमज्ञानप्रामाण्यप्रतिबन्धकसंशयादिनिरासीनि, न तु तत् प्रामाण्यनिश्चायकानि। तस्मात् प्रामाण्यस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ च ज्ञानोत्पादकज्ञापकातिरिक्तानपेक्षत्वलक्षणं स्वतस्त्वम-

---

प्रवृत्त पुरुषको अर्थक्रियाके—व्यवहार वा फलके—संवादज्ञानसे [प्रवृत्तिप्रयोजक ज्ञानके] प्रामाण्यका निश्चय होगा और [उस प्रवृत्तिप्रयोजक ज्ञानके] प्रामाण्यका निश्चय होनेपर ही प्रवृत्ति होगी, इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष है। प्रामाण्यका निश्चय न होनेपर ही उसके निश्चयके लिए प्रवृत्तिकी उपपत्ति हो जायगी [इससे अन्योन्याश्रय नहीं आता] ऐसा मानना, तो केवल सन्देहस्थलमें ही हो सकता है। जिनके विषयमें कोई सन्देह नहीं है, ऐसे पूर्ण परिचित घटादिको विषय करनेवाले ज्ञानोंमें प्रामाण्यनिश्चयके लिए प्रवृत्ति क्योंकर होगी? [निश्चित विषयस्थलमें भी प्रामाण्य निश्चयके लिए प्रवृत्तिका दृष्टान्त देकर शङ्का करते हैं—] सोनेकी परीक्षाकालमें निरीक्षण—देखना, कसौटीपर चढ़ाना—घिसना—एवम् आगमें तपाना और टुकड़ा करना—इन चार प्रकारके ज्ञानोंसे विषयका निश्चय होता है, केवल सुवर्णज्ञानमात्रसे नहीं होता, इस दृष्टान्तसे ज्ञानोंका प्रामाण्य दूसरेके अधीन है, इस सिद्धान्तका निवारण नहीं किया जा सकता, यह कहना भी नहीं बनता, कारण कि ऐसे स्थलोंमें निकर्षणादि—द्वितीयादि ज्ञान-केवल प्रथम ज्ञानके प्रामाण्यमें (दोषवशात् उत्पन्न हुए) प्रतिबन्धक संशयादिका ही दूरीकरण करते हैं, [आदि पदसे असम्भावना या विपरीतभावना ली गई है] प्रामाण्यके निश्चायक नहीं हैं। इस निष्कर्षसे स्वरूपप्रामाण्यकी उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति—प्रतीति—दोनोंमें ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली तथा प्रतीति करानेवाली सामग्रीके अतिरिक्त किसीकी अपेक्षा न रखना लक्षणवाला स्वतस्त्व ही मानना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्युपेयम् । अप्रामाण्यस्य तु ज्ञानकारणगतदोषादुत्पत्तिर्बाधाच्च ज्ञप्तिरिति परतस्त्वम् ।

अप्रामाण्यं परतो नोत्पद्यते, प्रामाण्याभावत्वात्, प्रामाण्यप्रागभाववदिति चेद्, नः हेत्वसिद्धेः । अप्रामाण्यं नामाऽज्ञानसंशयविपर्ययाः । तदुक्तं भट्टपादैः—

'अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः ।' इति ।

अज्ञानशब्देन चाऽत्र वस्त्वन्तरज्ञानं विवक्षितम्, 'विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि' इति तैरेवोक्तत्वात् । ततस्तत्र त्रयाणामपि नाऽभावत्वम् । स्वतः प्रामाण्यस्याऽपि

किन्तु अप्रामाण्यकी उत्पत्ति तो ज्ञानके कारणमें—इन्द्रियादिमें—स्थित दोषसे होती है । और उत्तर कालमें बाधज्ञान होनेसे उस अप्रामाण्यकी प्रतीति होती है, इसलिए अप्रामाण्यको अपनी उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति—प्रतीति—दोनोंमें परतस्त्व है ।

शङ्का—ज्ञानोंका अप्रामाण्य परतः [दोषादिसे] उत्पन्न नहीं होता है, कारण कि वह अप्रामाण्य प्रामाण्यका अभावरूप है, जैसे कि प्रामाण्यका प्रागभाव । [अप्रामाण्य भी प्रामाण्यप्रागभाव ही है और वह किसीसे उत्पन्न नहीं होता है, यह भाव है ।]

समाधान—ऐसा अनुमान नहीं बन सकता, क्योंकि उक्त अनुमानका प्रामाण्याभावरूप हेतु सिद्ध नहीं है । [अधर्मकी भाँति अप्रामाण्यकी अभाव-रूपताका निषेध कर भावरूपताके समर्थनके लिए उसका निर्वचन करते हैं—] क्योंकि *अज्ञान, †संशय और ‡विपर्यय—इन तीन ज्ञानोंको ही अप्रामाण्य कहते हैं।

यही बात कुमारिलभट्टने भी कही है—

मिथ्यात्व—विपर्यय—संशय और अज्ञान—इन भेदोंसे अप्रामाण्य तीन प्रकारका है ।

अज्ञानशब्दसे यहांपर वस्त्वन्तरका ज्ञान विवक्षित है, क्योंकि 'विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि' (भिन्न वस्तुविषयक विज्ञान ही अज्ञान है) ऐसा उन्हींने कहा है । इसलिए अप्रामाण्यके स्वरूपभूत तीनों अभावात्मक नहीं हैं । [स्वतः-प्रमाण ज्ञानोंमें कोई भी अप्रामाण्य नहीं कह सकता, इस आशङ्काका निराकरण

---

* अज्ञानकी भावरूपता अज्ञानवादमें दिखलाई गई है । † विरुद्धकोटिद्वयात्मक ज्ञान ही संशय कहलाता है । ‡ जो वस्तु जैसी है, उसको वैसी न समझना, विपर्यय कहलाता है । जैसे शुक्तिमें रजतभ्रम ।

 CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोषबलादप्रामाण्यमविरुद्धम्, स्वत उष्णस्याऽप्यग्नेर्मन्त्रादिना प्रतिबन्धे शैत्यदर्शनात् ।

यदि कथंचिदप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमाशङ्केथास्तदानीमप्रमाणज्ञानादपि यावद्दोषाधिगममुत्पद्यमानं व्यवहारं कथं समर्थयेथाः ? तस्मात् प्रामाण्यमेव स्वतः इति स्थितम् । तथा च सति ब्रह्मविद्यायास्तर्कापेक्षत्वे कथं नाऽप-सिद्धान्तः ?

नैष दोषः, तर्कस्य प्रतिबन्धनिराकरणमात्रहेतुत्वात् । यद्यपि ब्रह्म स्वप्रकाशं

करते हैं—] स्वतःप्रामाण्यवाले ज्ञानोंमें दोषविशेषसे अप्रामाण्यका होना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि स्वयं उष्णस्वभाव अग्निमें भी मणि, मन्त्र आदि प्रतिबन्धकके सद्भावसे शैत्य—दाहशक्तिका तिरोभाव—देखा गया है ।

यदि आप आग्रहवश अप्रामाण्यमें स्वतस्त्व—स्वभावसिद्धत्व—की ही आशङ्का करें, तो अप्रमाणज्ञानसे भी, जबतक दोषका परिज्ञान नहीं हो पाता, तबतक होनेवाले, व्यवहारका समर्थन किस रीतिसे आप करेंगे । [जिसके मतमें ज्ञानोंमें स्वतःअप्रामाण्य है, उसके मतमें सभी ज्ञान प्रथम शुक्ति-रजतज्ञानके समान अप्रमाण ही होंगे और अप्रमाण ज्ञान अर्थ-क्रियाकारी नहीं होते । इस अवस्थामें शुक्तिरजतज्ञानके अनन्तर होनेवाले रजतार्थीके प्रवृत्तिरूप व्यवहार, 'रजतमिदम्' ऐसे ज्ञान तथा शब्दव्यपदेश आदिकी उपपत्ति कैसे होगी ? यद्यपि दोषज्ञानके अनन्तर व्यवहार या व्यपदेश सब बाधित हो जाते हैं तथापि दोषज्ञानके पूर्व तो यथार्थस्थलके समान व्यवहार तथा व्यपदेश होते ही हैं, इनका अपलाप तो कोई नहीं कर सकता, यह तात्पर्य है ।] इससे ज्ञानोंमें प्रामाण्य स्वतः ही है, यही सिद्धान्त युक्त है । इस सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मविद्याको ब्रह्मप्राप्तिरूप फलके जननमें तर्ककी यदि अपेक्षा है, तो अपसिद्धान्त—अपने सिद्धान्तका विरोध—क्यों नहीं होता ?

उक्त दोष नहीं आता, कारण कि तर्क केवल प्रतिबन्धका निराकरण ही करता है । [ब्रह्मकी प्राप्तिमें कोई प्रतिबन्ध आ ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो स्वयंप्रकाश है, इससे तर्कका प्रतिबन्धनिराकरणरूप फल भी नहीं हो सकता । इस प्रकार वादीकी शङ्काको मनमें रख कर समाधान करते हैं—]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दश्च तत्राऽपरोक्षज्ञानजनने समर्थस्तथापि दुरितैश्चित्तकृतविपरीतप्रवृत्तेर्विषयासम्भावनया देहेन्द्रियादिविपरीतभावनया च प्रतिबन्धः सम्भवति, ततो निश्चलोऽपरोक्षोऽनुभवो न जायते। तत्राऽऽश्रमधर्मानुष्ठानाद् दुरितापगमः। शमादिसेवनाच्चित्तस्य विपरीतप्रवृत्तयो निरुध्यन्ते। मननात्मकेन तर्केण जीवब्रह्मैक्यलक्षणस्य विषयस्याऽसम्भावना निरस्यते। निदिध्यासनेन विपरीतभावनां तिरस्कुर्वती सूक्ष्मार्थनिर्द्धारणसमर्था चित्तवृत्तेरेकाग्रता सम्पद्यते। ततः शब्दजनितमपरोक्षं ज्ञानं निश्चलं प्रतितिष्ठति। वेदान्तशब्दस्य च ब्रह्मापरोक्षावगतिहेतुत्वं 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति तद्धितप्रत्ययेन दर्शितम्। उपनिषत्स्वेव सम्यगवगतः पुरुष इति तद्धितप्रत्ययार्थः। नह्यपरोक्षे

यद्यपि ब्रह्म स्वप्रकाश है और शब्द (श्रुति) उसका अपरोक्ष ज्ञान करानेमें समर्थ है तथापि पाप कर्मोंके कारण चित्तकी विपरीत वृत्ति——बुद्धि-विपर्यय——होनेसे विषय——ब्रह्म——की असम्भावना अथवा देहेन्द्रियादिविपरीत-भावनासे उसका प्रतिबन्ध होता है, इससे स्थिर साक्षात्काररूपी अनुभव नहीं हो सकता। इस अवस्थामें आश्रमधर्मके——यज्ञ आदिके——अनुष्ठानसे पापकर्मोंका विनाश होता है और शम आदिके अनुष्ठानसे चित्तकी विपरीत प्रवृत्तियाँ रुक जाती हैं। मननस्वरूप तर्कसे जीव और ब्रह्मके ऐक्यरूप विषयमें प्राप्त हुई असम्भावनाका दूरीकरण होता है। और निदिध्यासनसे—पुनः पुनः जीव और ब्रह्मकी एकताके परिशीलनसे—चित्त-वृत्तिकी निश्चल एकाग्रता हो जाती है, जिससे विपरीतभावना बिलकुल दूर हो जाती है और अत्यन्त सूक्ष्म विषयका निश्चय करनेकी सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाती है। उसके अनन्तर शब्द—उपदेश—द्वारा उत्पन्न हुआ साक्षात्कारात्मक ज्ञान निश्चल-रूपसे अवस्थित रहता है।

'तन्त्वौपनिषदं पुरुषम्' इस वाक्यमें आया हुआ ['औपनिषदः'——उपनिषत्सु अवगतः अर्थात् उपनिषदोंमें ही जाना गया है, इस प्रकार अवगतिरूप अर्थ कहने-वाला] तद्धित प्रत्यय ही 'वेदान्तशब्द ब्रह्मविषयक अपरोक्ष ज्ञानका कारण है', इस सिद्धान्तका निर्णय कराता है। यहांपर 'उपनिषदोंमें ही भली-भाँति अवगत है', ऐसा तद्धितप्रत्ययका अर्थ है, कारण कि अपरोक्ष ब्रह्ममें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रह्मणि परोक्षज्ञानं सम्भवति। ततः प्रथमत एव शब्दादुत्पन्नमपरोक्षज्ञानं प्रतिबन्धापाये पश्चान्निश्चलं भवति।

अथवा यथा सम्प्रयोगोऽभिज्ञानमुत्पाद्य पुनः पूर्वानुभवसंस्कारापेक्षया प्रत्यभिज्ञानमुत्पादयति तथा शब्द एव प्रथमं ब्रह्मणि परोक्षज्ञानमुत्पाद्य पुनर्वर्णितप्रतिबन्धक्षयापेक्षया द्वितीयमपरोक्षज्ञानमुत्पादयति। न च स्वयंप्रकाशे ब्रह्मणि परोक्षज्ञानं विभ्रमः, स्वयंप्रकाशेऽपि पुरुषान्तरसंवेदने परोक्षानुमानदर्शनात्। एवं सति शब्दात् प्रथममपरोक्षं परोक्षं वा ब्रह्मज्ञानं जातमपि तावतैव निश्चलापरोक्षानुभवरूपेण प्रतिष्ठाया अभावादप्राप्तमिव भवति। मननिदिध्यासनयोः कृतयोः फलरूपेण प्रतिष्ठितत्वाद् ब्रह्मविद्या प्राप्तेति व्यपदिश्यते।

नन्वेवं सति निदिध्यासनानन्तरमेव फलोदयदर्शनात्तस्यैवाऽङ्गित्वं श्रवण-

---

परोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए पहले ही शब्दसे अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होकर प्रतिबन्धके हट जानेपर पीछे निश्चल होता है।

[शब्द परोक्षज्ञानका ही जनक है, इस सिद्धान्तके अनुसार व्याख्या करते हैं—] अथवा जैसे इन्द्रियसंप्रयोग आदि पहले ज्ञानको उत्पन्न कराकर पश्चात् प्राक्तन अनुभवजनित संस्कार द्वारा प्रत्यभिज्ञाको उत्पन्न कराते हैं, वैसे ही शब्द पहले ब्रह्मविषयक परोक्षज्ञानको उत्पन्न करके अनन्तर पूर्वप्रतिपादित-रीतिसे प्रतिबन्धका विनाश होनेपर दूसरे अपरोक्षज्ञानको उत्पन्न कर देता है। स्वयंप्रकाश ब्रह्मके परोक्षज्ञानको भ्रमात्मक मानना उचित नहीं है, कारण कि अन्य पुरुषके ज्ञानके विषयमें, जो कि स्वयंप्रकाश भी है, परोक्ष अनुमान देखा गया है। इस सिद्धान्तके अनुसार शब्दसे प्रथम अपरोक्ष या परोक्ष रूपसे ब्रह्मज्ञान हो जानेपर भी उतने ही से—शब्द द्वारा ज्ञान होने ही से—निश्चल अपरोक्षरूपसे वह प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, इसलिए वह अप्राप्त-सा ही रह जाता है। मनन तथा निदिध्यासनके अनन्तर फलरूप निश्चल अपरोक्षानुभवसे प्रतिष्ठित हो जाता है, इसलिए 'ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई' ऐसा व्यवहार होता है।

यदि शङ्का हो कि इस सिद्धान्तके अनुसार निदिध्यासनके अनन्तर ही अपरोक्ष-साक्षात्काररूप फलका उदय होनेसे निदिध्यासनमें ही अङ्गित्व—प्रधानत्व—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मननयोस्तु तदुपकारितयाऽङ्गत्वं प्राप्तमिति चेद्, मैवम्; निदिध्यासनस्याऽनुभवोत्पत्तौ करणत्वायोगात्। नहि निदिध्यासनं नाम किंचित्प्रमाणम्, येनाऽनुभवजनने स्वयं कारणं स्यात्। श्रवणं तु शब्दशक्तितात्पर्यावधारणरूपं सत्करणभूतशब्दातिशयहेतुत्वात् करणमिति कृत्वा श्रवणस्यैवाऽङ्गित्वमुचितम्। प्रबलप्रतिबन्धनिवारकयोर्मननिदिध्यासनयोः सहकारिभूतचित्तातिशयहेतुत्वात् फलोपकार्यङ्गत्वम्। मननं हि विषयगताऽसम्भावनां निराकृत्य चित्ते संशयमपनयति। निदिध्यासनं च विपरीतभावनां निराकृत्य चित्तवृत्तेरैकाग्र्यं जनयति। शमादीनां यज्ञादीनां चाऽऽरादुपकारकत्वादितिकर्त्तव्यतारूपत्वम्, तत्राऽप्यन्तरङ्गाः शमादयः श्रवणाधिकारप्रतिबन्धकस्य चित्ते-

---

और उसके उपकारी होनेसे श्रवण और मननमें तो अङ्गत्व प्राप्त हुआ ? तो यह भी उचित नहीं है, कारण कि निदिध्यासन अनुभवरूप—साक्षात्काररूप—ज्ञानके प्रति कारण नहीं हो सकता। क्योंकि निदिध्यासन कोई प्रमाण नहीं है जिससे कि वह अनुभवकी उत्पत्ति करानेमें कारण माना जा सके। और श्रवण तो शब्दनिष्ठ शक्तिका तात्पर्य-निर्णायक होकर अनुभवके जनक शब्दमें अतिशयको उत्पन्न करनेवाला होनेसे कारण—अनुभवात्मक प्रमाका जनक—हो सकता है, इसलिए श्रवणको अङ्गी मानना उचित है। प्रबल प्रतिबन्धको दूर करनेवाले मनन और निदिध्यासन तो सहकारीभूत चित्तमें अतिशयके जनक होनेसे फलोपकारी अङ्ग हैं, क्योंकि मनन विषयमें प्राप्त असम्भावनाको हटाकर चित्तमें उत्पन्न हुए संशयको दूर करता है और निदिध्यासन विपरीतभावनाको नष्ट करके चित्तवृत्तिकी एकाग्रता उत्पन्न करता है। एवं शम तथा यज्ञ आदि आरादुपकारक* होनेसे इतिकर्तव्यतारूप हैं। उनमें भी शम आदि अन्तरङ्ग हैं, क्योंकि वे

---

* आरादुपकारक। आराद् यानी दूरके तत्त्वसाक्षात्काररूप फलमें, उपकारक अर्थात् तत्त्वसाक्षात्कारकी प्रतिबन्धिका असम्भावनाबुद्धिके मूल कारण पापादिका विनाश करनेसे ब्रह्मज्ञानमें यज्ञादि उपकारी होते हैं। अतः वर्तमान तथा अतीत जन्ममें किये गये यज्ञादि ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें इतिकर्तव्यतारूप हैं। इससे दुरितोंका क्षय होना अत्यन्त आवश्यक है, यह सूचित किया गया है। स्मृतिकारोंने भी कहा है—

'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः'।

महायज्ञ तथा यज्ञोंसे शरीर ब्रह्मज्ञानके अनुकूल किया जाता है। इसी प्रकार—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्द्रियगतविपरीतप्रवृत्त्याख्यस्य दृष्टदोषस्य निवारकत्वात्। यज्ञादयश्चाऽदृष्टदोषस्य निवारकतया बहिरङ्गाः। अत इतिकर्त्तव्यतया फलोपकार्यङ्गाभ्यां चोपकृतमङ्गिभूतं श्रवणमेव निश्चलापरोक्षानुभवजनकम्।

यत्तु श्रवणमापातिकमङ्गानुष्ठानात् प्राक्परोक्षज्ञानमप्रतिष्ठितापरोक्षज्ञानं

श्रवणमें अपेक्षित अधिकारके[1] प्रतिबन्धक चित्तेन्द्रियगत विपरीत[2] प्रवृत्तिरूप दृष्टदोषके निवारक हैं और यज्ञ आदि अदृष्ट[3] दोषके निवारक होनेसे बहिरङ्ग हैं। इस निष्कर्षसे इतिकर्तव्यतास्वरूप होनेसे फलोपकारी अङ्गोंसे—मनन और निदिध्यासन इन दोनोंसे—उपकृत होकर प्रधान श्रवण ही निश्चल अपरोक्षानुभवरूप साक्षात्कारका उत्पादक है।

श्रवण तो आपातिक—प्रथम-प्रथम अङ्गोंके अनुष्ठानसे—मनन और निदिध्या-

---

'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्'।

अर्थात् यज्ञादिके द्वारा देव-ऋण, सत्र, दानादिसे मनुष्य ऋण एवं गार्हस्थ्यका विधानकर पुत्रोत्पादनसे पितृ-ऋणको दूर कर मोक्षमें मन लगावे। तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार भी पापका लेश रहनेसे मनकी मोक्षमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। श्रुति भी कहती है—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन'।

ब्राह्मण वेदानुवचन द्वारा यज्ञादि करनेसे ही ब्रह्मविविदिषाके अधिकारी होते हैं।

शम तथा दम आदिका भामतीमें इस प्रकार विवेचन किया गया है—रागादिरूप कषायोंके मदसे उन्मत्त होकर मन नानाप्रकारके भले-बुरे कर्मोंमें इन्द्रियोंको प्रवृत्त कराता हुआ पुरुषको अत्यन्त घोर दुःखजनक संसाररूप अग्निमें जलाता है। अनन्तर अतिशय पुण्यराशिके फलोदयस्वरूप गुरुकृपा या सत्सङ्गसे उदित हुए प्रसङ्ख्यानके पुनः परिशीलनसे प्राप्त वैराग्य द्वारा रागादि कषायोंका मद उतरनेसे मन पुरुषके अधिकारमें हो जाता है। इस प्रकार मनके वशीकारको शम कहते हैं। और इस प्रकार वशमें हुआ शान्त मन तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके उन्मुख होनेकी योग्यताका लाभ करता है। इस योग्यताको दम कहते हैं। आदिपदसे 'तस्माच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मान्येवात्मानं पश्येत्', 'सर्वमात्मनि पश्यति' इस श्रुतिमें प्रतिपादित तितिक्षा आदि लेने चाहिएँ। इस प्रकार शम, दम आदिको ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें अव्यवधानेन कारण होनेसे भी अन्तरङ्गत्व प्राप्त होता है।

१ 'तस्मात् शान्तो दान्तः' इत्यादि श्रुतिसे शम, दम आदिसे सम्पन्न पुरुषका ही ब्रह्मविद्यामें अधिकार है।

२ इन्द्रियोंकी विषयोन्मुखता विपरीत प्रवृत्ति है।

३ वर्तमान जन्ममें सब तरहके उपाय करनेपर भी मनकी स्थिरता तथा श्रद्धा न होना प्राक्तन पापोंकी सूचना है। उनका निवारण करना यज्ञ-यागादिके अदृष्टका काम है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कर्मोंका कारणत्व ज्ञानकी इच्छा (विविदिषा) में है, ज्ञानमें नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वा जनयति। तस्य निदिध्यासनाङ्गत्वेऽपि न नः किंचिद्धीयते, संसार-निवर्तकब्रह्मतत्त्वापरोक्षज्ञानजनकश्रवणस्यैवाऽङ्गित्वाङ्गीकारात्। ब्रह्मज्ञानं न संसारनिवर्तकम्, सत्यपि तस्मिन् संसारदर्शनादिति चेद्, न; तत्त्वापरोक्षात् समूलाध्यासनिवृत्तेरन्वयव्यतिरेकशास्त्रसिद्धत्वात्। अध्यासविरोधिदेहव्यति-रेकावगमवत्तत्त्वावबोधोऽध्यासविरुद्धोऽपि न तमपनयेदिति चेद्, न; वैषम्यात्। तत्त्वज्ञानं हि मूलाज्ञानविरोधि, न तु तथा देहव्यतिरेकज्ञानम्। तर्हि तत्त्वज्ञानान्मूलाज्ञाननिवृत्तौ सद्यः शरीरपातः स्यादिति चेद्, न;

सनसे पूर्व केवल अपरोक्षज्ञान अथवा जिसका साक्षात् अनुभव प्रतिष्ठित–निश्चल—नहीं हो पाया है, ऐसे अपरोक्षज्ञानको ही उत्पन्न करता है, ऐसा जो वादी मानता है, उसके सिद्धान्तके अनुसार श्रवणके निदिध्यासनाङ्ग होनेपर भी हमारे मतमें कोई हानि नहीं है; कारण कि संसारकी निवृत्ति करनेवाले ब्रह्मतत्त्वके अपरोक्ष ज्ञानको उत्पन्न करनेमें समर्थ श्रवणको हम भी अङ्गी मानते हैं। ब्रह्मज्ञान संसारका निवर्तक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान होनेपर भी संसारकी निवृत्ति नहीं होती, यह शङ्का भी उचित नहीं है, कारण कि ब्रह्मतत्त्वके अपरोक्ष ज्ञानसे समूल अध्यासकी निवृत्ति अन्वय और व्यतिरेक तथा शास्त्रसे सिद्ध है। अध्यासके विरोधी देहादिके साथ आत्माके भेदज्ञानके समान ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान भी अध्यासका विरोधी होता हुआ उस अध्यासको निवृत्त नहीं कर सकता। [अर्थात् यद्यपि प्रायः सर्व-साधारणकी प्रतीतिसे सिद्ध है कि आत्मा देहादिसे भिन्न है, तथापि उससे उनकी संसारनिवृत्ति नहीं देखी जाती, अतः तादृश भेदज्ञान जैसे अध्यासविरोधी होता हुआ भी अध्यासकी निवृत्ति नहीं कर सकता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानको भी समझना चाहिए।] यदि ऐसी शङ्का की जाय, तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान तथा देहात्मभेदज्ञानमें वैषम्य है—समानता नहीं है। [वैषम्य दिखलाते हैं—] तत्त्वज्ञान ही मूल अज्ञानका विरोधी है, और देहात्मभेदज्ञान तो उसके समान मूल अज्ञानका विरोधी नहीं है। इसलिए देहात्मभेदज्ञानके रहते भी संसारनिवृत्ति–अध्यासनिवृत्ति–नहीं होती, इस तरह दृष्टान्त और दार्ष्टा-न्तिककी विषमता स्पष्ट है ऐसी दशामें तत्त्वज्ञानसे मूल अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर उसी क्षणमें तुरत शरीरपात—देहका छूट जाना—हो जाना चाहिए, ऐसा दोष भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अज्ञानतत्कार्यसंस्कारादपि शरीराद्यनुवृत्तिसम्भवात्। चक्रभ्रमणादिक्रियायां ज्ञाने च संस्कारः प्रसिद्धो नान्यत्रेति चेद्, न; गन्धादौ संस्कारदर्शनात्। निःसारितपुष्पे पुष्पपात्रे स्थिताः सूक्ष्माः पुष्पावयवा एव गन्धबुद्धिम् उत्पादयन्ति न संस्कार इति चेत्, तथापि प्रलयावस्थायां सर्वकार्यसंस्कारोऽभ्युपगम्य एव। ये तु नाऽभ्युपगच्छन्ति, तान् प्रत्यनुमातव्यम्—विमतः कार्यविनाशः संस्कारव्याप्तः, संस्कारविनाशादन्यत्वे सति विनाशत्वाद्, ज्ञानविनाशवदिति। क्रियाज्ञानयोरेव संस्कार इति प्रसिद्ध्या बाध इति चेत्, तर्ह्यविद्यातत्कार्ययोरपि भ्रान्तिज्ञानरूपत्वात् संस्कारहेतुत्वमस्तु। अविद्यादि-

---

नहीं आता। कारण कि अज्ञान या अज्ञानजनित संस्कारसे भी शरीरकी अनुवृत्ति हो सकती है। संस्कार चक्रभ्रमण--चाकमें भ्रमि—आदि क्रिया तथा ज्ञानादिस्थलोंमें ही होता है, अन्यत्र नहीं होता, ऐसा भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि गन्धादिस्थलमें भी संस्कार देखा गया है। फूलोंकी डलियोंमें से फूलोंको बाहर कर देनेपर भी उस फूलोंके पात्रमें फूलोंके सूक्ष्म अवयव रह जाते हैं, वे ही अवशिष्ट सूक्ष्म अवयव गन्धका ज्ञान कराते हैं, संस्कार नहीं, ऐसा माननेपर भी प्रलयदशामें सम्पूर्ण कार्योंका अर्थात् सकल संसारका जनक संस्कार मानना ही होगा। जो वादी [प्रलय] नहीं मानते हैं, उनके प्रति अनुमान द्वारा उसे सिद्ध करना होगा। [अनुमानका प्रयोग दिखलाते हैं—] विमत—विवादग्रस्त—कार्यका विनाश संस्कारसे व्याप्त है अर्थात् जहाँ जहाँ कार्यका विनाश होता है, वहां सर्वत्र उसका संस्कार शेष रह ही जाता है, [इस तरह कार्यके विनाशके साथ संस्कारकी व्याप्ति सिद्ध होती है।] संस्कारविनाशसे भिन्न होकर विनाश होनेसे, [यदि कार्यविनाश भी संस्कारविनाशरूप होता, तो कार्यविनाशके अनन्तर संस्कार नहीं रह सकता, अतएव निरुक्त विशिष्ट हेतु उक्त अनुमितिमें उपयुक्त ही है।] ज्ञानविनाशके तुल्य।

ज्ञान और भ्रमि-सी क्रियामें ही संस्कारजनकत्व होता है, इस लोकप्रसिद्धिसे [कार्यमात्रके विनाशस्थलमें संस्कार माननेका] बाध होगा, ऐसा यदि माना जाय, तो अविद्या तथा अविद्याके कार्य भी भ्रमात्मक ज्ञान ही हैं, इस कारण वे भी संस्कारजनक होंगे। [संस्कार तो केवल स्मरणके ही प्रति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साक्षिचैतन्यस्य नित्यत्वेऽपि तदवच्छेदकज्ञानाभासरूपवृत्तेरनित्यत्वात् संस्कारः सिध्येत्, तथापि स्मृतिमात्रकारणात् संस्कारात् कथमपरोक्षद्वैतावभास इति चेत्, प्रपञ्चापरोक्षकारणचैतन्याश्रितदोषत्वात् संस्कारस्येति वदामः। अपरोक्षकारणनेत्रादिगतकाचादिदोषाणामपरोक्षभ्रमहेतुत्वात्। न च केवलस्य चैतन्यस्य न संस्काराश्रयत्वसम्भव इति वाच्यम्, अविद्याश्रयत्ववदुपपत्तेः। संस्कारस्य कार्यत्वेऽपि प्रध्वंसवन्नोपादानापेक्षा, अविद्यासंस्कारव्यतिरिक्तभावरूपकार्याणामेवोपादानजन्यत्वात्। अत एवाऽन्यत्र संस्कारस्य स्वोपा-

---

कारण है, प्रत्यक्ष अनुभवका जनक तो है ही नहीं, इसलिए संस्कारका होना प्रकृत अर्थका साधक नहीं हो सकता, इस आशयसे शङ्का करते हैं—] यदि शङ्का हो कि अविद्या आदिके साक्षी चैतन्यके नित्य होनेपर भी उसकी अवच्छेदक ज्ञानाभासरूप वृत्तिके अनित्य होनेसे यद्यपि संस्कारकी सिद्धि हो सकती है, तथापि केवल स्मृतिके ही कारण संस्कारसे द्वैत प्रपञ्चका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान कैसे हो सकता है ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञानके कारण चैतन्यमें स्थित दोषरूप होनेसे संस्कार प्रत्यक्षज्ञानका जनक हो जाता है, ऐसा हम कहते हैं। [अपरोक्षज्ञानके कारणमें आए हुए दोषसे अपरोक्ष भ्रम होता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—] कारण कि प्रत्यक्षज्ञानके कारण चक्षु आदिमें काचादि दोष—रोग—शुक्तिरजत, द्विचन्द्र आदि प्रत्यक्ष भ्रमके जनक होते ही हैं। और केवल शुद्ध चैतन्य संस्कारका आश्रय नहीं हो सकता, ऐसी भी शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे शुद्ध चैतन्य अविद्याका आश्रय होता है, वैसे ही संस्कारका भी आश्रय हो जायगा। [अर्थात् अविद्याश्रय होनेपर भी जैसे चैतन्यका असङ्गित्व बना रहता है, वसे ही संस्कारका आश्रय होनेपर भी उसका बाध न होगा।] संस्कार यद्यपि कार्य है, तथापि वह प्रध्वंसके तुल्य उपादानकी अपेक्षा नहीं रखता, कारण कि अविद्या तथा संस्कारसे भिन्न भावरूप कार्योंकी ही उपादानसे उत्पत्ति मानी जाती है। [इससे संस्कारका कोई उपादान न होनेसे उसे नहीं मानना चाहिए, यह भी शङ्का नहीं हो सकती।] अतएव अन्य स्थलमें संस्कारके अपने उपादानमें आश्रित रहनेका नियम होनेपर भी प्रकृतमें संस्कारका अपने अनुपादन चैतन्यमें रहना सङ्गत ही है। संस्कारके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दानाश्रयत्वनियमेऽप्यत्राऽनुपादानचैतन्याश्रितत्वमुपपद्यते । न च संस्काराङ्गीकारे विदेहमुक्त्यभावः, प्रारब्धकर्मणोऽन्ते तत्त्वज्ञानानुसन्धानादेव संस्कारनिवृत्तौ तत्सिद्धेः ।

अथ मन्यसे—अविद्याया निवृत्तत्वात् संस्कारस्य चाऽनुपादानत्वान्निरुपादानो देहेन्द्रियादिः कथं सिध्येदिति ? तर्हि तत्त्वसाक्षात्कारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयमविद्यालेशानुवृत्त्या जीवन्मुक्तिरस्तु । प्रतिबन्धकस्य प्रारब्धकर्मणः क्षये तत्त्वज्ञानादविद्यालेशोऽपि निवर्तते, अतः सर्वसंसारनिवर्तकब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्राप्तये सर्ववेदान्तारम्भः । यद्यपि केषुचिद्वेदान्तेषु सगुणोपासनानि विधीयन्ते, तथापि तेषां गोदोहनादिवत् प्रासङ्गिकत्वादुपा-

---

माननेमें विदेहमुक्तिका अभाव होगा, ऐसा दोष भी नहीं देना चाहिए, कारण कि प्रारब्ध कर्मोंका नाश होनेपर तत्त्वज्ञानके अनुसन्धानसे—दृढ़ निश्चल अपरोक्षानुभूतिसे—ही संस्कारकी निवृत्ति हो जानेपर विदेहमुक्तिका होना सम्भव है ।

यदि शङ्का हो कि अविद्या तो नष्ट ही हो गई है, और संस्कार उसका उपादान कारण है नहीं, इस अवस्थामें उपादानके—समवायिकारणके—बिना देहेन्द्रियादिकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? [वेदान्तमतमें इस वर्तमान देहेन्द्रियादिसङ्घातका उपादानकारण अविद्या है, तत्त्वज्ञानसे उसकी निवृत्ति हो जानेपर देहेन्द्रियादिसङ्घातकी स्थिति नहीं रहती, क्योंकि कार्यकी स्थिति उपादानके साथ ही रह सकती है और जो शेष संस्कार रह जाता है, वह उसका उपादान नहीं है, इस दशामें जीवनमुक्तिका होना सम्भव नहीं हो सकता, यह शङ्काका अभिप्राय है ।] तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वसाक्षात्कार होनेपर भी प्रारब्ध कर्मोंका नाश होनेतक [पुष्पपात्रसे पुष्पोंके बाहर निकाल देनेपर भी पुष्पोंके सूक्ष्म अवयवोंके शेष रहनेके सदृश] अविद्याके लेशकी अनुवृत्तिसे जीवन्मुक्तिकी सिद्धि होगी । प्रतिबन्धक—अविद्याकी पूर्णतया निवृत्तिको रोकनेवाले प्रारब्ध कर्मका [भोगसे] नाश होनेपर तत्त्वज्ञानसे अविद्याका लेश—सूक्ष्मावस्थासे जरा-सा शेष रहा हुआ सम्बन्ध—भी निवृत्त हो जाता है । इसलिए सम्पूर्ण संसारकी निवृत्ति करा देनेवाले जीव और ब्रह्मके ऐक्यज्ञानकी प्राप्तिके लिए सकल वेदान्तशास्त्रोंका प्रारम्भ है । यद्यपि किसी-किसी स्थलमें वेदान्तशास्त्रोंमें भी सगुण उपासनाओंका विधान है, तथापि उन सगुण उपासनाओंके गोदोहनके तुल्य प्रासङ्गिक होनेसे कर्मभूत—प्राप्य—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सनकर्मभूतं निर्विशेषं ब्रह्मैव तत्राऽपि प्रतिपाद्यम् । उपास्यत्वेन विधीयमाना गुणा अप्यध्यारोपापवादन्यायेन निर्विशेषब्रह्मप्रतिपत्तावुपयुज्यन्ते । अपवादात् प्रागवस्थायामारोपितैस्तैस्तैर्गुणैर्विशिष्टं ब्रह्म तस्मै तस्मै फलायोपास्यत्वेन विधातुं शक्यम् ।

ननु यदि मुमुक्षुणाऽवगन्तव्यं ब्रह्मस्वरूपं बोधयितुमारोपितगुणप्रपञ्चमाश्रित्योपासनाविधिस्तदा मोक्षेऽधिकृतस्यैवोपासनाधिकारः स्यात् । यथा दर्शपूर्णमासयोः 'चमसेनाऽपः प्रणयेत्' इति वाक्यात् प्राप्तमपाम्प्रणयनमाश्रित्य 'गोदोहनेन पशुकामस्य' इति विधीयमाने गोदोहने दर्शपूर्णमासाधिकारिण

निर्विशेष (निर्गुण) ब्रह्म ही उन वेदान्तवाक्योंसे प्रतिपादनीय विषय है । उपासनाके योग्यरूपसे विधान किये जानेवाले गुण भी अध्यारोपापवाद-न्यायसे * निर्विशेष—गुणरहित—ब्रह्मज्ञानको करानेके ही उपयोगमें आते हैं । अपवाद—निषेध—करनेसे पूर्व अवस्थामें आरोपित उन-उन गुणोंसे विशिष्ट ब्रह्मका ही उस-उस फलके लिए उपास्यत्वरूपसे विधान किया जा सकता है ।

शङ्का—यदि मुमुक्षु द्वारा जानने योग्य ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए आरोप किये गये गुण-प्रपञ्चको लेकर उपासनाविधि है, तो मोक्षके अधिकारीका ही उपासनाओंमें अधिकार मानना चाहिए । जैसे 'दर्श-पूर्णमास यागमें 'चमसपात्रविशेषसे जलका प्रणयन करे' इस वाक्यसे प्राप्त जलप्रणयनका आश्रयण करके 'पशुकी इच्छा करनेवाला ['गावो दुह्यन्तेऽस्मिन्' इस अधिकरणव्युत्पत्तिसे] जिस पात्रमें दूध दुहा जाता है उससे जल प्रणयन करे' इस वाक्यसे विधीयमान गोदोहनमें दर्श-पूर्णमासके अधिकारवाले दीक्षित पुरुषका ही अधिकार प्राप्त होता है, वैसे ही मुमुक्षुका ही सगुण उपासनाओंमें भी अधिकार होगा ।

---

* अध्यारोपापवादन्याय—अन्तरधिकरणमें प्रतिपादन किया गया है कि सर्वसाधारण मनुष्योंकी बुद्धिमें निर्गुण ब्रह्मका आना दुःसाध्य है, उनकी ब्रह्मोन्मुख प्रवृत्तिके लिए सगुण ब्रह्मकी उपासना कही गई है । जैसे खेल-कूदमें ही मन लगानेवाले बालकोंको अक्षरोंका परिचय करानेके लिए इस युगमें अक्षरोंके आकारमें मिठाईके खिलौने दिये जाते हैं । और वर्णपरिचय होनेपर वे खिलौने फिर छोड़ दिये जाते हैं वैसे ही मन्दबुद्धि पुरुषोंको भी सगुण उपासनासे ब्रह्मपरिचय कराकर ब्रह्मज्ञानका दृढ़ अभ्यास होनेपर स्वयं गुणोंका त्याग हो जाता है और निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार होता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवाऽधिकारस्तद्वत् ।

नैष दोषः, तत्र हि दर्शपूर्णमासाधिकारिण एवाऽप्रणयनप्राप्तिः, तत्प्राप्तिमत एव पशुकामनायां गोदोहनविधिरित्यधिकृताधिकारता स्यात् । इह तु शब्दादारोपितप्रपञ्चप्रतिपत्तिरमुमुक्षुणामप्यस्तीत्याश्रित्य विधानेऽपि नाऽधिकृताधिकारता । ननु सगुणब्रह्मोपासनाविधायकानां वेदान्तानां ब्रह्मप्रतिपत्तिपरत्वेऽपि न प्राणाद्युपासनविधायकानां तदस्तीति चेत्, नः तेषामपि अन्तःकरणशुद्धिद्वारेण तत्रैव पर्य्यवसानाद् । तस्मात् सर्वेषामपि वेदान्तानां ब्रह्मैव विषयस्तद्विद्याप्राप्त्याऽनर्थनिवृत्तिः प्रयोजनम्, ततस्तद्विचारशास्त्रस्याऽपि ते एव विषयप्रयोजने इत्यवगन्तव्यम् ।

समाधान—ऐसा दोष नहीं आता, कारण कि आपके दृष्टान्तस्थलमें दर्श-पूर्णमासोंके अधिकारीको ही जलके प्रणयनकी प्राप्ति है और उसकी प्राप्तिवालेको ही पशुओंकी कामना—इच्छा—होनेपर गोदोहनकी विधि है, इसलिए अधिकृताधिकारताका * अर्थात् दर्शपूर्णमासोंके अधिकारीका ही अधिकार होना सम्भव है । प्रकृत दार्ष्टान्तिकमें शब्द द्वारा आरोप किये गये प्रपञ्चका ज्ञान मुमुक्षुके अतिरिक्त पुरुषोंको भी हो सकता है, अतः इसका अवलम्बन करके विधान करनेपर भी अधिकृतकी अधिकारता सिद्ध नहीं होती । यद्यपि सगुण ब्रह्मकी उपासनाके विधायक वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य ब्रह्मज्ञान करानेमें [अध्यारोपापवादन्यायसे] हो सकता है, तथापि प्राणादिकी उपासनाके विधायक वेदान्तवाक्योंका तो तात्पर्य ब्रह्मज्ञानमें नहीं हो सकता, ऐसी शङ्का भी उचित नहीं है, क्योंकि उन प्राणादि उपासनाओंका भी अन्तःकरणकी शुद्धिके द्वारा उस निर्गुण ब्रह्मके ज्ञानमें ही तात्पर्य मानना होगा । इस निष्कर्षसे सभी वेदान्तवाक्योंका विषय ब्रह्म ही है । उसका ज्ञान प्राप्त करनेसे अनर्थकी—दुःखोंकी—निवृत्तिरूप प्रयोजन सिद्ध होता है । इसलिए उस ब्रह्मका विचार करनेवाले उत्तरमीमांसाशास्त्रके भी वे ही दोनों विषय और प्रयोजन होंगे, ऐसा समझना चाहिए ।

---

* 'अपः प्रणयन्ति' इस वाक्यमें गार्हपत्यस्थलमें आहवनीयके प्रति जलोंका ले जाना ही प्रकृष्ट नयनरूप जलोंका प्रणयन है । वह प्रणयन पशुकामनावालेको दोहनपात्रसे करना चाहिए, इस वाक्यके अर्थसम्पादनमें अधिकार स्वरसतः यज्ञाधिकृत पुरुषका ही प्रतीत होता है । अतएव गोदोहनका पूर्वमीमांसामें क्रमयुक्त पुरुषार्थत्व सिद्ध किया गया है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ननु विचारकर्तव्यतामात्रं प्रथमसूत्रस्यार्थः, तत्राऽसूत्रिते विषयप्रयोजने वेदान्तविचारसम्बन्धितया किमिति उपपाद्येते इति चेत्? उच्येते एवाऽर्थतो विषयप्रयोजने। तथाहि—इष्टसाधनतैव विधायकानां लिङ्-लोट्-तव्य-प्रत्ययानामर्थ इति तावदुत्तरत्राऽभिधास्यते। मोक्षकामेन ब्रह्मज्ञानाय वेदान्ता विचारयितव्या इत्यस्मिन् सूत्रवाक्ये तव्यप्रत्ययेन धात्वर्थस्य विचारस्य सामान्येनेष्टसाधनता बोध्यते। तत्र किं तदिष्टमिति विशेषाकारेण फलजिज्ञासायां स्वर्गादिवदधिकारिविशेषणतया मोक्ष एव विचारफलत्वेनाऽवगम्यते। ब्रह्मज्ञानं तु धात्वर्थविचारसाध्यत्वात् फलीभूतमोक्षसाधनत्वाच्च अपूर्ववदवान्तर-

---

यदि ऐसी शङ्का हो कि प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का तात्पर्य तो विचार-कर्तव्यतामात्र अर्थात् ब्रह्मविषयक विचार करना चाहिए—इसमें ही है। उस सूत्रमें जिनका प्रतिपादन नहीं किया गया है, ऐसे विषय और प्रयोजन वेदान्त-विचारके सम्बन्धी हैं, ऐसा क्यों कहा जा रहा है? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सूत्रसे अर्थ द्वारा विषय और प्रयोजन कहे ही गये हैं। [सूत्रसे ही विषय तथा प्रयोजनकी अर्थतः सिद्धि दिखलाते हैं—] क्योंकि आगे जाकर कहा जायगा कि विधिका प्रतिपादन करनेवाले लिङ्, लोट्, तव्य आदि प्रत्ययोंका अर्थ इष्टसाधनता ही है। 'मोक्षकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए वेदान्तशास्त्रोंका विचार करना चाहिए, इस प्रकारके सूत्रार्थको प्रकाशित करनेवाले वाक्यमें तव्यप्रत्ययसे धातुके विचाररूप अर्थमें इष्टसाधनताका बोधन होता है। वह इष्टसाधन वस्तु क्या है? इस प्रकार विशेष जिज्ञासाका उदय होनेपर स्वर्गादिके तुल्य अधिकारीके विशेषण होनेसे मोक्ष ही विचारके फलरूपसे प्रतीत होता है। ब्रह्मज्ञान तो धातुके अर्थके विचारसे साध्य होनेके कारण और मोक्षरूप फलका कारण होनेसे अपूर्व—अदृष्ट—के तुल्य अवान्तर व्यापार होगा। [जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिसे स्वर्गकाम—स्वर्गकी कामना रखनेवाला—अश्वमेध आदिका अधिकारी कहा गया है, इसमें स्वर्ग विशेषण है, अतः अधिकारीके विशेषणरूपसे स्वर्ग ही अश्वमेधादि यज्ञोंका प्रधान फल माना गया है, परन्तु कारणका कार्यके अव्यवहित पूर्वमें रहना, यह नियम है। कालान्तरमें भावी स्वर्गके प्रति उक्त यागोंकी कारणताकी रक्षाके लिए तबतक स्थायी यज्ञजन्य अपूर्व—पुण्य—ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापाररूपं भविष्यति ।

ननु नेष्टसाधनता लिङादिप्रत्ययार्थः, किन्तु नियोगो मानान्तरागम्यः, स च धात्वर्थेषु नियोज्यं नियुञ्जानः सामर्थ्याद्धात्वर्थेऽस्य फलसाधनत्वं कल्पयतीति ।

मध्यमें अवान्तर व्यापार माना गया है । वैसे ही 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादि श्रुतियोंसे वेदान्तविचारमें मोक्षकामनावालेका अधिकार होनेसे मोक्ष ही विचारशास्त्रोंका मुख्य फल है, परन्तु वह आत्मज्ञानके बिना अनुपपन्न है, अतः ब्रह्मज्ञानमध्यवर्ती अवान्तर व्यापार मानना चाहिए, यह तात्पर्य है ।]

शङ्का—लिङादिप्रत्ययका अर्थ इष्टसाधनता नहीं है, किन्तु नियोग (कार्य) ही है, जो कि किसी दूसरे प्रमाणसे नहीं जाना जा सकता । और वह—लिङादिका अर्थ—नियोग (अपूर्व) रूपी धातुके अर्थ यागादिमें अधिकारीको नियुक्त करता हुआ सामर्थ्यसे धात्वर्थमें फलसाधनताकी कल्पना करता है । [तात्पर्य यह है कि जैसे लोकमें लिङादिसे कार्यका ही बोध होता है, वैसे ही वेदमें भी कार्य ही लिङादिका अर्थ होगा । 'घटं कुरु' इत्यादि वाक्यके बिना कार्यकी प्रतीति नहीं होती, इसलिए 'अनन्यलभ्य' ही शब्दार्थ मानना चाहिए । इष्टसाधनत्व तो प्रत्यक्षदर्शनादिसे उत्पन्न व्याप्तिग्रहादि या आवापोद्वापसे भी गृहीत हो सकता है । परन्तु यज्ञ-यागादि कार्य क्षणभङ्गुर होनेसे कालान्तरभावी स्वर्गादिके कारण नहीं हो सकते, अतः 'यजेत' इत्यादि वैदिक लिङादिका अर्थ अपूर्वात्मक नियोग मानना चाहिए, जो स्वर्गादिकी प्राप्ति तक बना रहता है । इस प्रभाकरसिद्धान्तके अनुसार 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिवाक्योंका 'स्वर्गकी इच्छा रखनेवाले पुरुषकी कृतिका लक्ष्य और यागको विषय करनेवाला नियोग' इस रीतिसे अर्थबोध होता है । इसमें स्वर्गकामी नियोज्य अधिकारी और याग विषय सिद्ध होता है । यदि याग अभीष्ट स्वर्गका हेतु न हो, तो स्वर्गकामीके प्रति याग निर्दिष्ट नियोगका विषय नहीं हो सकता । इसलिए 'यजेत' इत्यादि लिङ्से नियोग अनुपन्न होता हुआ याग और स्वर्गमें कार्यकारणभावकी कल्पना करता है । इस प्रकार प्रभाकर इष्टसाधनत्वको लिङ्का अर्थ नहीं मानता ।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतत्सारम्, अनुपपत्त्यभावात्। किं धात्वर्थस्य फलसाधनत्वमन्तरेण नियोगस्य स्वरूपमनुपपन्नमुत तत्प्रवर्तकत्वमनुपपन्नम् ? नाऽऽद्यः, असत्यपि फले नित्य-नैमित्तिक-नियोगस्वरूपस्य सत्त्वात्। द्वितीयेऽपि किं नियोगः फलकामनामपेक्ष्य प्रवर्तकः उत स्वयमेव प्रवर्तकः ? आद्ये फलकामनैव प्रवर्तयतु किं नियोगेन ? प्रत्यक्षादिषु फलकामनायाः प्रवर्तने स्वातन्त्र्यदर्शनात्। द्वितीये नदीवेगादिवन्नियोगः फलकामनारहितमपि पुरुषं बलात् प्रवर्तयेत्। तथा च तत्प्रवर्तकत्वं धात्वर्थस्य

समाधान—यह मत युक्तियुक्त नहीं है, कारण कि यहांपर अनुपपत्ति नहीं है अर्थात् नियोगकी अन्यथा भी उपपत्ति हो सकती है। [अनुपपत्तिके निरासके लिए विकल्प करते हैं—] क्या यजादि धातुओंके अर्थ यागादिके फल—स्वर्गादि—के कारणके बिना लिङर्थ नियोगका स्वरूप ही नहीं बन सकता ? या उस नियोगमें धात्वर्थ यागादिमें प्रवर्तकत्व नहीं बन सकता ? अर्थात् यागमें स्वर्गकारणत्वग्रहके बिना नियोग यागादिमें प्रवृत्ति नहीं करा सकता ? प्रथम कल्प युक्त नहीं है, क्योंकि फल न रहते हुए भी नित्य, नैमित्तिक विधिस्थलोंमें नियोगका स्वरूप बना ही रहता है। ['राहूपरागे स्नायात्, अहरहः सन्ध्यामुपासीत' (सूर्य-चन्द्रग्रहणमें स्नान करना चाहिए, इत्यादि अथवा प्रतिदिन सन्ध्योपासन करना चाहिए) इत्यादि नित्य विधियोंमें किसी फलविशेषका श्रवण नहीं है और लिङर्थ नियोगका स्वरूप विद्यमान है, इससे धात्वर्थका फलविशेषसे सम्बन्ध होनेपर ही नियोगका स्वरूप बनेगा, ऐसा नहीं माना जा सकता।] दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस कल्पमें क्या नियोग फलकी इच्छासे ही प्रवृत्ति कराता है ? अथवा स्वयं [कामनाकी अपेक्षा न रखकर ही] प्रवर्तक है ? प्रथम पक्षके माननेमें तो फलकामना ही प्रवृत्ति करा देगी, अतिरिक्त नियोगसे क्या प्रयोजन ? [प्रत्यक्ष आदि स्थलमें फलकामनाको स्वतन्त्ररूपसे प्रवर्तकत्व देखा गया है। घटादिके प्रत्यक्ष दर्शनसे जलाहरणादि कामनासे 'कुरु कार्यम्' इत्यादि नियोगके बिना भी जलाहरणादिमें प्रवृत्ति हो जाती है।] यदि स्वयं प्रवर्तक है, ऐसा दूसरा पक्ष मानो, तो नदीवेगके तुल्य फलकी इच्छा न रखनेवाले पुरुषको भी जबर्दस्ती यज्ञ-यागादिमें प्रवृत्त करेगा। [जैसे नदीका वेग बह जानेकी इच्छा न रखनेवालेको भी बहा ले जाता है, वैसे ही नियोग हठात् सबको कार्यमें प्रवृत्त कर देगा।] इससे निष्कर्ष यह निकला कि धात्वर्थ यागादिमें स्वर्गादि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फलसाधनत्वाभावेऽपि उपपन्नम्। अन्यथा नदीवेगोऽपि फलसाधने प्रवर्तयेत्। नियोगमात्रस्य धात्वर्थफलसम्बन्धाकल्पकत्वेऽपि फलकामिना प्रमीयमाणो नियोगस्तत्कल्पकः इति चेत्,

नः; अत्राऽपि तयोः सम्बन्धमन्तरेणाऽनुपपत्त्यभावात्। न तावत् काम्यफलस्य धात्वर्थसाध्यत्वमन्तरेणाऽधिकारिविशेषणत्वमनुपपन्नम्? जीवनादीनामसाध्यानामपि 'यावज्जीवं जुहुयात्' इत्यादिष्वधिकारिविशेषणत्वदर्शनात्। असाध्यस्वभावानां तथात्वेऽपि साध्यस्वभावस्य फलस्याऽधिकारिविशेषणत्वं धात्वर्थसाध्यतया विनाऽनुपपन्नमिति चेत्, नः; किं साध्यस्वभावस्येत्यत्र साध्यशब्देन धात्वर्थसाध्यत्वं विवक्षितम् उत साध्यत्वमात्रम्? आद्ये कल्प्य-

---

फलके प्रति कारणताकी प्रतीति न होनेपर भी नियोग पुरुषकी प्रवृत्ति करा सकता है। अन्यथा—यदि ऐसा न मानो, तो—नदीका वेग भी किसी अभीष्ट फलके होनेपर ही प्रवृत्ति करावेगा। [परन्तु ऐसा है नहीं, अतः प्रभाकर-सिद्धान्त सङ्गत नहीं है।]

शङ्का—यद्यपि सामान्यतः नियोग (साधारण धात्वर्थ) तथा अभीष्ट फल दोनोंके परस्पर कार्यकारणभावरूप सम्बन्धकी कल्पना करनेवाला नहीं बन सकता, तथापि स्वर्गादि फलकी इच्छा रखनेवाले पुरुषसे जाना गया नियोग [अर्थात् पुरुषके प्रति 'स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि श्रुतिवाक्यमें आए हुए लिङ् द्वारा उपस्थित कराया गया नियोग तो धात्वर्थ यागादिका स्वर्गादि फलके साथ कार्यकारणभाव सम्बन्धमें नियामक अवश्य ही होगा।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थलमें भी उनका सम्बन्ध न होनेपर अनुपपत्ति नहीं है, कारण कि कामनाके विषय स्वर्गादि फलोंको धात्वर्थ यागादिसे सिद्ध न मानकर अधिकारीके विशेषण होनेमें कोई अनुपपत्ति—बाधा—नहीं है, क्योंकि 'जबतक जीवन है तबतक हवन—अग्निहोत्र—करे' इस वाक्यमें किसी भी धातुके अर्थसे सिद्ध न होनेवाले जीवन आदि भी अधिकारीके विशेषण होते हुए देखे गये हैं। जीवनादि जो साध्य फल नहीं हैं, उनके विषयमें ऐसा माननेपर भी साध्यस्वभाव—सिद्ध होनेवाले—स्वर्गादि फलोंका तो धात्वर्थसे उत्पन्न होनेवाले माने बिना अधिकारीका विशेषण होना सङ्गत नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्या साध्यस्वभाव यहांपर साध्यपदसे धात्वर्थ द्वारा साध्य—सिद्ध होने लायक—अर्थ लेना है या केवल साध्यत्व ही? प्रथमपक्ष माननेमें कल्प्य और कल्पकके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पकयोरभेदात् आत्माश्रयापत्तिः। द्वितीयेऽपि किं स्वर्गस्य साध्यत्वं शब्दात् प्रतीयते उत अर्थात् ? नाऽऽद्यः, वाचकपदाभावात्। न द्वितीयः, कल्पकाभावात्। नहि स्वर्गस्य साध्यत्वमन्तरेण किञ्चिदनुपपन्नं पश्यामः। स्वर्गस्य साध्यत्वाभावे कामियोगोऽनुपपन्न इति चेत्, एवमपि नाऽस्याऽधिकारिविशेषणत्वम्, यद्बलात् धात्वर्थस्य साध्यता कल्प्येत। यथा 'शुष्कदण्डी देवदत्तः' इत्यत्र दण्ड एव देवदत्तविशेषणम्, शुष्कत्वं दण्डविशेषणम्, तथा

अभेद होनेसे आत्माश्रय दोष हो जायगा। [अर्थात् जिस धात्वर्थसे फलका कार्यकारणभाव सम्बन्ध सिद्ध करना अभीष्ट है, उसी धात्वर्थसे फलमें तुम साध्यत्व मानते हो, इस परिस्थितिमें धात्वर्थसाध्यत्व ही कल्प्य-कल्पक कोटिमें आ जाता है। अथ च स्वर्गादि यागसाध्य है, इस प्रकार स्वर्गादिमें यागसाध्यत्वकी सिद्धि यागमें स्वर्गादिजनकताकी सिद्धिके अनन्तर ही होगी और यागमें स्वर्गजनकत्वकी सिद्धि स्वर्गमें यागसाध्यत्वकी सिद्धिके अनन्तर ही हो सकती है।] साध्यत्वसामान्यपक्षमें भी क्या स्वर्गमें साध्यत्वकी प्रतीति उसके वाचक किसी शब्दके द्वारा होती है ? अथवा अर्थात् होती है ? प्रथम कल्प युक्त नहीं है, कारण कि कोई वाचक पद यहांपर नहीं है। दूसरा भी ठीक नहीं है, कारण कि उस अर्थका कोई कल्पक नहीं है। [वाचक पदके बिना उसके अर्थकी प्रतीति अध्याहार या अनुपपत्तिमूलक आक्षेपसे ही हो सकती है। जैसे—'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि स्थलमें पीनत्वकी अनुपपत्ति रात्रिभोजनकी अर्थात् प्रतीति करा देती है। वैसे ही 'प्रविश' या 'पिण्डीम्' इत्यादि स्थलोंमें क्रियाकारकभावकी अनुपपत्तिसे ही शब्दाध्याहार अथवा अर्थाध्याहार द्वारा 'गृहम्' या 'भुङ्क्ष्व' इत्यादि अर्थोंकी कल्पना होती है। इस प्रकार प्रकृतमें अनुपपत्ति आदिका अभाव दिखलाते हैं—] यदि स्वर्ग साध्य न भी माना जाय, तो भी हम कोई अनुपपत्ति यहांपर नहीं पाते। स्वर्गको साध्य न माननेपर स्वर्गादिकी कामना रखनेवाले पुरुषके प्रति नियोग नहीं हो सकता, इससे उसे साध्य मानेंगे, ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि ऐसा माननेपर भी स्वर्गादिका अधिकारीका विशेषण होना सिद्ध नहीं है, जिसके बलपर स्वर्गादिमें धात्वर्थ यागादिके साध्यभावकी कल्पना की जा सके। जैसे 'देवदत्त शुष्क—सूखे हुए—दण्डको धारण करनेवाला है' इस वाक्यमें दण्ड देवदत्तका विशेषण है और शुष्क दण्डका विशेषण है, वैसे ही ['स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिवाक्यसे]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'स्वर्गकामोऽधिकारी' इत्यत्राऽपि कामनैवाऽधिकारिविशेषणम्, स्वर्गः कामनायाः विशेषणम्, कामनाद्वारा स्वर्गस्याऽधिकारिविशेषणत्वं स्यादिति चेत्, तथापि न तस्य धात्वर्थसाध्यता सिध्यति, 'अध्येतुकामो भैक्ष्यं चरेत्' इत्यत्र साध्यस्वभावस्याऽधिकारिविशेषणस्याऽप्यध्ययनस्य धात्वर्थभूतभैक्ष्यचरणसाध्यत्वादर्शनात्। 'द्रव्यकामो राजानं धर्मकामो यज्ञान् उपसेवेत' इत्यादौ वैपरीत्यमपि दृष्टमेवेति चेत्, तर्हि स्वर्गतत्कामनयोरधिकारिविशेषणत्वमेव दुर्निरूपम्। तथाहि—न तावत् स्वर्गकामपदं दर्शपूर्णमासनियोगस्य पुरुषेणाऽयोगं व्यवच्छिनत्ति, नित्यविधिबलादेवायोगव्यवच्छेदस्य सिद्धेः। नाऽपि तदन्ययोगव्यवच्छेदकम्, अस्वर्गकामस्य दर्शपूर्णमासव्यवच्छेदे नित्यविधिविरोधात्। नित्यनियोगाद् भिन्नो हि काम्य-

'स्वर्गकी कामनावाला अधिकारी है' यहांपर कामना—इच्छा—ही अधिकारीका विशेषण है और स्वर्ग इच्छाका विशेषण है। यदि कामनाके द्वारा स्वर्ग अधिकारीका विशेषण मान लिया जाय, तो भी वह धात्वर्थके द्वारा साध्य नहीं हो सकता। [अधिकारीके विशेषणके साध्य होनेमें व्यभिचार दिखलाते हैं—] 'अध्येतुकामो भैक्ष्यं चरेत्' (अध्ययनकी इच्छा रखनेवाला भिक्षाचरण करे) इस वाक्यमें यद्यपि साध्यस्वभाव अध्ययन अधिकारीका [उक्त रीतिसे] विशेषण है, तो भी भिक्षाचरणरूपी (भीख मांगनारूप) प्रकृत धात्वर्थका वह साध्य नहीं पाया जाता है। 'द्रव्यकी इच्छासे राजाका और धर्मकी इच्छासे यज्ञोंका सेवन करे' इत्यादि वाक्योंमें पूर्वोक्त दृष्टान्तसे वैपरीत्य [अर्थात् परम्परारूपसे अधिकारीके विशेषणभूत द्रव्य, धर्म आदि प्रकृत धात्वर्थ सेवनादिके साध्य] भी देखा ही गया है, यदि यह कहा जाय, तो स्वर्ग तथा स्वर्गकी इच्छा ये दोनों अधिकारीके विशेषण सिद्ध नहीं किये जा सकते, क्योंकि प्रथम तो 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यमें आया हुआ स्वर्गकामपद दर्शपूर्णमास-नियोगके अधिकारी पुरुषके साथ सम्बन्धाभावकी व्यावृत्ति नहीं करता, क्योंकि उक्त स्थलमें नित्यविधिकी सामर्थ्यसे ही सम्बन्धाभावकी व्यावृत्ति सिद्ध है। और उससे अन्यके साथ सम्बन्धाभाव [अर्थात् स्वर्गकाम अधिकारीका ही दर्शपूर्णमाससे सम्बन्ध है, दूसरेका नहीं] का भी बोधक नहीं है, क्योंकि स्वर्गकी कामना न रखनेवाले अधिकारी पुरुषका दर्शपूर्णमाससे सम्बन्धाभाव बोधन करनेसे तो नित्यविधिका विरोध होगा। नित्य नियोगसे काम्य नियोग भिन्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियोगः । तत्राऽयोगान्ययोगव्यवच्छेदे नाऽस्त्युक्तदोष इति चेद्, मैवम्; यद्यपि यावज्जीववाक्येन बोध्यो नित्यनियोगः, काम्यनियोगश्च स्वर्गकामवाक्यबोध्यः, तथापि साङ्गदर्शपूर्णमासनियोगस्योभयत्रैकत्वेन प्रत्यभिज्ञानान्नाऽस्ति भेदः । नित्यकाम्यविभागस्त्वधिकारमात्रभेदादुपपद्यते । न च अधिकारिविशेषणत्वाभावे स्वर्गकामपदवैयर्थ्यं शङ्कनीयम्, यथा 'दण्डी प्रैषानन्वाह' इत्यादौ ऋत्विजः प्रैषानुवक्तुः प्राप्तत्वात् दण्डिविशेषणपरं वाक्यं यत्प्रैषानन्वाह तद्दण्डी सन्निति, तथा स्वर्गकामपदमपि विशेषणस्वर्गपरम् । तदुक्तं पार्थसारथिना—

उस काम्य नियोगमें अयोगकी—सम्बन्धाभावकी—और अन्ययोगकी—दूसरेके साथ सम्बन्धकी—व्यावृत्ति माननेमें कहा गया (नित्यविधिविरोध) दोष नहीं आता, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यद्यपि नित्य नियोग—नित्य विधि—'यावज्जीवं जुहुयात्' इत्यादि वाक्यगत यावज्जीव—जीवनपर्यन्त—पदसे सूचित होता है और काम्यविधान 'स्वर्गकाम' पदसे ज्ञात होता है तथापि अपने अङ्गोंके सहित दर्शपूर्णमास नियोगविधिका काम्य तथा नित्य दोनों स्थलोंमें ['स्वर्गकामो यजेत' इस प्रकरणमें भी और 'यावज्जीवं जुहुयात्' इस नित्यविधिमें] भी एक-सा ही प्रत्यभिज्ञान होनेसे [नित्य और काम्य दोनों स्थलोंमें] कोई भेद नहीं है । ऐसे स्थलोंमें नित्य तथा काम्य, इस प्रकारका विभाग तो केवल अधिकारभेदसे ही है । और यह भी कहना उचित नहीं है कि स्वर्ग या उसकी इच्छाको अधिकारीका विशेषण न माननेसे स्वर्गकामपद व्यर्थ हो जायगा, कारण कि जैसे 'दण्डधारण करता हुआ प्रैषोंका अनुवदन करे' इत्यादि वाक्योंमें प्रैषोंका अनुवदन करनेवाले ऋत्विक्के प्राप्त होनेसे वह वाक्य दण्डिविशेषणपरक माना जाता है अर्थात् 'प्रैषका अनुवदन दण्डी होता हुआ ही करे' । [तात्पर्य यह है कि प्रैषानुवचन तो 'मैत्रावरुणः प्रेष्यति चान्वाह' इस वाक्यसे सिद्ध ही है । 'दण्डी प्रैषानन्वाह' इस वाक्यका प्रैषानुवचनकर्ताके दण्डविशेषणमात्रमें तात्पर्य है, इससे दण्डमें अधिकारिविशेषणत्व नहीं आता ।] वैसे ही प्रकृतमें स्वर्गकामपद भी केवल विशेषणीभूत स्वर्गतात्पर्यक ही है । [इसका विशिष्ट पुरुषके अधिकारके बोधनमें तात्पर्य नहीं है ।] इस विषयमें पार्थसारथिने कहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अपेक्षित्वाद्भाव्यस्य कामशब्दो हि तत्परः ।
विशेषणप्रधानत्वं दण्डीत्यादिषु दर्शितम् ॥' इति ।

स्वर्गकामपदस्य फलमात्रपरत्वेऽप्यर्थादधिकारी लभ्यते । धात्वर्थस्य यागस्य स्वर्गसाधनत्वे लिङादिप्रत्ययैर्बोधिते सति मदपेक्षितफलसाधनमिदं कर्मेति कर्मण्यधिकारं पुरुषः स्वयमेव प्रतिपद्यते । एवं च फलपरं स्वर्गकामपदं साधनवचनेनाऽन्विताभिधानमर्हति, तच्चेष्टसाधनतायास्तव्याद्यर्थत्वे

भाव्यकी—यागादिसे जिसकी भावना—उत्पादना—करनी हो उसकी—अपेक्षा होती है, इस अपेक्षासे कामशब्द अर्थात् स्वर्गकामपद दिया गया है, जो कि भाव्य—स्वर्गादिरूप—अर्थका बोधन करता है, क्योंकि [इसमें शङ्का होती है कि स्वर्गकामपद तो धर्मी पुरुषविशेषका वाची है, उसका तात्पर्य धर्ममें—स्वर्गादिमें—कैसे होगा ? दृष्टान्त द्वारा उक्त शङ्काका उत्तरार्द्धसे वारण करते हैं—] 'दण्डी' इत्यादि पदोंमें विशेषणकी—धर्मकी—प्रधानता देखी गयी है । [यहांपर दण्डीपदसे 'दण्डी प्रैषानन्वाह' इत्यादि वाक्यगत 'दण्डी' पद लेना चाहिए, उसका तात्पर्य दण्डरूप विशेषणमें ही है । यह पहले ही कह आये हैं ।]

[ऐसा माननेसे तो अधिकारीका लाभ नहीं होगा, इस आशङ्काके अभिप्रायसे समाधान करते हैं—] यद्यपि स्वर्गकामपदका विशेषणान्वित फलमात्रका बोधन करनेमें तात्पर्य है, तथापि अधिकारी अर्थतः प्राप्त हो जाता है । लिङादिप्रत्ययोंके द्वारा धात्वर्थ यागमें स्वर्गकी कारणताका बोध होनेपर मेरे अभीष्ट फलको उत्पन्न करनेवाला यह ['यजेत' इत्यादि श्रुतिबोधित यागादि] कर्म है, इतना ज्ञान होनेपर ही पुरुष उस कर्ममें अपना अधिकार स्वयं जान जाता है । इस निर्णयके अनुसार फलबोधनके तात्पर्यसे प्रयुक्त स्वर्गकामपद साधनवचनके साथ अन्वित होकर ही अपने अर्थको कहता है । [तात्पर्य यह है कि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें पहले लिङादि प्रत्यय द्वारा यागमें इष्टसाधनत्वकी प्रतीतिके अनन्तर याग किसका इष्टसाधन है, इस जिज्ञासाका निराकरण स्वर्गकामपद करता है । इस स्वर्गकामपदका स्वर्गबोधनमें तात्पर्य होनेसे उसको अपने साधक हेतुकी अपेक्षा होती है । इस आकाङ्क्षाकी ही 'यजेत' आदि लिङन्तपदसे पूर्ति होती है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिध्यति, न नियोगस्य तदर्थत्वे । तस्मात् न नियोगो लिङादिप्रत्ययार्थः ।

अन्ये पुनर्धात्वर्थस्वर्गयोः साध्यसाधनसम्बन्धावगममेवमाहुः—विषय-नियोज्याभ्यां विशिष्टो नियोगस्तावद्विधिवाक्यादवगम्यते । विषयो यागः, नियोज्यः स्वर्गकामः, तयोश्च कर्मकर्तृरूपेण परस्परान्वयो नियोगनिष्पत्त्य-न्यथानुपपत्त्याऽवगम्यते । अन्वयाभावे नियोज्येन विषयेऽननुष्ठीयमाने तदनुष्ठानसाध्यो नियोगो न निष्पद्यते । तत्र यथा दण्डिनाऽन्वीयमानस्य दण्डेनाऽप्यन्वयस्तथा स्वर्गकामविशिष्टनियोज्येनाऽन्वीयमानस्य यागस्य

अतः विशेषणीभूत स्वर्गादिपरक पद भी इष्टसाधनताके बोधक 'यजेत' आदि पदोंके अर्थसे अन्वित अर्थका ही बोध कराते हैं । अतः 'यजेत' आदि लिङ्का वाच्य अर्थ नियोगरूप नहीं हो सकता ।] और स्वर्गकामादि पदोंकी साधन-वचनके साथ अन्वित अर्थका बोध करानेकी योग्यता तभी सिद्ध हो सकती है, जब इष्टसाधनत्व ही 'तव्य' आदि प्रत्ययोंका अर्थ मान लिया जाय । नियोगको उन प्रत्ययोंका अर्थ माननेमें उक्त योग्यता सिद्ध नहीं होगी । इस निर्णयसे नियोग लिङादिका अर्थ नहीं हो सकता ।

दूसरे वादी धात्वर्थ यागादि और स्वर्गादिका कार्यकारणसम्बन्ध निम्न प्रकारसे सिद्ध करते हैं—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिवाक्योंसे विषय और नियोज्य—अधिकारी—इन दोनोंसे विशिष्ट ही नियोग प्रतीत होता है । विषय है—याग, और स्वर्गकी इच्छा करनेवाला है—नियोज्य, इन दोनोंका कर्म और कर्ता रूपसे परस्पर अन्वय, नियोगनिष्पत्तिकी अन्यथा उपपत्ति न हो सकनेसे, प्रतीत होता है । [अतः विशिष्ट ही नियोग माना जायगा, एवं नियोज्य और विषयका परस्पर क्रियाकारकभाव सम्बन्ध अवश्य होगा ।] यदि उनका परस्पर अन्वय नहीं माना जाय, तो नियोज्य पुरुषके द्वारा विषय यागादिका अनुष्ठान न किये जानेपर उसके–नियोज्य पुरुषके–यागादिका अनुष्ठान करनेपर सिद्ध होनेवाला नियोग सिद्ध ही नहीं हो सकेगा अर्थात् अनुष्ठाताके बिना यागकी असिद्धि और याग न होनेसे नियोगकी निष्पत्ति होना असम्भव है । 'दण्डी प्रैषानन्वाह' इस वाक्यमें जैसे विशिष्ट दण्डीके साथ अन्वयको प्राप्त होनेवाले प्रैषानुवचनका दण्डके साथ भी अन्वय होता है, वैसे ही स्वर्गकामरूपी विशिष्ट नियोज्यके साथ अन्वयको प्राप्त होनेवाले यागके विशेषण स्वर्गका भी अन्वय होता है । [अर्थात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषणीभूतस्वर्गेणाऽप्यन्वयो भवति। स चाऽन्वयो गुणप्रधानभावाद्ते न सम्भवति। ततः स्वर्गस्य प्राधान्येन यागस्य गुणभावेनाऽन्वये सति तयोः साध्यसाधनसम्बन्धः स्यादिति।

नैतत्सारम्, उक्तरीत्या कर्तृविशेषणभूतजीवनगृहदाहादिनाऽपि यागस्याऽन्वयप्रसङ्गात्। अस्तु को दोष इति चेद्, उच्यते—तत्र किं जीवनादेर्धात्वर्थं प्रत्यङ्गत्वेनाऽन्वयः किं वा प्राधान्येन? आद्ये नित्यदर्शपूर्णमासाधिकारिविशेषणस्य जीवनस्य दर्शपूर्णमासाङ्गत्वेन तद्विकृतौ सौर्यादावप्यन्वयः प्रसज्येत। तथाहि—'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' इत्यनेन विहितस्य कर्मणो दर्शपूर्णमासविकृतित्वं निर्वपतिचोदनासामर्थ्यात् सिद्धम्। तत्र 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' इति अतिदेशेन प्रकृतिभूतदर्शपूर्णमासाङ्गानां

विशेषणके साथ अन्वय विशिष्ट अन्वयके बिना नहीं हो सकेगा] और वह अन्वय गुणप्रधानभावके अतिरिक्त [समप्राधान्य] सम्बन्धसे नहीं हो सकता। इससे स्वर्गका प्राधान्यसे और यागका गुणभावसे अन्वय माननेमें इन दोनोंका साध्यसाधन अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध ही होगा। [स्वर्ग अभीष्ट है, अतः उद्देश्य होनेसे कर्म होगा और याग क्रियास्वरूप होनेसे कारण होगा, इस प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यसे याग द्वारा अपने अभीष्ट स्वर्गकी साधना करे, ऐसा नियोग बोधित होता है।]

आपका यह मत युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि [विशेषणान्वयके बिना विशिष्टान्वय नहीं हो सकता, यह माननेमें अतिप्रसङ्ग दोष दिखलाते हैं—] आपकी उक्त रीतिसे विशेषणान्वयको विशिष्टान्वयके प्रति प्रयोजक माननेसे कर्ताके प्रति विशेषणीभूत जीवन, गृह तथा दाह आदिसे भी यागका अन्वय प्राप्त हो जायगा। यदि अन्वय हो जाय, तो भी क्या दोष है? यदि ऐसा कहो, तो दोष कहते हैं—जीवन आदिका धात्वर्थके साथ गुणभावसे अन्वय है? या प्राधान्यसे है? यदि प्रथम कल्प मानो, तो दर्शपूर्णमासका अङ्ग होनेसे उसकी विकृति सौर्यादिमें नित्य दर्शपूर्णमासके अधिकारीके प्रति विशेषणीभूत जीवनका भी अन्वय प्राप्त हो जायगा, क्योंकि ब्रह्मतेजकी इच्छा करनेवाला 'सौर्य चरुका निर्वाप करे' इस वाक्यसे विहित कर्म निर्वपनरूप चोदनाके बलसे दर्शपूर्णमासका विकृति याग है, यह सिद्ध है। उस स्थलमें 'प्रकृतिके तुल्य विकृति करनी चाहिए' इस अतिदेशसे प्रकृतिस्वरूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकृतौ प्राप्तिदर्शनात्, तदविशेषाज्जीवनमपि प्राप्नुयात्ततो यावज्जीवं सौर्यं चरुं निर्वपेदिति स्यात्। न च काम्याधिकारेण नित्याधिकारस्य बाधाद-दोष इति वाच्यम्; यथा प्रकृतौ नित्यकाम्याधिकारस्तथा विकृतावपि प्रसङ्गात्। द्वितीये जीवनादेः प्राधान्येन स्वर्गादिवत्साध्यत्वं स्यात्। तस्मात् फलविशेषपरं स्वर्गकामपदं सामान्येन श्रेयःसाधनत्वविध्यभिधायिना लिङादिपदेनाऽन्विताभिधानं करोति।

ननु यदि लिङादिप्रत्ययैरिष्टसाधनता विधीयते, तदा 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यत्र तृतीया न सिध्येत्, तिङ्-कृत्-तद्धित-समासैरनभिहिते करणे कारके तृतीयाविधानात्।

नाऽयं दोषः, धात्वर्थस्य यागसामान्यस्य कारणत्वेऽभिहितेऽपि याग-

---

दर्शपूर्णमासके अङ्गोंकी विकृतिमें प्राप्ति देखी गई है। इसमें कोई विशेष न होनेसे जीवन भी [विकृतिमें] प्राप्त होगा। इससे 'जीवनपर्यन्त सौर्य चरुका निर्वाप करे' ऐसा प्रसङ्ग आ जायगा। और काम्यविधानसे नित्याधिकारका बाध हो जायगा। [यदि 'सौर्यं चरुम्' इत्यादि विधिमें भी यावज्जीवनका सम्बन्ध हो, तो इसमें भी नित्यविधित्व प्राप्त हो जायगा। अतः यहांपर यावज्जीवनका सम्बन्ध नहीं होगा।] इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, कारण कि जैसे प्रकृति याग (दर्शपूर्णमास) में नित्य और काम्य दोनोंका अधिकार है, वैसे ही विकृति यागमें भी दोनोंका अधिकार प्राप्त हो जायगा। [जीवनादिका प्रधानरूपसे धात्वर्थके साथ अन्वय है,] इस द्वितीय पक्षमें जीव-नादिके प्रधान होनेसे स्वर्गादिके तुल्य उनमें साध्यत्व प्राप्त हो जायगा। [अर्थात् जैसे स्वर्गादि यागसाध्य माने जाते हैं, वैसे ही जीवनादिको भी यागसाध्य मानना पड़ेगा।] इससे अर्थात् धात्वर्थके फलस्वरूप स्वर्गादिके सम्बन्धकी सिद्धि न होनेसे स्वर्गात्मक फलविशेषके तात्पर्यसे प्रयुक्त स्वर्गकामपद सामान्यतः इष्टसाधनत्वविधिके अभिधायक लिङादिपदसे अन्वित अर्थका अभिधान करता है।

शङ्का—यदि लिङादिप्रत्ययोंसे इष्टसाधनताका अभिधान होता है, तो 'ज्योतिष्टोमनामक यागसे यज्ञ करना चाहिए' इस वाक्यमें ज्योतिष्टोमपदसे तृतीया विभक्तिकी सिद्धि नहीं होगी, कारण कि तिङ्, कृत्, तद्धित और समाससे अभिहित न होनेवाले करणकारकमें तृतीयाका विधान होता है।

समाधान—उक्त दोष नहीं आता, क्योंकि सामान्य यागस्वरूप धात्वर्थकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषज्योतिष्टोमकरणत्वस्याऽनभिहितत्वात् । तत इष्टसाधनताया विधायकप्रत्ययार्थतायां न कोऽपि दोषः, तथा च 'मोक्षकामेन वेदान्ता विचारयितव्याः' इत्यनेन सूत्रवाक्येनाऽपि श्रेयोमात्रसाधनत्वे विचारस्याऽभिहिते सति अर्थात् श्रेयोविशेषो मोक्षो विचारशास्त्रप्रयोजनमिति लभ्यते । ब्रह्मजिज्ञासेति शब्देन विषयोऽपि सूचितः । यद्यपि समन्वयाध्यायेनैव विषयोऽवगम्यते चतुर्थाध्यायेन च प्रयोजनम्, तथापि प्रवृत्तिहेतुत्वात् प्रथमसूत्रेऽपि ते सूचनीये । तदेवं विषयप्रयोजनसद्भावात् शास्त्रमारम्भणीयमित्येतद्वर्णकतात्पर्यमिति सिद्धम् ।

इति श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीते विवरणोपन्यासे प्रथमं वर्णकं समाप्तम् ।

कारणताका [लिङ्के स्थानमें आए तिङ्प्रत्ययसे] बोध होनेपर भी यागविशेष ज्योतिष्टोमगत करणकारकत्वका अभिधान [उस लिङ्से] नहीं हुआ है । [अतः अनभिहित करणमें तृतीयाविभक्तिकी सिद्धि हो गई ।] इससे 'यजेत' आदि पदघटक विधायक लिङादि प्रत्ययोंका इष्टसाधनतारूप अर्थ माननेमें कोई भी दोष नहीं आता । इस प्रकार प्रकृतमें 'मोक्षकी इच्छावालेको वेदान्तशास्त्रोंका विचार करना चाहिए' इस सूत्रवाक्यसे भी विचार करना अभ्युदयमात्रका कारण है, ऐसा सूचित हो जानेपर अर्थात् सिद्ध हो जाता है कि श्रेयोविशेष मोक्ष विचारशास्त्रका प्रयोजन है । और ब्रह्मजिज्ञासापदसे विषय भी सूचित कर दिया गया है । यद्यपि समन्वयाध्यायसे ही विषयकी प्रतीति होती है । और चतुर्थ अध्यायसे प्रयोजनकी प्रतीति होती है, तथापि विचारप्रवृत्तिके हेतुभूत इन दोनोंकी सूचना प्रथम सूत्रमें भी आवश्यक है । [यहांपर सूत्रमें स्पष्ट क्यों नहीं कहा गया ? अथवा सूत्रके अनेकार्थक होनेका दोष होगा, इत्यादि शङ्काओंका अवकाश नहीं है, क्योंकि ये दोनों बातें सूत्रके लिए भूषण ही हैं । सूत्रोंका अर्थकी सूचना करना या बह्वर्थक होना ही लक्षण है, जैसा कि अभियुक्तोंने कहा है—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥']

इस प्रकार विषय तथा प्रयोजनके होनेसे विचारशास्त्रका आरम्भ अवश्य करना चाहिए, यही इस वर्णकका तात्पर्य है, यह सिद्ध हुआ ।

इति श्री पं० ललिताप्रसाद डबरालविरचित विवरणोपन्यास-
भाषानुवादका प्रथमवर्णक समाप्त ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बृहदारण्यकवार्तिकसार

अनुवादक—म० म० पं० श्रीहरिहरकृपालुजी द्विवेदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
आवृत्तिकी उपयोगिता	३७१	१
चित्तस्थैर्यके विधानकी उपयोगिता	३७५	१
सवासन विद्वान्‌की विध्यर्हता	३८०	१
कार्यार्थवादियोंके मतका अनुवादपूर्वक खण्डन	३८४	३
वेदके प्रामाण्यका प्रासङ्गिक समर्थन	३९३	१
'तत्त्वमसि' वाक्यमें प्रयुक्त 'तत्' और 'त्वम्' पदकी उपयोगिता ...	३९४	५
'तत्त्वमसि' वाक्यमें षष्ठीविभक्तिका आश्रयण नहीं हो सकता ...	३९६	१
वेदान्तवाक्योंकी अखण्डार्थकताका उपपादन	३९८	५
ब्रह्ममें पुरुषार्थत्वका उपपादन	४०२	१
वेदान्तवाक्योंमें ब्रह्मज्ञानोपायत्वका प्रतिपादन	४०४	३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वार्थकी, आभासके निराकरण द्वारा, समीचीन प्रतिपत्ति कराता है। 'तत्त्वमसि' यह वाक्य त्वंपदार्थको तत्पदार्थका स्वरूप बतलाता है। तत्पदसे प्रकृत जगज्जन्म आदिका कारण सदीक्षणकर्त्ता ब्रह्म विवक्षित है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'अदृष्टं द्रष्टृ·····अविज्ञातं विज्ञातृ', 'अजमजरममरम्', 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम-दीर्घम्' इत्यादि प्रसिद्ध ब्रह्म यहां तत्पदार्थ है। अज आदि शब्दोंसे जन्मादि भाव-विकारकी निवृत्ति कही गई है। अस्थूल आदि शब्दोंसे स्थौल्यादि द्रव्यधर्मकी निवृत्ति और विज्ञान आदि शब्दोंसे चैतन्य प्रकाशात्मक कहा गया है। जैसे ब्रह्म सकल संसारधर्मोंसे रहित अनुभवात्मक तत्पदार्थ वेदान्तमतमें प्रसिद्ध है वैसे ही त्वंपदार्थ प्रत्यगात्मा श्रोता भी देहसे लेकर प्रत्यगात्मरूपसे सम्भाव्यमान चैतन्य-तक निश्चित है।

अब जिन पुरुषोंको तत् और त्वं पदार्थमें अज्ञान, संशय और विपर्यय हैं, उनको 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थकी प्रमा नहीं होती, क्योंकि पदार्थज्ञानपूर्वक वाक्यार्थज्ञान होता है, अतः पदार्थज्ञानके लिए शास्त्र तथा युक्तिका अभ्यास आवश्यक है। यद्यपि ज्ञातव्य आत्मा निरंश है, तथापि बहुत पदार्थ आरोपित हैं, जैसे देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदन आदि, इसलिए एक-एकके अवधानसे एक-एक आरोपित अंशकी निवृत्ति की जाती है; इसलिए शास्त्र और युक्तिका अभ्यास अपेक्षित है, एवं आत्मानुभवसे पूर्वमें ही अपेक्षित है। जिन पुरुषरत्नोंमें अज्ञान आदि प्रतिबन्धक नहीं हैं, उन महात्माओंको 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य एक-बार श्रवणसे ही स्वार्थका बोधन कराता है। अतएव उनके लिए आवृत्त्यादि निरर्थक ही हैं। एक बार उत्पन्न हुई ब्रह्मात्मप्रतिपत्ति अविद्याको निवृत्त करती ही है, अतः इसमें कोई क्रम नहीं है। यद्यपि यह ठीक है, तथापि ऐसी प्रतिपत्ति तो किसीको होती नहीं है, क्योंकि आत्मामें दुःखित्व आदिकी प्रतीति प्रबल है, अतः कोई भी आत्मामें दुःखाभावकी प्रतीति नहीं कर सकता; नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे देहाभिमान मिथ्या है वैसे ही दुःखाभिमान भी मिथ्या है और इसका प्रत्यक्ष है—। देहके दाहसे 'अहं दग्धः' यह प्रतीति होती है, पर 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः' इत्यादि श्रीभगवद्वाक्यसे आत्मामें दाह आदि नहीं हो सकते, किन्तु देहके दाहका आत्मामें आरोप कर 'अहं दग्धः' यह मिथ्या प्रतीति होती है। फलितार्थ यह है कि जिस पुरुषको 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ब्रह्मात्मा-नुभव शीघ्र न हो, उसके लिए आवृत्ति आवश्यक है और जिसको 'तत् और त्वम्'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्रान्तांशानां निवर्त्यानां बाहुल्येन पदार्थयोः ।
क्रमेण तन्निवृत्त्यर्थमावृत्तिस्तत्र युज्यते ॥ ३०२ ॥
पदार्थयोः शोधितयोरेकतां नेत्रवद्वचः ।
सकृदेवाऽवगमयेत्तत्राऽऽवृत्तिर्निरर्थिका ॥ ३०३ ॥

पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान है, उसको उक्त वाक्यसे उक्त अर्थका बोध हो जाता है, इसलिए ऐसे पुरुषके लिए आवृत्ति निरर्थक है । सारांश यह है—तत् और त्वम् पदार्थके शोधनके लिए अभ्यासकी आवश्कता है, जिसको तत्त्वंपदार्थका परिशुद्ध ज्ञान है, उसके लिए शास्त्र तथा युक्तिके अभ्यासकी आवश्यकता नहीं है ॥३०१॥

'भ्रान्तांशानाम्' इत्यादि । यद्यपि आत्मा निरंश है, तथापि कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक कल्पित धर्म आत्मामें भ्रान्तिसे प्रतीत होते हैं, इसलिए एक-एक धर्मके निरासके लिए एक-एक अवधान आवश्यक है अर्थात् क्रमसे—एकावधानसे—एक धर्मका निराकरण किया, द्वितीयावधानसे द्वितीय धर्मका निराकरण किया, इस प्रकार जितने कल्पित धर्म तत्त्वंपदार्थमें प्रतीत होते हैं, उन सबके निराकरणके लिए उतने अभ्यास तो आवश्यक हैं, सब धर्मोंका निराकरण करनेपर शुद्धात्मा ज्ञात होता है ॥ ३०२ ॥

पदार्थशुद्धिके अनन्तर ब्रह्मात्मैक्यबोध एक बारके श्रवणसे होता है, इसमें दृष्टान्त कहते हैं—**'पदार्थयोः'** इत्यादिसे ।

तत् और त्वम् पदार्थके परिशोधनके बाद सकृत् प्रयुक्त 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य जीवब्रह्मकी एकताका बोध कराते हैं, अतः इस कार्यके लिए आवृत्ति निरर्थक (निष्प्रयोजन) है । एकताके ग्रहणमें दृष्टान्त देते हैं—**'नेत्रवत्'** । जैसे शुक्लत्व आदि गुण द्रव्यातिरिक्त हैं । इसके लिए उपपत्तिकी आवश्यकता है, क्योंकि सांख्यादि शास्त्रकार शुक्लादि गुणविशिष्टको ही द्रव्य मानते हैं, अतिरिक्तको नहीं और नैयायिक गुणोंको द्रव्यसे अतिरिक्त मानते हैं । इसके लिए स्वस्वमतानुसारी युक्तिकी अपेक्षा होती है । अभेदके साधनके लिए युक्तिकी अपेक्षा होनेपर भी 'शुक्लो घटः' इत्यादि शुक्ल और घटके अभेदकी प्रतीति नेत्रसे ही हो जाती है । फिर एकताके प्रत्यक्षके लिए युक्ति आदिकी अपेक्षा नहीं है, वैसे ही जीवब्रह्माभेदके प्रमाण आदि द्वारा ज्ञात होनेपर 'तत्त्वमसि'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रत्नतत्त्वपरीक्षायामपि सूक्ष्मार्थलक्षणे ।
नेत्रस्य प्रसरायैव स्यादावृत्तिर्न दृष्टये ॥ ३०४ ॥
प्रसृते तु क्षणेनैव चक्षुस्तत्त्वं प्रपश्यति ।
एवं जीवस्य वाक्येन मीयते ब्रह्मता क्षणात् ॥ ३०५ ॥
नित्यापरोक्ष्यं जीवस्य तदेव ब्रह्मतां वचः ।
अनुभावयते तत्र नाऽऽवृत्तिरनुभूयते ॥ ३०६ ॥

आदि वाक्यसे तत्क्षण ही उनके अभेदकी प्रतीति हो जाती हैं । एतदर्थ आवृत्तिकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३०३ ॥

यहाँपर यह शङ्का होती है कि नेत्र भी सन्निकृष्ट रत्नादि वस्तुके परीक्षणके लिए दर्शनावृत्तिकी अपेक्षा रखता है । सकृद्दर्शनमात्रसे दुष्ट रत्नका परिज्ञान नहीं होता, किन्तु इसके लिए जौहरी लोग भी बार-बार रत्नको देखते हैं, इसलिए प्रकृतमें 'नेत्रवत्' यह दृष्टान्त असंगत है, इसके उत्तरके लिए कहते हैं—'रत्नतत्त्व०' इत्यादिसे ।

रत्नतत्त्वकी परीक्षामें भी सूक्ष्म सदसद्विशेषपर्यन्त दृष्टिके पहुँचनेके लिए आवृत्ति अपेक्षित होती है अर्थात् हेयोपादेयतासूचक मणिगत सूक्ष्म-विशेषके साथ प्रथम बार दृष्टिका सम्बन्ध नहीं होता । स्थूलका ग्रहण तो साधारण दृष्टिसे भी हो जाता है । किन्तु सूक्ष्मविशेष तो मनोवधानपूर्वक अनेक बार देखनेसे ही इन्द्रियसम्बद्ध होता है । इन्द्रियसम्बद्ध होनेपर अवगत हो जाता है । अवगतके लिए पुनः पुनः दर्शनकी अपेक्षा नहीं होती, इसलिए 'नेत्रवत्' यह दृष्टान्त प्रकृतमें पूर्णतया लागू है ॥ ३०४ ॥

इसी विषयको अतिस्पष्ट करनेके लिए कहते हैं—**'प्रसृते'** इत्यादिसे ।

दृष्टान्तसिद्ध अर्थको दार्ष्टान्तिकमें कहते हैं—रत्नगत विशेष धर्म तक चक्षुका प्रसर (गमन) होनेपर क्षणमात्रमें चक्षु रत्नतत्त्वका ग्रहण कर लेता है । एतदर्थ पुनः पुनः दर्शनावृत्तिकी जरूरत नहीं है । इसी तरह तत् और त्वम् पदार्थकी शुद्धिके बाद सकृत् श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य द्वारा क्षणभरमें ही जीवमें ब्रह्मस्वरूपताका समुद्बोध हो जाता है । अतः प्रत्ययावृत्ति अपेक्षित नहीं होती ॥ ३०५ ॥

'नित्यापरोक्ष्यम्' इत्यादि । चक्षु जैसे सन्निकृष्टका बोधक होता है, वैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याधम्मन्यो राजपुत्रो राजतामाप्तवाक्यतः ।
स्वस्याऽनुभवितुं नैव वाक्यावृत्तिमपेक्षते ॥ ३०७ ॥

ही वाक्य प्रमाणान्तरानपेक्ष होकर आत्मामें ब्रह्मत्वका बोधन करता है। यद्यपि यह ठीक ही है, तथापि अपरोक्षानुभवके लिए आवृत्तिकी अपेक्षा आवश्यक ही है, क्योंकि व्युत्पन्न पुरुषको शब्दका श्रवण होनेपर भी परोक्ष ज्ञान ही होता है, अतः अपरोक्षानुभवके लिए प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यानकी आवश्यकता है। यद्विषयक निरन्तर ध्यान किया जाता है, तद्विषयक साक्षात्कार होता है, यह सर्वानुभव-सिद्ध है, अतः जीवमें ब्रह्मत्वकी अपरोक्षताके लिए प्रत्ययावृत्तिकी सर्वथा अपेक्षा है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अपरोक्षवस्तुविषयक निश्चयके बिना अपरोक्ष नहीं होता, यह पहले कह चुके हैं। 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्म साक्षात् अपरोक्षानुभवस्वरूप है, अतः तद्विषयक वाक्यजन्य ज्ञान स्वतः अपरोक्ष-स्वरूप होता है। इसके लिए प्रत्ययावृत्तिकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ३०६ ॥

उक्तार्थका ही उदाहरणपूर्वक उपपादन करते हैं—'व्याधम्मन्यो' इत्यादिसे।

प्रबल शत्रुसे पराभूत होकर कोई राजा वनमें चला गया। 'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति' इस न्यायसे कोई व्याध छोटे राजपुत्रको चुराकर अपने घर ले गया। व्याधोंके शिशुओंके साथ रहनेसे तथा खान, पान आदि आचरणोंसे वह राजपुत्र अपनेको व्याध मानने और कहने लगा। पूर्वपुण्यवश कोई महात्मा उस राजपुत्रको देखकर सोचने लगा कि यह व्याधाचारी बालक व्याध नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी आकृति व्याधाकृतियोंसे विलक्षण है और इसके हस्त, मस्तक आदिकी रेखाओंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि हो न हो यह राजपुत्र है। पुरातन दुरदृष्टवश यह व्याधोंके हस्तगत हुआ है और अज्ञानवश अपनेको व्याध समझता है। इसमें राजपुत्रोंके संस्कार हैं, किन्तु व्याध-संस्कारोंसे वे अभिभूत हो गये हैं, पर समझानेसे अभिभूत राजपुत्रसंस्कार समुद्बुद्ध होकर व्याधसंस्कारको समूल नष्ट कर देंगे और यह बालक फिर अपनेको राजपुत्र मानकर, व्याधके आचरणोंका त्यागकर स्वकुलपरम्परागत सदाचारोंका पालन करेगा, और अपनेको राजा समझ कर अपना उद्धार कर सकेगा। यह सोच-समझकर उक्त महापुरुषने कहा कि बच्चा, तुम कौन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवम्मन्यः परेशान ईशत्वं वेदवाक्यतः ।
स्वस्याऽनुभवितुं तद्वदावृत्तिं नह्यपेक्षते ॥ ३०८ ॥
पुरा वाक्यार्थसम्बोधाच्छास्त्रावृत्तिर्मयेष्यते ।
ऊर्ध्वं तु भवताऽतस्ते यो दोषः स न मेऽस्ति हि ॥ ३०९ ॥

हो ? बालक विनम्रभावसे बोला कि भगवन् ! मैं व्याध-पुत्र हूँ, महात्मा फिर बोले, बच्चा तुम व्याधपुत्र नहीं हो, किन्तु राजपुत्र हो, व्याधोंके संसर्गसे अपनेको भूल गए हो, मेरी बातोंमें विश्वास कर तुम स्वयं सोचो कि यह आकृति तुम्हारी व्याधोंकी आकृतियोंसे भिन्न है, इत्यादि आप्तवाक्योपदेशसे अपनेको व्याध माननेवाला राजपुत्र अपनेको राजा मानने लगता है। अपनेको राजा समझनेके लिए उपदेशावृत्तिकी अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए ॥ ३०७ ॥

'जीवम्मन्यः' इत्यादि। परेश परब्रह्म अविद्यासे अपनेको जीव मानकर विविध सांसारिक दुखोंसे विकल रहता है। पुरातन पुण्यवश दयालु गुरु द्वारा 'तत्त्वमसि' आदि वेदवाक्यके सकृत् श्रवणसे पूर्ववत् अपनेको निश्चितरूपसे ब्रह्म मान लेता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि बोधके लिए आवृत्तिकी आवश्यकता नहीं है, जैसे उक्त स्थलमें आप्तवाक्यावृत्तिकी आवश्यकता नहीं है, वैसे ही महावाक्यावृत्तिकी भी आवश्यकता नहीं है ॥ ३०८ ॥

'पुरा वाक्यार्थ०' इत्यादि। इस तरह पूर्ववादीका यह आक्षेप, 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य स्वार्थबोधके लिए यदि प्रत्ययावृत्तिकी अपेक्षा करेगा, तो निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य उक्त वाक्यमें नहीं होगा, भी सर्वथा अज्ञानमूलक है। वास्तवमें बात यह है कि प्रत्ययावृत्ति हम भी मानते हैं, किन्तु वाक्यार्थबोधसे पूर्व पदार्थके संशोधनके लिए। अन्यथा जीवमें ब्रह्मके अभेदकी असम्भावनाशङ्कासे उक्त वाक्यार्थबोध ही नहीं होगा और अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य उक्त वाक्यमें होगा, अतः प्रत्ययावृत्तिसे असम्भावनाकी शङ्का निवृत्त होती है। तदनन्तर सकृत्श्रुत 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य उक्तार्थबोधक होता है और पूर्वपक्षी वाक्यार्थबोधके बाद प्रत्ययावृत्ति मानता है, सो ठीक नहीं है, अतएव आपने जो वेदाप्रामाण्यलक्षण दोष हमारे मतमें दिया था, वह हमारे मतमें नहीं है, आपके ही मतमें है ॥ ३०९ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ननु विज्ञाय कुर्वीत प्रज्ञामित्यनुशासनात् ।
ऊर्ध्वं चाऽऽवृत्तिरिति चेत्तत्सत्यं नहि संशयः ॥ ३१० ॥
नैतावताऽवकाशोऽस्ति त्वन्मतस्याऽत्र कश्चन ।
नैवाऽनुभूतिसिद्ध्यर्थमिदं श्रौतानुशासनम् ॥ ३११ ॥

वाक्यार्थबोधके बाद श्रुतिसे ही प्रत्ययावृत्तिका विधान प्राप्त होता है, ऐसी शङ्का करते हैं—**'ननु विज्ञाय'** इत्यादिसे ।

पूर्वपक्षीका यह अभिप्राय है कि सकृत् ब्रह्मज्ञान मुक्तिका कारण नहीं है, किन्तु प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यान मुक्तिके लिए श्रुतिमें विहित है, क्योंकि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस श्रुतिमें उपासना-परपर्य्याय निदिध्यासनका विधान है। तथा 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस श्रुतिसे वेदान्त वाक्य द्वारा ब्रह्मका ज्ञान होनेपर प्रज्ञा—उपासना—करनी चाहिए, यह प्रतीत होता है। 'अनुविद्य विजानाति' इस वेदान्तवाक्यमें 'ब्रह्म अनुविद्य' (ब्रह्मको जानकर) ब्रह्मवेद-नोत्तर 'विजानाति' से उपासनाका विधान है । उक्त शब्दका उपासना भी अर्थ है। 'ॐ इत्येवात्मानं ध्यायथ', 'निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' दर्शनार्थक चायृ धातुसे निचाय्यशब्द बना है। 'आत्मानं लोकमुपासीत' इससे ज्ञान उपा-सनाशब्दवाच्य है, यह निश्चय होता है। 'निदिध्यासितव्यः' इसके साथ उक्त वाक्योंका एक अर्थ होनेके लिए पूर्वोक्त वाक्योंसे ध्यानका ही विधान है। यद्यपि वेदनादि ज्ञानसामान्यवाची शब्द हैं, ध्यानरूप ज्ञानविशेषके वाची नहीं हैं अनुक्त और आकांक्षित स्वीकारके लिए सर्वशाखाप्रत्ययन्याय प्रसिद्ध है, इसका अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण शाखाओंमें प्रतीत अर्थका ग्रहण करना चाहिये। एक शाखामात्रमें उक्त अर्थका नहीं। शाखान्तरमें 'ध्यायथ, उपासीत' इत्यादि ध्यानपर-पर्याय पद स्पष्ट ही उपासनाके विधायक हैं, इसलिए 'विज्ञाय प्रज्ञाम्' इत्यादिमें प्रज्ञाविज्ञानादिका अर्थ ज्ञानविशेष ध्यान ही मानना उचित है । अनुविद्य और विज्ञाय इन वाक्योंसे विज्ञानका अनुवाद कर प्रज्ञादिशब्दसे ध्यानका विधान विवक्षित है । ज्ञानके बिना ध्यान नहीं हो सकता इसलिए ध्यानोपकारक ज्ञानका अनुवाद आवश्यक है । यदि सामान्यवाचक शब्द विशेषपरक मानते हैं, तो प्रज्ञादि-शब्द ध्यानरूप ज्ञानविशेषपरक ही हैं । श्रवणरूप ज्ञानविशेषपरक क्यों नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञायेत्यनुभूतिं तां वाक्यजन्यामुपेत्य तु ।
विदधाति तदैकाग्र्यं बहिश्चित्तनिवृत्तये ॥ ३१२ ॥

मानते इसमें क्या विनिगमक है ? इसमें विनिगमक यह है कि जैसे 'विज्ञाय' और 'अनुविद्य' ये अनुवादक हैं वैसे ही 'श्रोतव्यः' यह वाक्य भी अनुवादक है विधायक नहीं है, क्योंकि वेदार्थज्ञानके लिए श्रवणमें स्वतः प्रवृत्ति होती है, अतः प्राप्त होनेसे तदंशमें अपूर्व विधि नहीं हो सकती और स्वतः पुस्तक-निरीक्षण आदिकी व्यावृत्तिके लिए नियमविधि भी नहीं है, क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस श्रुतिसे ही स्वतोनिरीक्षण आदिकी व्यावृत्ति सिद्ध है और 'गुरुमेवाभिगच्छेत्' इत्यादि वाक्यसे भी उसकी व्यावृत्ति सिद्ध है, अतः ध्यानमें ही विधि है । अतएव व्यास भगवान्ने अपवर्गोपयोगी ज्ञानके विधानकी इच्छासे 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस सूत्रसे ध्यानका ही विधान किया है । इसीसे भाष्यकारने 'सकृत्प्रत्ययं कुर्याच्छब्दार्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत्' यह पूर्वपक्ष कर 'सिद्धन्तूपासनाशब्दात्' इत्यादि असकृत् आवृत्त ज्ञान मोक्षसाधन है यह निर्णय किया है, इत्यादि पूर्वपक्षका संक्षेप है ।

उत्तर—'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस वाक्यसे प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यानका विधान है यह ब्रह्मज्ञानोत्तर ही है । यह भी ठीक है, इसमें संशय नहीं, क्योंकि विज्ञाय इस पदके स्वरससे ब्रह्मज्ञानोत्तर काल ही ध्यानमें प्रतीत होता है तो भी आपके मतका कोई यहां अवसर नहीं है । कारण ब्रह्मानुभूतिकी सिद्धिके लिए श्रौत-विधान नहीं है तो फिर किस प्रयोजनके लिए उक्त विधान है ॥३११॥

सो कहते हैं—**'विज्ञायेत्यनुभूतिम्'** तत्त्वमस्यादि वाक्यसे जन्य मोक्षोपयोगी आत्मज्ञान होनेपर भी प्रारब्ध कर्मके वश शरीरेन्द्रियादि रहते ही हैं, कदाचित् पूर्व-संस्कारवश फिर अनात्म बाह्यपदार्थविषयक चित्तवृत्ति न हो, इसलिए जीवन्मुक्ति दशामें प्रज्ञादिशब्दसे ध्यानका विधान है । जीवन्मुक्तिके और परममुक्तिके भेदसे मुक्ति दो प्रकारकी है । परममुक्ति उन महापुरुषोंको सकृत् जायमान तत्त्वमस्यादि-वाक्यार्थके ज्ञानसे होती है, जो प्रारब्ध कर्म सम्पूर्ण भोग चुके हैं 'तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इत्यादि वाक्यसे तावत्पदके स्वारस्यसे प्रारब्धकर्माधीन शरीरपातके अतिरिक्त कोई ध्यानादि साधनान्तरकी अपेक्षा नहीं । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि वाक्यसे यही अर्थ सिद्ध होता है । अतः उनके लिए आवृत्तिका विधान नहीं, किन्तु जो जीवन्मुक्त हैं उनको उक्त वाक्यसे तत्त्वज्ञान तो अवश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवक्षितोपयोगोऽत्र वाक्यशेषेण वर्णितः ।
नाऽनुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ ३१३ ॥
ननु मुक्ते प्रवृत्तायाः श्रुतेर्दृष्टार्थवर्णनम् ।
अयुक्तमिति चेन्मैवं जीवन्मुक्तर्थमीरणात् ॥ ३१४ ॥

हुआ पर अभी निःशेष कर्मोंका उपभोग नहीं हुआ । अतः प्राचीन कर्मादिवश चित्तविक्षेप होनेपर पुनः अनात्मपदार्थविषयक चित्तवृत्ति हो जायगी, इस शङ्कासे उन लोगोंके लिए प्रज्ञादि शब्दोदित ध्यानका विधान है ॥३१२॥

इसमें क्या विनिगमक है कि मुक्तिके लिए ध्यानका विधान नहीं बाह्य-विषयक चित्तवृत्तिके निरोधके लिए ही उक्त विधान है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए उक्तार्थमें श्रौतार्थवादवाक्य विनिगमक हैं, ऐसा कहते हैं—'**विवक्षितोप०**'इत्यादिसे।

यदि अन्तर्मुख चित्तवृत्ति न होगी तो बाह्यशब्दादिविषयक ध्यान भी समय-समयपर हो जायगा । इससे इन्द्रियग्लानि—इन्द्रियादि-दुःख—भी होगा, अतः इन्द्रियादि-दुःखनिवृत्तिके लिए ध्यानकी विधि है । उदाहृत वाक्यशेषसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाह्यविषयक चित्तवृत्तिका फल है दुःख, उसकी निवृत्तिके लिए सदा अन्तर्मुख चित्त रहे, इसलिए उक्त विधि है । दुःखनिवृत्ति लौकिक फल है, क्योंकि पशु आदि भी दुःखनिवृत्ति-की चेष्टा करते हैं इसलिए कि दुःख होनेपर सुख न होगा । कारण सुख और दुःख छाया और आतपकी तरह विरुद्ध हैं दोनोंका एकत्र सहावस्थान नहीं होता । यदि दुःख न होगा तो सुख अवश्य होगा । अतः दुःखनिवृत्ति सुखविशेष है । दुःखनिवृत्ति स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु सुखके लिए दुःखनिवृत्ति एष्टव्य है । अतएव निःशेष दुःखनिवृत्त्युपलक्षित सुखात्मस्वरूप मोक्ष माना जाता है । अन्यथा नैयायिकोक्त अशेष दुःखकी निवृत्ति ही मोक्ष है । यह भी पुरुषार्थ हो सकता है, तो इसका निराकरण असंगत हो जायगा । इसलिए मुख्य पुरुषार्थ सुखप्राप्ति ही है दुःखनिवृत्ति तदुपसर्जन है । यही सिद्धान्त युक्तियुक्त है । इस प्रकार मुख्य पुरुषार्थपरक श्रुति हो सकती है । तो गौण पुरुषार्थपरक उक्त श्रुतिकी व्यवस्था ठीक नहीं है ॥ ३१३ ॥

यही शङ्का करते हैं—'**ननु मुक्ते प्रवृत्तायाः**' इत्यादिसे ।

मुक्ति पशु आदिसाधारण दृष्ट फल नहीं है, किन्तु वेदैकगम्य होनेसे शास्त्रीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अबुद्धब्रह्मतत्त्वेऽस्मिन् यद्वज्जन्म भविष्यति ।
तद्वद्बहिर्मुखे चित्ते स्यादेव ग्लानिरिन्द्रियैः ॥ ३१५ ॥

फल है, जिसने वेद आदि शास्त्रका अध्ययन नहीं किया है, ऐसा मनुष्य भी मुक्तिका स्वरूप नहीं जानता फिर पशु आदिकी बात ही क्या है ? अतः मोक्षके लिए प्रवृत्त श्रुतिका दुःखाभावपरक वर्णन करना अनुचित है, क्योंकि प्रकरणप्राप्त मुक्तिका त्यागकर अप्राकरणिक दुःखाभावका ग्रहण करना 'उपस्थितं परित्यज्य' इस न्यायसे प्रतिकूल है । ठीक है, यदि चित्तैकाग्रताका फल केवल दुःख-निवृत्ति ही कहते, तो आपका यह आक्षेप उचित होता, किन्तु ऐसा नहीं कहते हैं । कहते यह हैं कि चित्तस्थैर्यविधिके निरतिशयानन्दका समुद्बोध और लौकिक ऐन्द्रियक दुःखका अभाव ये दोनों फल हैं । जीवन्मुक्तके लिए फलकी विधि है, परममुक्तके लिए नहीं । जीवन्मुक्तको प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार शरीर आदिका अध्यास है, अतः तत्त्वज्ञान होनेपर भी चित्तकी एकाग्रताके बिना फिर उसमें विषयानुसन्धानप्रसक्तिकी सम्भावना रहती है, इसलिए निरतिशयानन्दात्मस्वरूपबोधनके द्वारा लौकिक ऐन्द्रियक दुःखके अभावके लिए चित्तस्थैर्यमें विधिका अङ्गीकार करते हैं । चित्तस्थैर्य सम्पूर्ण पुण्योंका फल है । श्रौत और स्मार्त कर्मोंके अनुष्ठानसे चित्तकी शुद्धि होती है । तत्त्व-ज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक दुरितका नाश होनेपर तत्त्वज्ञान होता है, क्योंकि 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' यह वचन है । ज्ञान होनेपर भी यदि चित्तकी बहिर्मुख प्रवृत्ति होगी, तो फिर बाह्य विषयोंके अनुसन्धानकी प्रसक्ति होगी और उसके द्वारा सांसारिक दुःख होगा, अतः आनन्दस्वरूप आत्माके चिन्तनमें ही मुमुक्षुको सतत तैयार रहना चाहिए । अन्यथा ऐन्द्रियक दुःख होगा, अतः उसकी निवृत्तिके लिए चित्तैकाग्रताकी विधि है । आत्मामें तो वस्तुतः दुःखादि हैं ही नहीं । हां, परन्तु शरीरादिगत दुःखका अज्ञानवश आत्मामें आरोप होता है । जैसे अज्ञ पुरुष दर्पणादिगत मालिन्यका मुखमें आरोप कर मुखको मलिन समझता है, वैसे ही संसारी जीव आरोपित शरीरादिगत दुःखको आत्मगत दुःख समझते हैं ॥ ३१४ ॥

तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्माका यथार्थज्ञान होनेपर जब आरोपित दुःख भी निवृत्त ही हो जाता है, तब फिर बहिर्मुख प्रवृत्तिके होनेपर भी दुःखकी अनुवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस शङ्काकी निवृत्ति करते हैं—'अबुद्ध०' इत्यादिसे ।

जीव यद्यपि ब्रह्मस्वरूप है, तथापि ब्रह्मकी उत्पत्ति आदि विकृति नहीं होती और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथाऽसङ्गस्य न ग्लानिरिति चेदिदमेव हि ।
पर्यालोचनमत्रोक्तं श्रुत्याऽक्षग्लानिवारकम् ॥ ३१६ ॥
बुद्धतत्त्वस्य यस्यैतत्स्वतःसिद्धं न तं प्रति ।
विधत्तेऽन्यं त्वनात्माभिमुखं प्रति विधीयते ॥ ३१७ ॥

जीवकी उत्पत्ति आदि विकृति देखते हैं, इसलिए यह मानना आवश्यक है कि ब्रह्मात्मबोध होनेपर ही उत्पत्ति आदि विकृति नहीं होती, अन्यथा उत्पत्ति आदि विकृति होती हैं। 'नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम' इस न्यायसे यही कल्पना की जाती है और मानी भी जाती है। इसी तरह तत्त्वज्ञान होनेपर चित्तकी स्थिरताके बिना दुःखानुवृत्ति दुष्परिहर है। श्लोकका भाव यह है कि अज्ञका जैसे जन्म होता है, वैसे ही चित्तके बहिर्मुख—बाह्यविषय—होनेसे इन्द्रियकी ग्लानि—दुःख—अवश्य होगी, इसलिए चित्तस्थैर्यकी विधि है ॥ ३१५ ॥

'अथाऽसङ्गस्य' इत्यादि। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इस श्रुतिसे यद्यपि पुरुषमें किसी भी पदार्थका सम्बन्ध नहीं है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। फिर भी ज्ञानी तो शुद्धात्म-स्वरूप ही अपनेको जानता है, इसलिए चित्तस्थैर्यविधि सर्वथा व्यर्थ ही है, यदि यह शङ्का हो, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इसीका सतत स्मरण करनेके लिए उक्त विधि है, अन्यथा दुःखकी अनुवृत्ति दुर्वार होगी, अतः इन्द्रियादिगत दुःखनिवृत्तिके लिए आत्मा असङ्ग है, इसका सतत पर्यालोचन (विचार) करना जीवन्मुक्तके लिए आवश्यक है। 'समाहितो भूत्वा' इत्यादि अनुशासनसे आत्मबोधके लिए जो पहले ही चित्त एकाग्र कर चुके हैं, उन पुरुषोंके लिए तत्त्वज्ञानोत्तर चित्तस्थैर्यका विधान अनावश्यक है ॥ ३१६ ॥

विधिके बिना भी उनका चित्त स्वतः स्थिर है और सिद्धका विधान हो भी नहीं सकता, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'बुद्धितत्त्वस्य'** इत्यादि।

हाँ, ठीक है, जो चित्त एकाग्र कर चुके हैं, उनके प्रति यह विधि नहीं है, किन्तु जो चित्तकी एकाग्रताके सम्पादनके बिना ही तत्त्वज्ञानी हुए हैं, उनके लिए एकाग्रताका विधान आवश्यक है, अन्यथा चित्तके बहिर्मुख होनेसे फिर दुःखकी अनुवृत्ति हो जायगी, इसलिए अधिकारीके भेदसे उक्त विधि अत्या-वश्यक है। यह नियम नहीं है कि चित्तके एकाग्र होनेपर ही तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। यह मेरी निजी कपोलकल्पना नहीं है, किन्तु सूत्रकारने भी इसी प्रकारकी व्यवस्था की है ॥ ३१७ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्रकारोऽत एवाऽऽह निदिध्यासनरूपिणि ।
पाण्डित्यबाल्यवाक्यस्थे मौनेऽस्मिन् पाक्षिकं विधिम् ॥३१८॥

उक्त अर्थमें सूत्रकारकी सम्मति कहते हैं—'सूत्रकारोऽत' इत्यादिसे ।

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' यह बृहदारण्यकका वाक्य है, पाण्डित्यका अर्थ प्रकृतमें श्रवण है, बाल्यका तात्पर्य मननमें है, मौनसे निदिध्यासन विवक्षित है । इसका अर्थ यह है—जिस कारणसे पहलेके ब्राह्मण आत्माको जानकर संन्यासग्रहण कर भिक्षाचरण करते थे, अतः इस समयके ब्राह्मणोंको भी चाहिए कि वेद द्वारा आत्माका श्रवण कर बाल्येन—मननेन—मननसे स्थित होनेकी इच्छा करें अर्थात् श्रवणोत्तर मनन करें । प्रकृत-वाक्यमें श्रवण—आत्मविषयक निश्चयात्मज्ञान—और मनन द्वारा असम्भावनाका निरास करके 'अथ मुनिः' अर्थात् निदिध्यासन करे, यह प्रतीत होता है । यहाँपर यह संशय होता है कि मौनमें विधि है या नहीं ?

पूर्वपक्ष—मौनमें विधि नहीं है, कारण कि जिसमें विधि-विभक्तिका श्रवण होता है वही विधेय होता है, दूसरा नहीं । 'बाल्येन तिष्ठासेत्' इस वाक्यमें बाल्यमें—मननमें—विधिविभक्तिका श्रवण है, अतः वही विधेय है, मौन नहीं । विधिविभक्तिका मौनमें श्रवण नहीं है, जैसे ब्राह्मणमें विधिविभक्ति नहीं है, अतः वह विधेय नहीं है, वैसे ही मौन भी विधेय नहीं है । मौन भी पाण्डित्यसमानार्थक है, अतः 'पाण्डित्यं निर्विद्य' इस वाक्यसे पाण्डित्यका विधान होनेसे मौन सिद्ध ही है । अपि च 'अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः' यहांपर पूर्वप्राप्त ब्राह्मणमें जैसे विधि नहीं है, किन्तु प्रशंसावाद है, वैसे ही 'अथ मुनिः' यहांपर भी मौनमें विधि नहीं है, किन्तु प्रशंसावाद ही है ।

सिद्धान्त—विद्यासहकारी मौनमें बाल्य और पाण्डित्यके समान विधि ही है । पाण्डित्य मौनसमानार्थक नहीं है, अतः पाण्डित्यसे मौनकी प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए अपूर्व होनेसे मौनकी विधि ही है । 'मननात् मुनिः' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञानातिशयवाची मुनिशब्द है, अतः बाल्य और पाण्डित्यकी अपेक्षासे तीसरे ज्ञानातिशयरूप मौनका विधान है । जो यह कहा गया है कि जिसमें विधिविभक्तिका श्रवण रहता है, वही विधेय होता है, सो ठीक है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न विध्यर्हो बुद्धतत्त्व इति चेद्वासनाबलात् ।
अबुद्ध इव संक्लिश्यन्विधिं ध्याने तदाऽर्हति ॥ ३१९ ॥
अप्रमत्तो यदा योगी तदा माभूदयं विधिः ।
ज्योतिष्टोमो न विहितः स्वर्गस्थपुरुषं प्रति ॥ ३२० ॥

यहां भी विधिविभक्तिका सम्बन्ध किया जा सकता है, क्योंकि 'मुनिः स्यात्' ऐसा करनेसे विधिविभक्तिका यहां भी श्रवण हो सकता है। अतः पूर्वोक्त नियमका व्यभिचार नहीं है। यदि कहिए कि विद्वान् होनेसे अतिशय तो स्वतः प्राप्त है, अतः मौनमें विधि मानना निष्प्रयोजन है, तो यह भी ठीक नहीं है, कारण कि विद्वान् होनेपर अनेकजन्मप्राप्त भेददर्शनकी प्रबलतासे जिनको जीव और ब्रह्मका अभेदज्ञान नहीं होता, उनके लिए मौनविधि आवश्यक है। इससे निदिध्यासनापरपर्य्याय ध्यानका विधान अधिकारिविशेषकी अपेक्षासे पाक्षिक है, नियत नहीं है ॥ २१८ ॥

विद्वान्के लिए विधि नहीं है, क्योंकि वह स्वयं कृतकृत्य है, ऐसी शङ्का करते हैं—**'न विध्यर्हो'** इत्यादिसे।

विद्वान् विध्यर्ह नहीं है। यहांपर विद्वान् शब्दसे सवासन विद्वान् विवक्षित है अथवा निर्वासन ? प्रथम पक्षमें वासनानिवृत्तिके लिए अज्ञकी तरह विद्वान्के लिए भी विधि आवश्यक है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—सवासन विद्वान् वासनाके प्रभावसे अविद्वान्के सदृश क्लेशानुभव करता हुआ सर्वथा विधियोग्य है। ध्यानके बिना वासनाकी निवृत्ति नहीं होती और वासनाकी निवृत्तिके बिना क्लेशकी निवृत्ति नहीं होती, अतः क्लेशकी निवृत्तिके लिए विद्वान् तथा अविद्वान् सबके लिए ध्यानकी विधि आवश्यक है ॥ ३१९ ॥

निर्वासन विद्वान् विधियोग्य नहीं है, यह स्वीकार करते हैं—**'अप्रमत्तो'** इत्यादिसे।

वासनाकी निवृत्तिके लिए ध्यानकी विधि है, किन्तु जिनकी वासना पूर्वजन्मार्जित ध्यानादि उपायसे निवृत्त हुई है, उनके लिए ध्यानकी विधि नहीं है। फलके सिद्ध होनेपर साधनका विधान नहीं होता, इसमें दृष्टान्त है—अप्राप्तस्वर्ग पुरुषके लिए ज्योतिष्टोम यागका विधान है, स्वर्गस्थ पुरुषके लिए ज्योतिष्टोमका विधान नहीं है। उक्त यागका अधिकारी स्वर्गस्थ पुरुष नहीं है 'अप्रमत्त' इस विशेषणसे योगीमें स्वयंबाह्यविषयपराङ्मुखत्व सूचन करते हैं। इससे तदीयचित्तवृत्ति बहिर्मुख नहीं हो सकती, जिससे निरोधोपाय ध्यानकी आवश्यकता हो ॥३२०॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वासनाभिः क्लिश्यतोऽस्य ध्यानवन्नैव कर्मसु ।
विधिः प्रसज्यते यस्मात् कर्म क्लेशं न वारयेत् ॥ ३२१ ॥
यदि सेवेत कर्माणि तृडार्त्तोऽग्निं च सेवते ।
तृड्वृद्धिरग्निदाहाच्चेत् क्लेशवृद्धिश्च कर्मतः ॥ ३२२ ॥
ध्यानं तु सावधानत्वमात्रत्वान्नहि दुःखकृत् ।
प्रत्युताऽऽनन्दसुद्बोध्य पूर्वदुःखं तु वारयेत् ॥ ३२३ ॥

यदि विद्वान्के लिए भी विधि मानते हैं, तो ध्यानके समान अग्निहोत्रादि कर्म भी उनके लिए विहित हैं, यह भी स्वीकार करना पड़ेगा, ऐसा माननेपर पुनः संसारित्वकी प्रसक्ति हो जायगी। ठीक है, यदि अग्निहोत्रादिका अधिकार होगा, तो संसारित्वकी प्रसक्ति अनिवार्य है, किन्तु अग्निहोत्रादि कर्म वासनावर्द्धक हैं। मुमुक्षु वासनाकी निवृत्ति चाहता है, इसलिए वह वासनावर्द्धक अग्निहोत्रादि कर्मका अधिकारी नहीं है, यही कहते हैं—**'वासनाभिः'** इत्यादिसे।

वासनाओंसे क्लेश पाते हुए योगीके लिए ध्यानकी तरह कर्ममें विधि नहीं है, क्योंकि कर्म क्लेशका निवारक नहीं हो सकता, प्रत्युत वर्द्धक हो सकता है ॥ ३२१ ॥

'यदि सेवेत' इत्यादि। पिपासाकुल पुरुष यदि अग्निका सेवन करे, तो प्यास अधिक बढ़ेगी, इसलिए जैसे उक्त पुरुष, अग्निसेवन विपरीत फलप्रद है, यह समझकर उसका त्याग करता है, वैसे ही वासनानिवृत्तिकी कामना करनेवाला मुमुक्षु पुरुष भी वासनावर्द्धक कर्मको विपरीत समझ कर उसका त्याग ही करता है, ग्रहण नहीं करता ॥ ३२२ ॥

कर्मानुष्ठानमें जो दोष हैं, वे ध्यानमें नहीं हैं, यह स्पष्ट करते हैं—**'ध्यानन्तु'** इत्यादिसे।

यहां ध्यान मानसी क्रिया विवक्षित नहीं है, किन्तु ब्रह्मविज्ञानमें सावधानत्व-मात्र अभिप्रेत है, यह अग्रिम श्लोकमें स्पष्ट होगा। इसलिए ध्यानमें दुःख-हेतुत्वकी शङ्का अयुक्त है, किन्तु वह ब्रह्मानन्दका समुद्बोधन कर पूर्व दुःखोंको निवृत्त करता है। ध्यान विज्ञानमें सावधानत्वमात्र है, मानसी क्रिया नहीं है। इसकी उपपत्ति करते हैं—यदि मानसीक्रिया ध्यानसे विवक्षित होती, तो प्रज्ञाशब्दका उपादान न होता। 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इस श्रुतिमें ध्यानका उपादान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञाने सावधानत्वमत्र ध्यानं तु न क्रिया ।
इत्यर्थस्य विवक्षायै प्रज्ञाशब्दः प्रयुज्यते ॥ ३२४ ॥
मैत्रेयीब्राह्मणेऽप्येवं निदिध्यासनशब्दतः ।
उपक्रमोपसंहारे विज्ञानमिति वर्णितम् ॥ ३२५ ॥
निदिध्यासस्वेति गिरा यदुक्तं श्रवणाय तत् ।
ऐकाग्र्यं याज्ञवल्क्येन विहितं साधनं तु तत् ॥ ३२६ ॥

न कर प्रज्ञाशब्दका उपादान यह स्फुट करता है कि प्रकृतमें मानसी-क्रियात्मक ध्यान विवक्षित नहीं है, किन्तु ज्ञानमें सावधानत्व ही अभिप्रेत है, अन्यथा स्पष्टप्रतिपत्तिके लिए 'विज्ञाय ध्यानं कुर्वीत' ऐसा पाठ होता । इसी तरह 'अनुविद्य विजाति' इस श्रुतिमें भी 'अनुविद्य ध्यानं कुर्वीत' ऐसा पाठ होता, किन्तु ऐसा पाठ नहीं है । इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विज्ञानमें सावधानत्व ही प्रज्ञाशब्दार्थ है, उक्तस्वरूप ध्यान नहीं ॥ ३२४ ॥

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस मैत्रेयीब्राह्मणमें मानसीक्रियात्मक निदिध्यासनके विधानके समान यहाँ भी प्रज्ञाशब्दसे उक्त ध्यानकी ही विधि अभिप्रेत है, इसका निराकरण करते हैं—'मैत्रेयी०' इत्यादिसे ।

याज्ञवल्क्य महर्षिने मैत्रेयीको मोक्षसाधन आत्मदर्शनका उपदेश दिया कि 'आत्मा द्रष्टव्यः' अर्थात् आत्मदर्शन ही मोक्षसाधन है । आत्मदर्शन कैसे होगा ? इसका उपाय बतलाया—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' अर्थात् श्रवण और मनन । ब्रह्मज्ञ आचार्यसे वेद द्वारा आत्माका प्रथम श्रवण करना चाहिए । तदनन्तर श्रुत अर्थमें संशय, असम्भावना आदिकी निवृत्तिके लिए मनन करना चाहिए । तर्कसे श्रुत अर्थमें उक्त प्रतिबन्धकका निरास करना मनन है । और निदिध्यासन है—प्रत्ययान्तराव्यवहित निरन्तर निश्चयात्मक आत्मभावना । इस प्रकार ब्रह्मविषयक श्रवण, मनन और निदिध्यासन करनेसे ब्रह्मका दर्शन होता है । यद्यपि निदिध्यासनसे ध्यानका भी बोध हो सकता है, इससे श्रवणमननपूर्वक ब्रह्मध्यानसे आत्मदर्शन होता है, यह भी उक्त श्रुतिका अर्थ हो सकता है, तथापि महर्षि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने आगे 'दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन' इस वाक्यसे निदिध्यासन विज्ञानस्वरूप ही प्रकृतमें विवक्षित है, ध्यान नहीं, यह सुस्पष्ट कर दिया है । और उपसंहारके अनुरोधसे उपक्रममें निदिध्यासनका विज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधनं फलरूपं च द्विविधं ध्यानमीरितम् ।
प्रज्ञां कुर्वीत वाक्येन फलाभिमुखतोच्यते ॥ ३२७ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन प्रसङ्ख्यानं त्वदीहितम् ।
नैवाऽत्र विहितं तद्वन्नाऽपि चाऽन्यत्र कुत्रचित् ॥ ३२८ ॥

ही अर्थ ठीक है । यद्यपि असंजातविरोधी न्यायसे उपक्रमके अनुसार ही उपसंहारमें भी अर्थ करना चाहिए, क्योंकि ज्ञानसामान्यवाची विज्ञानशब्दका ध्यान भी अर्थ हो सकता है तथापि 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत', 'अनुविद्य विजानाति' इत्यादि अनेक श्रुतियोंमें विज्ञानादि शब्दोंका ध्यान अर्थात् ज्ञानविशेष अर्थ माननेमें सामान्यवाची शब्दका विशेष अर्थमें लक्षणा करनेमें गौरव होगा । उसकी अपेक्षासे निदिध्यासन शब्दका ही उक्त अनेक श्रुतिके अनुरोधसे ज्ञानसामान्य ही अर्थ करना उचित है । यदि ध्यान मानसी क्रिया है, ज्ञान नहीं है, तो अत्यन्त विजातीयमें लक्षणा करनी पड़ेगी, अतः उपसंहारके अनुसार उपक्रममें निदिध्यासनशब्दसे ज्ञान ही विवक्षित है, ध्यान नहीं ॥ ६२६ ॥

यदि निदिध्यासनशब्दका ब्रह्मज्ञान अर्थ होगा, तो मैत्रेयीके प्रति 'एहि आस्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्व' यह महर्षि याज्ञवल्क्यका वचन असङ्गत हो जायगा, क्योंकि उस समय मैत्रेयीको ब्रह्मज्ञान तो है नहीं । इस शङ्काका निराकरण करते हैं—**'साधनम्'** इत्यादिसे ।

निदिध्यासनशब्दके वाक्यार्थनिश्चय और निश्चय-फल ब्रह्मात्मैक्यज्ञान ये दोनों अर्थ हैं । प्रकृतमें ब्रह्मज्ञानसाधन वाक्यार्थविषयक निश्चयका ही योग्यता-वश ग्रहण करना चाहिए, फलाभिमुख्यका अर्थात् ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानका नहीं, क्योंकि 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इत्यादि वाक्यमें ही फलाभिमुख्यका ग्रहण है, उसके साधनका नहीं । 'विज्ञाय' इस शब्दसे ही साधनका ग्रहण सिद्ध है, क्योंकि श्रवणादिके निष्पन्न होनेपर ही 'विज्ञाय' यह कथन ठीक होता है, अन्यथा नहीं ॥ ३२७ ॥

प्रसंख्यानविधिके निराकरणका उपसंहार करते हैं—**'बहुनाऽत्र किमुक्तेन'** इत्यादिसे ।

बहुत कहांतक कहें, आपका अभीष्ट प्रसंख्यान श्रुतिमें कहींपर भी विहित नहीं है । इसी तरह अध्यात्मशास्त्रोंमें भी मोक्षोपायरूपसे कहीं भी विहित नहीं है, अतएव अप्रामाणिक होनेसे मुमुक्षुओंको सर्वथा अनुपादेय हैं ॥ ३२८ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूषितं कार्यसामान्यं तद्विशेषाश्च दूषिताः ।
निरोधः प्रतिपत्तिश्च प्रसङ्ख्यानमिति त्रयः ॥ ३२९ ॥
अथ ते निखिलाः कार्यवादिनोऽखण्डवस्तुनि ।
वेदान्तानां प्रमाणत्वमाक्षिपन्त्यतिसम्भ्रमात् ॥ ३३० ॥
अलौकिकत्वात् संसृष्टसंसर्गनियतत्वतः ।
अपुमर्थेन वेदस्य मिथ्यात्वाच्च न मानता ॥ ३३१ ॥

उक्त अर्थको दृढ़ करनेके लिए वृत्तानुवादपुरःसर आक्षेपोंका अवतरण करते हैं—**'दूषितम्'** इत्यादिसे ।

कार्यार्थमें ही प्रथम व्युत्पत्तिग्रह होता है, इसलिए कार्यमें ही शब्द प्रमाण है सिद्धार्थ ब्रह्ममें नहीं, यह दूषित किया जा चुका है । 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादि वाक्यसे सिद्धार्थमें भी शब्दका शक्तिग्रह होता है । कार्यविशेषरूप नियोगमें शब्द प्रमाण है । 'नियोगार्थैकरागिणः' इत्यादिसे अनुवाद कर 'वैदिकेन नियोगेन किं कार्यं वद बुद्धिमन्' इत्यादि वाक्योंसे कार्यविशेष नियोगशब्दार्थ है, इसका भी खण्डन हो चुका है । वासनाके निरोधमें वेदान्तका तात्पर्य है, अतः उसीमें वह प्रमाण हो सकता है, ब्रह्ममें नहीं, इसका भी 'तासां निरोधोऽसंभाव्यो जन्मन्येकत्र मानवैः' इत्यादिसे खण्डन हो चुका है । 'प्रतिपत्तिविधौ शास्त्रतात्पर्यं किञ्चिदूचिरे' इत्यादि वाक्योंसे प्रतिपत्ति-विधिपरक वेदान्त हैं, इसका भी निराकरण कर चुके हैं । 'अन्योऽप्यनुभवोपायो मननध्यानलक्षणः' इत्यादिसे प्रसंख्यानका अनुवाद कर पराक्रमपुरःसर इसका भी निराकरण कर चुके हैं । इससे कार्यादि दो और निरोधादि तीनकी सङ्कलनासे पाँचोंका निराकरण सयुक्तिक हो चुका ॥ ३२९ ॥

फिर भी सब कार्यवादी वेदान्तके प्रामाण्यका आक्षेप करते हैं—**'अथ ते'** इत्यादिसे ।

पूर्वोक्त कार्यवादी सब मिलकर अखण्ड ब्रह्मवस्तुमें वेदान्तके प्रामाण्यका अतिसाहससे आक्षेप करते हैं ॥ ३३० ॥

आक्षेपका प्रकार कहते हैं—**'अलौकिकत्वाद्'** इत्यादिसे ।

वेदके अप्रामाण्यमें पाँच हेतु देते हैं, जीव और ब्रह्म अलौकिक अर्थात् लौकिक प्रमाणके अगोचर हैं। अतः उनमें शब्दशक्तिग्रह नहीं हो सकता, क्योंकि अशक्य शब्दका अर्थ नहीं हो सकता । उसमें शब्दका प्रयोग होनेपर अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य निश्चित है, मतभेदसे संसृष्ट पदार्थ अथवा पदार्थसंसर्ग शब्दका अर्थ होता है, अखण्ड ब्रह्म न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलौकिकार्थवादित्वादात्मब्रह्माभिधानयोः ।
सम्बन्धाग्रहणादात्मा ब्रह्मेति कथमुच्यते ॥ ३३२ ॥
ज्ञातार्थसङ्गतिः शब्दो वाक्यार्थावगतिक्षमः ।
न चाऽत्र सङ्गतिर्ज्ञातुं शक्यतेऽर्थाप्रसिद्धितः ॥ ३३३ ॥
ब्रह्मात्मार्थौ प्रसिद्धौ चेल्लोकादेव तदा तयोः ।
मान्तरानुप्रवेशेन वाक्यं स्यादनुवादकम् ॥ ३३४ ॥

संसर्ग ही है और न संसृष्टार्थ ही है, अतः असंसृष्ट ब्रह्मरूप अर्थमें शब्द प्रमाण नहीं हो सकता। ब्रह्म पुरुषार्थ भी नहीं है, अतः निष्प्रयोजन होनेसे भी उक्त अर्थमें वेद प्रमाण नहीं हो सकता। ब्रह्मसे अतिरिक्त सभी पदार्थोंके मिथ्या होनेसे तदन्तर्गत वेद भी मिथ्या ही है, अतः उसमें प्रामाण्यकी सम्भावना ही कैसे हो सकती है ? ॥ ३३१ ॥

प्रथम पक्षमें अप्रामाण्यके आक्षेपके हेतुको स्फुट करते हैं—'**अलौकिकार्थ०**' इत्यादिसे ।

ब्रह्म और आत्मा प्रमाणान्तरसे ज्ञात हैं अथवा अज्ञात ? प्रथम पक्षमें प्रमाणके अगोचर अर्थमें शब्दका शक्तिग्रह हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रमाणसे उपस्थित अर्थमें ही शब्दका शक्तिग्रह होता है अर्थात् गृहीतशक्तिक पुरुषद्वयके व्यवहारसे समीपस्थ अव्युत्पन्नको प्रत्यक्षादि दृष्ट अर्थमें शब्दका शक्तिग्रह होता है, यह सर्वसम्मत मार्ग है। अलौकिक होनेसे उसमें व्यवहार द्वारा शक्तिग्रह न होनेपर अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्य वेदमें प्रसक्त होगा। अर्थके—ब्रह्म और आत्माके—वाचक शब्द यदि अलौकिकार्थक हैं, तो उनमें शक्तिग्रह होगा नहीं, फिर आत्मा और ब्रह्म शब्दका प्रयोग कैसे कर सकते हैं ? श्रोताको अर्थबोध हो, इसलिए शब्दका प्रयोग होता है, जो अर्थके बोधक नहीं हैं, उनका प्रयोग ही असङ्गत है ॥ ३३२ ॥

इसीको स्पष्ट करते हैं—'**ज्ञातार्थ०**' इत्यादिसे ।

जिस पदमें शक्तिग्रह होता है, वही वाक्यार्थबोधनमें समर्थ है। आत्मा तथा ब्रह्मके अलौकिक होनेपर उन शब्दोंमें शब्दशक्तिग्रह तो हो नहीं सकता, फिर वे वाक्यार्थबोधक कैसे होंगे ? ॥ ३३३ ॥

द्वितीय पक्षके अभिप्रायसे कहते हैं—'**ब्रह्मात्मार्थौ**' इत्यादि ।

यदि आत्मा तथा ब्रह्म ये दोनों अर्थ प्रमाणान्तरके गोचर हैं, अतएव प्रसिद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्यं संसर्गबोध्येवाऽभिहितान्वयवादिनः ।
अन्विताभिधाने तु संसृष्टस्यैव मेयता ॥ ३३५ ॥

हैं, तो लोकसे ही अर्थात् लौकिक प्रमाणसे ही इन दोनोंका बोध हो जायगा, फिर इन दोनों अर्थोंमें वेदका प्रयोग होनेसे वेद अनुवादक हो जायगा, अतः उसमें ज्ञातज्ञापकत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति निश्चित ही होगी, जैसे अनुभूतार्थ-बोधक स्मरण अप्रमाण होता है, वैसे ही प्रमाणान्तरसे प्रमित अर्थका बोधक वेद भी अप्रमाण ही होगा ॥ ३३४ ॥

'वाक्यम्' इत्यादि । अभिहितान्वयवादी नैयायिक तथा भट्टपाद आदि हैं । अन्विताभिधानवादी प्राभाकर आदि हैं । अन्तिम पक्ष इस प्रकार है—पदोंकी शक्ति पदार्थमात्रमें नहीं होती है, किन्तु इतरपदार्थान्वित स्वार्थमें होती है । जैसे 'गामानय' इस वाक्यमें दो पद हैं—गाम् और आनय । यहांपर गोपदकी शक्ति केवल गोमें नहीं है, किन्तु आनयनान्वित गोमें है एवं 'आनय' पदकी शक्ति केवल आनयनमें नहीं है, किन्तु गवान्वित आनयनमें है ।

यद्यपि इस प्रकार शक्ति माननेपर 'गामानय', 'गां पश्य' इत्यादि अनेक वाक्योंमें शक्तिग्रह व्यवहारसे तो हो नहीं सकता और व्युत्पन्नको गोपदघटित अनेक वाक्योंसे शाब्दबोध होता ही है, इसलिए व्यभिचार होगा, अतः ऐसा शक्तिग्रह मानना ठीक नहीं है, तथापि आनयन, दर्शन आदि पदार्थोंका इतरत्वेन अनुगम करके इतरपदार्थान्वित गोपदार्थमें गोपदकी शक्ति माननेपर—गोपद इतरपदार्थान्वित गोपदार्थमें शक्त है, इस तरह शक्तिग्रह माननेपर—व्यभिचारका परिहार हो जाता है, अतः 'आनय' पद इतरपदार्थान्वित आनयनमें ही शक्त है । इसी प्रणालीसे निखिलशब्दोंमें शक्ति माननेमें कोई दोष नहीं है । यदि यह कहिए कि इस प्रकार शक्ति माननेमें गौरव है, अतः लाघवसे गोपद गोरूप अर्थमें ही शक्त है, ऐसा ही शक्तिग्रह क्यों नहीं मानते, तो इसका उत्तर यह है कि शाब्दबोधमें अपदार्थके भानका वारण करनेके लिए तद्विषयक शाब्द-बोधमें तत्पदनिष्ठशक्तिग्रहाधीन तद्विषयक उपस्थिति कारण है, ऐसा कार्यकारणभाव मानना आवश्यक है । किसी पदसे यदि संसर्गकी उपस्थिति न होगी, तो तद्विषयक शाब्दबोधमें उक्त कार्यकारणभावका व्यभिचार होगा, इसलिए संसर्गमें भी शक्ति मानना आवश्यक है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि यह कहिए कि वाक्यार्थबोधका विषय संसर्ग अपूर्व है, अतः वाक्यार्थबोधसे पहले तत्तत्संसर्गकी उपस्थिति नहीं हो सकती और संसर्गत्व अनुगत धर्म भी नहीं है, जिससे कि संसर्गत्वेन सकल संसर्गमें शक्ति मान सकें, तो इसका उत्तर यह है कि संसर्गतावच्छेदकत्वोपलक्षित संसर्गमें शक्ति माननेसे सकल संसर्गोंमें शक्ति माननेमें कोई बाधा नहीं है, अतएव बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वेन घटत्व, पटत्व आदिका अनुगम करके घटत्वादिविशिष्टमें घटादि पदकी शक्ति मानी जाती है। अच्छा, तो यह कहिए कि इतरपदार्थान्वित घटमें घटपदकी शक्ति मानते हो, तो इतर पदार्थ पदान्तरसे अनभिहित अपेक्षित है या अभिहित? प्रथम पक्षमें आनयनादिसे अन्वित घटादि पदकी शक्तिसे ही आनयन आदि अर्थका बोध हो जायगा, फिर आनयन आदिमें शक्ति मानना व्यर्थ है।

द्वितीय पक्षमें परस्पराश्रय दोष है। जैसे 'गामानय' यहांपर 'आनय' पद जबतक गोपदसे अभिहित गवान्वित आनयनका अभिधायी न होगा, तबतक आनयनपदसे अभिहित आनयनान्वित गोमें गोपदकी शक्ति नहीं हो सकती एवं गोपद जबतक आनयनपदसे अभिहित आनयनान्वित गवाभिधायी न होगा, तबतक 'आनय' पद गोपदसे अभिहित गवान्वित आनयनका अभिधायी नहीं हो सकता, इस रीतिसे गोपदकी शक्ति आनयनपदकी शक्तिके अधीन है और आनयपदकी शक्ति गोपदकी शक्तिके अधीन है एवं गोपदके आनयनान्वित गवाभिधान करनेके बाद आनयपद आनयनाभिधायी होगा, और आनयपदके गवान्वित आनयनाभिधान करनेके बाद गोपद गवार्थाभिधायी होगा, इस प्रकार परस्पराश्रय दोष है। यदि परस्पराश्रय दोषके परिहारके लिए यह कहिए कि पहले निरपेक्ष दो पद असंसृष्ट स्वार्थके अभिधायक होते हैं, बाद परस्परान्वितके—गवान्वित आनयन और आनयनान्वित गोके—अभिधायक होते हैं, तो एक-एक पदको दो बार अभिधायक मानना पड़ेगा। एकबार केवल स्वार्थ और द्वितीय बार इतरान्वित स्वार्थ, यह प्रमाण और उपपत्तिशून्य कल्पना 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं प्रत्याययति' इस अनुशासनके विरुद्ध है।

अच्छा तो पदोंको दो बार पदार्थाभिधायक न मानेंगे, किन्तु साहचर्यवश पहले स्वार्थका स्मारक और पीछे अन्विताभिधायक मानेंगे, यदि ऐसा कहें, तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि साहचर्यदर्शनकालमें अन्वितका ही अनुभव होता है, अतः अन्वितका ही स्मरण होगा, केवलका नहीं। पदार्थमात्रके ज्ञानके लिए शब्दका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग नहीं होता, किन्तु व्यवहारके लिए होता है। व्यवहार अन्वितका ही होता है, इसलिए अन्वितका स्मरण होगा, अनन्वितका नहीं। एवञ्च 'गां पश्य' इस वाक्यसे गोपद पूर्वानुभूत आनयनान्वित गवार्थका स्मारक होगा और 'पश्य' पद अनाकाङ्क्षित तथा असङ्गत ही होगा इत्यादि अन्विताभिधानवादीके मतका संक्षेप है।

अभिहितान्वयवादी कहते हैं—गवादिपदकी गवादि अर्थमात्रमें शक्ति है, संसर्गका भान आकाङ्क्षासे हो जायगा। विशिष्टमें शक्ति माननेमें गौरव होगा। 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इस न्यायसे पदार्थमें ही शक्ति उचित है, 'तदर्थविषयक' इत्यादि पूर्वोक्त कार्यकारणभावमें व्यभिचारके वारणके लिए तद्धर्मप्रकारक शाब्दबोधमें तद्धर्मप्रकारकोपस्थिति कारण है, यह कार्यकारणभाव मानते हैं। संसर्गबोध किञ्चिद्धर्मप्रकारक नहीं होता, अतः पदानुपस्थित संसर्गका भान हो जायगा। संसर्गमें शक्ति न माननेसे संसर्गभानका कोई नियामक नहीं होगा, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आकाङ्क्षा ही नियामक है। किसी पदका किसी पदके साथ किसी सम्बन्धसे स्वार्थान्वयबोधकी आकाङ्क्षा होती है, जैसे 'नीलो घटः'। यहांपर नील और घट—इन दो पदोंमें अभेदसम्बन्धसे ही स्वार्थान्वयबोधनकी आकाङ्क्षा है, सम्बन्धान्तरसे नहीं, अतः अभेदसम्बन्ध ही यहांपर भासित होगा। जिन पदोंमें अनेक सम्बन्धसे स्वार्थान्वयबोधनकी आकाङ्क्षा है, ऐसे 'द्रव्यं घटवत्' इत्यादि स्थलोंमें संयोग और समवायसे आकाङ्क्षा है, अतः वहां सम्बन्धविशेषका शाब्दबोधमें भान माननेमें कोई क्षति नहीं है अन्यथा संसर्गमें शक्ति माननेपर भी किसी संसर्गका किसी स्थलमें भान होता है किसीका नहीं, इसमें क्या नियामक होगा? शक्यकोटिमें संसर्गसामान्यका ही प्रवेश हो सकता है। फिर उक्त स्थलमें संयोगका भान हो अथवा समवायका, इसका नियामक तात्पर्यके बिना और क्या हो सकता है?

यदि शक्तिके बिना संसर्गविशेषकी उपस्थिति ही दुर्घट है और अनुपस्थित संसर्गमें तात्पर्यग्रह हो नहीं सकता, इसलिए संसर्गमें शक्ति आवश्यक है, ऐसा कहिए तो इसका उत्तर यह है कि उद्बोधकान्तरसे उपस्थित संसर्गमें तात्पर्यग्रह हो सकता है। उसके लिए अन्वयमें शक्ति माननेकी आवश्यकता नहीं है, अतः घटत्वादिविशिष्टमें ही घटादिपदकी शक्ति लाघवसे मानी जाती है, संसर्गविशिष्टमें नहीं यह अभिहितान्वयवादी नैयायिकोंके मतका संक्षेप है।

अभिहितान्वयवादी भट्टपादका मत यह है—पदसमुदायका श्रवण होनेपर भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि विषयान्तरमें आसक्त मन रहता है, तो शाब्दबोध नहीं होता। पद द्वारा पदार्थका स्मरण होनेपर अवश्य शाब्दबोध होता है, इस अन्वय और व्यतिरेकसे पदार्थ-स्मृति वाक्यार्थके बोधकी हेतु है, यह निश्चय होता है। उद्बोधकान्तरसे पदार्थका स्मरण होनेसे भी शाब्दबोध नहीं देखते, इसलिए स्मरण शाब्दबोधका कारण है, यह मानना ठीक नहीं है, कारण कि स्मरणमात्रमें सामर्थ्य नहीं है, आकाङ्क्षादिसहकृत पदसमुदायसे जायमान पदार्थका स्मरण शाब्दबोधका हेतु है। आकाङ्क्षादि कारण-विशेषसे स्मरणमें अपूर्व सामर्थ्यविशेष उत्पन्न होता है, अतएव संस्कारसहकृत इन्द्रियसे प्रत्यभिज्ञामें पूर्वापरदेशकालसम्बद्ध एक अर्थका बोध होता है। पद पदार्थमात्रका प्रतिपादन कर विरत हो जाते हैं, पश्चात् पदार्थहेतुक वाक्यार्थबोध होता है। पदार्थसे यदि वाक्यार्थबोध मानें, तो पदार्थ सप्तम प्रमाण हो जायगा ?

इसका उत्तर यह है कि पदार्थप्रतिपादनमात्रसे वक्ताका तात्पर्य पर्यवसन्न नहीं होता, क्योंकि पदार्थ तो प्रमाणान्तरसे सिद्ध ही रहता है, इसलिए तात्पर्यकी अनुपपत्तिसे पश्चाद् वाक्यार्थमें लक्षणा मानी जाती है। कहा भी है—

'साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्य्यवस्यन्ति निष्फले॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकं।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥' इत्यादि

यदि पद पदार्थस्वरूपमात्रका प्रतिपादन करेंगे, तो वाक्यप्रामाण्यकी अनुपपत्ति होगी, इसलिए लक्षणा आवश्यक है। लक्षणामें वाक्यप्रामाण्यकी अनुपपत्ति कहा गया ही बीज है।

न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः।
वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थितिः॥

इत्यादि अभिहितान्वयवादीके मतका संक्षेप है। वेदान्ती व्यवहारदशामें भट्टमतानुसारी हैं, यह प्रसिद्ध है, इसलिए वेदान्तमत इस विषयमें पृथक् नहीं है। भट्टमत ही वेदान्तमत है।

श्लोकार्थ—वाक्य अभिहितान्वयवादीके मतमें संसर्गका बोधक होता है और अन्विताभिधानवादीके मतमें संसृष्ट—संसर्गविशिष्ट—पदार्थका बोधक होता है॥ ३२५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखण्डैकरसार्थस्य मेयता न क्वचिन्मते ।
पुमर्थश्चाऽस्ति नाऽखण्डे हानोपादानवर्जनात् ॥ ३३६ ॥
अखण्डत्वाय जगतो मिथ्यात्वे सति वैदिकम् ।
वचोऽपि मिथ्याभूतं सत्कथं मानं भविष्यति ॥ ३३७ ॥
अतो वेदान्तमानेन यदखण्डार्थबोधनम् ।
तन्मनोराज्यमेवेति जल्पतामिदमुत्तरम् ॥ ३३८ ॥

'अखण्डैकरसा०' इत्यादि । किसीके मतमें वाक्य अखण्डैकरस अर्थका बोधक नहीं माना जाता, क्योंकि अखण्डमें हान और उपादान हो ही नहीं सकता, इसलिए उसमें पुरुषार्थ (सुखप्राप्ति या दुःखपरिहारस्वरूप कोई पुरुषार्थ) होनेकी सम्भावना ही नहीं है, और वेदान्त अपुरुषार्थपरक होनेसे उसमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होगी, अतः निष्प्रयोजनत्वलक्षण अप्रामाण्यकी प्रसक्ति हो जायगी ॥३३६॥

अपुमर्थप्रयुक्त यह तृतीय आक्षेप है, यह कहते हैं—**'अखण्डत्वाय'** इत्यादिसे ।

अखण्ड ब्रह्मकी सिद्धिके लिए जगत्को मिथ्या मानना आवश्यक है, जगत् ब्रह्मसे अतिरिक्त विवक्षित है, अतः वेद भी यदि ब्रह्मसे अतिरिक्त होनेके कारण मिथ्या ही माना जाय, तो मिथ्याभूत वेदवाक्य ब्रह्ममें कैसे प्रमाण होगा ? क्योंकि मिथ्या वाक्य तो अनृतार्थक हैं । जैसे नदीतीरमें पांच फल हैं, यह किसीने कहा, वहाँ जानेपर एक भी फलकी यदि उपलब्धि नहीं हुई तो वह वाक्य मिथ्या कहलाता है, वैसे ही यदि वेदवाक्य मिथ्या होगा, तो किसी भी अर्थकी सिद्धि नहीं होगी, इस परिस्थितिमें 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्ममें वेदैकवेद्यत्वकी सिद्धि कैसे होगी ॥ ३३७ ॥

'अतो वेदन्तमानेन' इत्यादि । पूर्वोक्त दूषणसे वेदान्तवाक्यसे अखण्ड-ब्रह्मबोधन मनोराज्यसम है, जैसे मनसे राज्यकी कल्पना कर उसका राजा अपनेको मानकर पुरुष कुछ काल्पनिक सुख कर लेता है, परन्तु कल्पनामात्रसे न तो राज्य ही सिद्ध होता है और न स्वयं पुरुष उसका राजा ही बनता है, वैसे ही अखण्ड ब्रह्मकी कल्पना भी है । यह आक्षेप करनेवालोंके प्रति वक्ष्यमाण उत्तर है । लौकिक अर्थ प्रमाणसे उपस्थित होता है और वृद्धव्यवहार द्वारा उसमें शक्तिका ग्रह होता है ॥ ३३८ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसिद्धात्मन्यात्मशब्दप्रयोगात् स हि लौकिकः ।
ब्रह्मार्थोऽपि महत्त्वेन प्रसिद्धो व्यवहारतः ॥ ३३९ ॥
एवं पदात् परिज्ञाते पदार्थे लोकमानतः ।
वाक्यार्थोऽतीन्द्रियो वेदवाक्यात् केन निवार्यते ॥ ३४० ॥
अपूर्वदेवतास्वर्गपदार्थाँल्लोकमानतः ।
व्युत्पाद्याऽलौकिकोऽप्यर्थो वाक्याद् बुद्धस्त्वया यथा ॥३४१॥

ब्रह्म लौकिक प्रमाणका गोचर नहीं है, अतएव उसका व्यवहार तो हो नहीं सकता, क्योंकि शक्तिग्रहोपायके न होनेसे उसमें शक्तिग्रह नहीं हो सकता। इस आक्षेपका परिहार करते हैं—'प्रसिद्धात्मन्यात्मशब्द०' इत्यादिसे।

आत्मा अलौकिक है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहं घटं जानामि' इत्यादि प्रतीतिसे विषयका ग्राहक आत्मा सबके लौकिक मानस प्रत्यक्षसे सिद्ध है। अतः तदर्थबोधक आत्मशब्द लौकिक ही है, अलौकिक नहीं। ब्रह्मशब्द भी अवयवार्थ व्युत्पत्तिसे प्रसिद्ध ही है, 'बृहयति लोकमिति ब्रह्म 'बृह बृहि वृद्धौ' इन धातुओंसे ब्रह्मशब्द बनता है। बृहत्त्व अर्थात् महत्त्व सबसे बड़ा निरवधि महत्त्व ब्रह्ममें ही है अथवा लोकवर्द्धक ब्रह्म ही है। ब्रह्मकी सत्ता ही से लोककी वृद्धि होती है, आत्मा और ब्रह्म वस्तुतः एक ही हैं। सात्मक शरीरकी वृद्धि होती है, निरात्मककी नहीं, यह लोकमें प्रसिद्ध है। आत्मा और ब्रह्म दोनों प्रसिद्ध हैं, अतः व्यवहारसे उन दोनोंमें शक्तिग्रह हो सकता है। अतः शक्तिग्रहोपायके अभावका आक्षेप सर्वथा निर्मूल है ॥ ३३९ ॥

'एवम्' इत्यादि। पूर्वोक्त रीतिसे आत्मा और ब्रह्म इन दो पदोंसे आत्मा और ब्रह्म ये दोनों पदार्थ लोकव्यवहारसे ज्ञात यद्यपि हैं, तथापि अखण्डैकरसस्वरूप वाक्यार्थबोध प्रमाणान्तरागोचर होनेसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य द्वारा होता है, अतः तदर्थमें उक्त वाक्य अनुवादक नहीं हो सकता। जिससे अप्रामाण्यकी शङ्काका सम्भव हो ॥ ३४० ॥

उक्त अर्थमें दृष्टान्त कहते हैं—'अपूर्व०' इत्यादिसे।

कृतिसाध्य कृतिप्रधान कार्य अपूर्व है, वह मानान्तरसे भी वेद्य है, न्यायसे और लोकसे अधिगत है। इन्द्रादि देवता भी लोकसिद्ध है, क्योंकि इन्द्रकी वज्रहस्त और वरुणकी पाशहस्त प्रतिमा लोग लिखते हैं, यह प्रसिद्ध है। सुखविशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथाऽर्थवादादिबलात् स्वर्गाद्यर्थोऽवगम्यते ।
तर्ह्यवान्तरवाक्येन ब्रह्मार्थोऽप्यवगम्यते ॥ ३४२ ॥

या लोकविशेष स्वर्ग भी लोकप्रसिद्ध है। स्वर्गापूर्वादि लोकसिद्ध पदार्थमें स्वर्गादि पदका शक्तिग्रह और गृहीतशक्तिक पदसमुदायात्मक वाक्यसे विशिष्टार्थविषयक वाक्यार्थबोध होता है, यह सर्वानुभव सिद्ध है। इसी प्रकार लोकसिद्ध आत्माद्यर्थमें आत्मादिका शक्तिग्रह होनेपर तद्घटित वाक्य द्वारा तदेकरस वाक्यार्थ सिद्ध होता है। यहांपर यह शङ्का होती है कि पदार्थसे अतिरिक्त वाक्यार्थ नहीं है, क्योंकि पदार्थका ज्ञान पदसे ही होता है फिर वाक्यकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि मध्यम वृद्धका प्रवर्त्तक ज्ञान एक पदसे तथा अनाकाङ्क्षित गौरश्वः पुरुषः इत्याद्यनेक पदोंसे भी नहीं होता, किन्तु आकाङ्क्षादिसे युक्त गामानय इत्यादि पदके समुदायसे ही होता है, अतः पदार्थातिरिक्त तदीय संसर्गरूप वाक्यार्थबोधके लिए पदातिरिक्त वाक्य मानना अत्यावश्यक है ?

शङ्का—पदार्थकी प्रतीति पदसे होती है और सान्निध्यादिसे युक्त प्रतीत पदार्थसे वाक्यार्थबुद्धि होती है, वाक्यसे नहीं, ऐसा मानेंगे।

उत्तर—व्युत्पत्ति-अवस्था, शक्तिग्रहावस्था तथा शक्तिग्रहके अनन्तर ही वाक्य वाक्यार्थबोधके लिए प्रयुक्त होता है। पदार्थ वाक्यार्थका प्रत्यायक भी नहीं होता, कारण कि पदार्थ प्रमाण नहीं है और ऐसा माननेसे वाक्यार्थ अशाब्द भी हो जायगा। व्यवहारदशामें वाक्यार्थज्ञान होनेपर ही 'इस पदकी इस अर्थमें शक्ति है' यह ज्ञान होता है। शक्तिग्रह विशिष्टवाक्यार्थज्ञानमें ही उपयोगी होता है, इसलिए वाक्यार्थ बोधके लिए ही सर्वत्र पदका प्रयोग होता है। लोकप्रमाणसे स्वर्गापूर्वादि अर्थमें शक्तिका ग्रहण कर अलौकिक स्वर्गादि अर्थ जैसे वाक्यसे आपको ज्ञात होता है वैसे ही लोकप्रमाणसे आत्मादि अर्थमें शक्तिग्रहके बाद पूर्वोक्त एक वाक्यार्थका बोध हमारे मतमें भी होता है ॥ ३४१ ॥

स्वर्गादि अपूर्व पदार्थ वृद्धव्यवहारमात्रसे सिद्ध नहीं होते, किन्तु 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्' इत्यादि अर्थवादसे होते हैं, अतः यह दृष्टान्त प्रकृतमें ठीक नहीं है, यह शङ्का करते हैं—'अथाऽर्थवादादि०' इत्यादिसे।

यदि यह कहा जाय कि उक्त अर्थवादके बलसे अपूर्व स्वर्गादिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्रसिद्धपदार्थोऽपि प्रसिद्धार्थपदैः सह ।
समभिव्याहृतो बोद्धुं शक्यो मधुकरादिवत् ॥ ३४३ ॥
अतो लोकानुसारिण्या व्युत्पत्त्याऽर्थोऽप्यलौकिकः ।
धर्मब्रह्मात्मकः सिद्ध्येत्तत्र कस्मादमानता ॥ ३४४ ॥
नृविवक्षाव्यवहिते लोके शङ्का भवेदपि ।
वेदे त्वपौरुषेयत्वात् साक्षात् स्वार्थे प्रमाणता ॥ ३४५ ॥

परिज्ञान होता है, वृद्धव्यवहारसे नहीं, तो प्रकृतमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिसे आरम्भ कर 'तत् सत्यं स आत्मा' इस तात्पर्य्यान्त ग्रन्थसे वाक्यार्थ-ज्ञानसे पूर्व ब्रह्मार्थका भी ज्ञान होता है, यह हम भी कह सकते हैं ॥३४२॥

'अप्रसिद्ध०' इत्यादि । 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यादि स्थलमें गृहीतशक्तिक प्रभिन्नकमलोदर आदि पदके समभिव्यवहारबलसे जैसे अप्रसिद्ध मधुकरशब्दमें शक्तिग्रह होता है, वैसे ही ब्रह्मशब्दका अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें शक्तिग्रह होता है, यह हमारे मतमें भी स्फुट है ॥३४३॥

व्युत्पत्तिग्रहके समर्थनका उपसंहार करते हैं—'**अतो लोका०**' इत्यादिसे ।

इस प्रकार लोकानुसारिणी व्युत्पत्तिसे अलौकिक आत्मादि अर्थ अर्थात् धर्म और ब्रह्म आदि पदार्थ सिद्ध होते हैं, क्योंकि जैसे आपके मतमें धर्ममें वेद प्रमाण है, वैसे ही ब्रह्ममें भी वेद प्रमाण है, उसमें अप्रमाण कैसे होगा ? वक्ताके तात्पर्य्यके अनुरोधसे लौकिक बाक्यमें अप्रामाण्यकी शङ्का हो सकती है, किन्तु अपौरुषेय वेदमें तो शङ्काका सम्भव ही नहीं है । और शब्दमें स्वतः दोषकी सम्भावना भी नहीं कर सकते, क्योंकि वक्तृदोषसे ही शब्द दुष्ट होता है, अतः दोषके बिना अप्रामाण्यकी शङ्का ठीक नहीं है ॥ ३४४ ॥

लौकिक वाक्यार्थके सदृश वैदिक वाक्यार्थ भी मानान्तरका विषय है, अतः लौकिक वाक्यके समान वैदिक वाक्यमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्यकी क्षति होगी, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—'**नृविवक्षा०**' इत्यादिसे ।

लौकिक वाक्यमें पुरुषकी विवक्षाका सम्बन्ध है । पुरुषकी विवक्षा अनियत है, अतः दृष्टार्थक शब्दमें अप्रामाण्यकी शङ्का हो भी सकती है । वेदमें तो विवक्षाका सम्बन्ध है नहीं, अतः उसके द्वारा दोषकी सम्भावना ही नहीं हो सकती, अतः स्वार्थके बोधनमें निरपेक्षत्वलक्षण प्रामाण्य वेदवाक्यमें अक्षुण्ण है ॥३४५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थाऽवबोधकत्वेन दुष्टकारणवर्जनात् ।
अबाधाच्च प्रमाणत्वं वस्तुन्यक्षादिवच्छ्रुतेः ॥ ३४६ ॥
अन्यत्रेवाऽत्र वाक्यार्थो नैव संसृष्टलक्षणः ।
संसर्गलक्षणो वा स्यात्किंत्वखण्डार्थलक्षणः ॥ ३४७ ॥
ब्रह्मणो नाऽऽत्मतारूपमब्रह्मत्वं तथाऽऽत्मनः ।
अज्ञानजं द्वयं द्वाभ्यां पदाभ्यां विनिवार्यते ॥ ३४८ ॥

'अर्थाव०' इत्यादि। अबोधकत्व, सांशयिकत्व और विपर्ययहेतुत्व ये ही अप्रामाण्यके प्रयोजक दोष हैं। शक्तिग्रहोपायका निरूपण करनेसे अबोधकत्वलक्षण अप्रामाण्यकी शङ्काका निराकरण हुआ। दोषके निराकरणसे संशय और विपर्य्ययका निरास हुआ। इस तरह अप्रामाण्यके कारणका निराकरण करनेसे वेदान्तमें प्रामाण्य सुस्थिर रहा। जैसे घटादि वस्तुमें चक्षुरादि प्रमाण हैं, वैसे ही ब्रह्ममें 'सत्यज्ञानादि' शब्द प्रमाण हैं, और प्रमाणान्तरबाधकी तो शङ्का भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वाक्यार्थ अपूर्व होता है, अतः वह प्रमाणान्तरका विषय नहीं हो सकता। संसर्ग या संसर्गान्वित पदार्थका ही सर्वत्र शब्दसे बोध होता है। अखण्डार्थबोध 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे मानना असङ्गत है, क्योंकि उक्त बोध वाक्य द्वारा होता है, यह लोकमें कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं है ॥ २४६ ॥

'अन्यत्रेवाऽत्र' इत्यादि। 'गामानय' इत्यादि वाक्यसे जैसे संसृष्टार्थविषयक शाब्दबोध होता है, वैसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे नहीं होता। मतान्तरमें संसर्गविषयक शाब्दबोध जैसा उक्त वाक्यसे होता है, वैसा यहां भी अभीष्ट नहीं है, किन्तु अखण्डार्थविषयक शाब्दबोध ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे माना जाता है। यही वाक्यार्थबोध अविद्याका निवर्तक होनेसे मोक्षका साधन है, ज्ञानान्तर नहीं। यदि अखण्ड अर्थका उक्त वाक्यसे बोध मानते हो, तो एक ही पदसे उक्त अर्थका बोध हो जाता, फिर पदान्तरका उपादान व्यर्थ है ॥ ३४७ ॥

अर्थके बोधनके लिए शब्दका प्रयोग होता है, अदृष्टके लिए नहीं, इस शङ्काकी व्यावृत्तिके लिए कहते हैं—'ब्रह्मणो' इत्यादि।

यद्यपि शब्दद्वयसे एक अर्थका ही बोध होता है, दो अर्थका नहीं, तथापि दोनों शब्दोंका प्रयोजन है, अतः निष्प्रयोजनत्वप्रयुक्त वैयर्थ्य नहीं है। 'तत्' पद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेहान्यत्राऽऽत्मनो ब्रह्म न चाऽऽत्मा ब्रह्मणोऽन्यतः ।
तादात्म्यमनयोस्तस्मान्नीलोत्पलविलक्षणम् ॥ ३४९ ॥
नीलत्वमुत्पलत्वं च ह्यन्योन्यव्यभिचारिणी ।
आत्मब्रह्मत्वयोर्नाऽस्ति व्यभिचारो मनागपि ॥ ३५० ॥
अब्रह्मानात्मते यद्वदत्राज्ञाननिबन्धने ।
आत्मताब्रह्मते नैवं कल्पिते किन्तु ते स्वतः ॥ ३५१ ॥

आत्मामें अज्ञानसे आरोपित अब्रह्मत्वकी निवृत्तिके लिए है और 'त्वम्' पद ब्रह्ममें अज्ञानसे आरोपित अनात्मत्वकी व्यावृत्तिके लिए है, इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' ये दोनों पद सार्थक हैं, अर्थात् 'आत्मैव ब्रह्म ब्रह्मैवात्मा' यह निश्चय उक्त पदद्वयके विना नहीं हो सकता, इसलिए दोनों पदोंका उपादान आवश्यक है ॥ ३४८ ॥

'नेहान्यत्राऽऽत्मनो' इत्यादि । आत्मासे अतिरिक्त ब्रह्म नहीं है और ब्रह्मसे अतिरिक्त आत्मा नहीं है । आत्मा और ब्रह्मका तादात्म्य है, अतएव नीलोत्पलसे यह विलक्षण है । अग्रिम श्लोकसे वैलक्षण्यको ही स्पष्ट करते हैं ॥ ३४९ ॥

'नीलत्व०' इत्यादि । 'नीलोत्पलम्' यहांपर नील और उत्पलका जैसा तादात्म्य है, वैसा तादात्म्य आत्मा और ब्रह्मका नहीं है, किन्तु उनसे विलक्षण है । प्रकृतमें नीलत्वसे नीलगुण विवक्षित है, नीलगुणका उत्पलमें तादात्म्यसम्बन्धसे बोध उक्त वाक्यसे होता है, यह वेदान्ती तथा मीमांसकका मत है । नील उत्पलका व्यभिचारी है अर्थात् उत्पलसे अतिरिक्त वस्त्र आदि भी नील होता है एवं उत्पल भी नीलका व्यभिचारी है, क्योंकि सब कमल नीले नहीं होते; रक्त, श्वेत आदि भी कमल होते हैं । प्रकृतमें आत्मत्व और ब्रह्मत्व ये दोनों व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि आत्मासे अतिरिक्तमें ब्रह्मत्व नहीं रहता है और ब्रह्मसे अन्यमें आत्मत्व नहीं रहता है । अतः इन दोनोंका तादात्म्य नीलोत्पलके तादात्म्यसे भिन्न है । अतएव नीलोत्पलकी तरह भेदाभेद नहीं है, किन्तु भेदासहिष्णु अभेद आत्मा और ब्रह्मका है ॥ ३५० ॥

ब्रह्ममें अनात्मत्व और आत्मामें अब्रह्मत्वको जैसे अविद्याकल्पित मानते हैं, वैसे ही आत्मामें ब्रह्मत्व और ब्रह्ममें आत्मत्वको अविद्याकल्पित ही क्यों नहीं मानते ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए कहते हैं—**'अब्रह्मानात्मते'** इत्यादि ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न चाऽत्र नाम्नोः सम्बन्धे षष्ठी प्रामोत्यभेदतः ।
नरस्य वस्त्रमित्यर्थभेदे षष्ठी प्रयुज्यते ॥ ३५२ ॥

अनात्मत्व तथा अब्रह्मत्व आत्मप्रतियोगिक भेद और ब्रह्मप्रतियोगिक भेद-स्वरूप हैं, भेद अविद्याकल्पित है, पारमार्थिक नहीं है, कारण कि भेद माननेमें अन्योन्याश्रय दोष है। देखिये—भेद अभिन्नमें रहता है अथवा भिन्नमें ? प्रथम पक्षमें व्याघात है। द्वितीय पक्षमें भेदवान्में भेद रहता है, ऐसा कहनेपर दोनों भेद यदि एक ही हैं, तो आत्माश्रय दोष होता है। जबतक प्रथम भेद नहीं रहेगा तबतक भेदवान् नहीं होगा और जबतक भेदवान् न होगा तबतक भेद नहीं रह सकता, कारण कि भेदवान्में आप भेद मानते हैं। अतः स्वस्थितिमें स्वापेक्षा होनेसे आत्माश्रय दोष दुष्परिहर है। यदि इस दोषका वारण करनेके लिए दो भेद मानें, तो दूसरे भेदको लेकर फिर प्रश्न होता है कि द्वितीयभेद भिन्नमें रहता है या अभिन्नमें। द्वितीय पक्षमें पूर्ववत् व्याघात है। यदि भेद है, तो अभिन्न कहां ? यदि अभिन्न है, तो भेद कैसे रहेगा ? प्रथम पक्षमें द्वितीय भेदको लेकर फिर प्रश्न होता है कि द्वितीय भेद भिन्नमें रहता है या अभिन्नमें ? आद्य पक्षमें यदि दो भेद मानकर यह कहें कि प्रथम भेद लेकर भेदवान्में द्वितीय भेद और द्वितीय भेदसे भेदवान् मानकर प्रथम भेद रहता है, तो अन्योन्याश्रय होगा। द्वितीय भेदसे भेदवान् होनेपर प्रथम भेद रहेगा और प्रथम भेदसे भेदवान् होनेपर द्वितीय भेद रहेगा, ऐसा माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है। यदि अन्योन्याश्रय दोषके परिहारके लिए तीसरा भेद मानें, तो फिर तृतीय भेदको लेकर 'भिन्ने अभिन्ने वा' यह प्रश्न होगा। अभिन्न पक्षमें तो व्याघात ही रहेगा। भिन्न पक्षमें चक्रक और अनवस्था चलती रहेगी और उत्तरोत्तर भेदसे पूर्व-पूर्व भेद व्यर्थ होते जायँगे, कारण कि भिन्न इत्याकारक प्रतीति एक भेदसे भी उपपन्न हो सकती है, इस परिस्थितिमें अनेक भेदकी कल्पना निष्प्रामाणिक है। भेद विद्यमान वस्तुके बिना नहीं हो सकता, अतः भेद पारमार्थिक नहीं है, किन्तु अविद्या-कल्पित है। अभेद स्वतःसिद्ध पारमार्थिक है। ब्रह्मत्व और आत्मत्व एवं ब्रह्म और आत्मा अभेदस्वरूप ही हैं, इसलिए उक्त दो धर्म काल्पनिक नहीं हैं ॥ ३५१ ॥

'न चाऽत्र नाम्नोः' इत्यादि। जैसे 'नरः वस्त्रम्' ये समानविभक्तिक दो पद हैं, पर इनका सम्बन्ध अभेद नहीं है, किन्तु 'नरस्य वस्त्रं' (मनुष्यका वस्त्र है) इस प्रकार षष्ठी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न चाऽत्र भेदः सम्भाव्य एकव्यक्त्युपलक्षणात् ।
ब्रह्मात्मार्थपरीक्षायां व्यक्तिरेकोपलक्ष्यते ॥ ३५३ ॥
प्रत्यक्त्वमात्मता तद्वद्ब्रह्मत्वं चाऽद्वितीयता ।
द्वौ प्रत्यञ्चावसम्भाव्यौ तत्रैकस्य पराक्त्वतः ॥ ३५४ ॥

द्वारा भेदघटित स्वस्वामिभाव सम्बन्धकी प्रतीति होती है, वैसे ही 'तत्, त्वम्' ये दोनों पद यद्यपि समानविभक्तिक हैं तो भी 'तस्य त्वं' यह मानकर स्वस्वामिभाव सम्बन्धकी ही प्रतीति मानना उचित है । ऐसा माननेसे अखण्डार्थबोध उक्त वाक्यसे नहीं हो सकता । इस आक्षेपका उत्तर देते हैं—**'न चाऽत्र'** इत्यादिसे । 'तत् और त्वम्' इन दो नामोंके सम्बन्धमें भेदार्थक षष्ठी विभक्तिका ही 'नरस्य वस्त्रम्' इत्यादि स्थलकी तरह प्रयोग ठीक नहीं है, कारण कि नरका वस्त्रके साथ भेद है । अतः भेदार्थक षष्ठीका प्रयोग वहां उचित है । 'तत्त्वमसि' आदि स्थलमें अभेदका ही बोध मानना उचित है । ब्रह्म और आत्माका सर्वथा अभेद ही है, भेद नहीं है ॥ ३५२ ॥

'न चाऽत्र भेदः' इत्यादि । यदि 'तत्' और 'त्वम्' पदसे अखण्ड एक व्यक्ति विवक्षित है, तो उसमें शब्दप्रवृत्तिनिमित्त धर्म भी नहीं है । स्वप्रवृत्तिनिमित्त धर्मसे रहित अर्थमें उक्त शब्दका प्रयोग ही कैसे होगा ? यद्यपि उक्त शङ्का ठीक है कि शक्तिसे उक्त अर्थमें शब्दप्रयोग नहीं हो सकता, तथापि लक्षणासे शब्दका प्रयोग कर सकते हैं । एक व्यक्तिमें लक्षणासे पदसम्बन्ध हो सकता है । आत्मा और ब्रह्म ये दोनों एक ही व्यक्ति हैं, इसमें कारण यह है कि जैसे ब्रह्मशब्द अपरिछिन्न वस्तुका बोधक है, वैसे ही आत्मशब्द भी अपरिच्छिन्न अर्थका बोधक है । दोनोंमें सार्वात्म्य नहीं हो सकता, इसलिए दोनों एक व्यक्ति हैं ॥ ३५२ ॥

'प्रत्यक्त्व०' इत्यादि । [अनिर्वचनीयेभ्यः शरीरेन्द्रियादिभ्यः प्रतीपं सत्त्वेन अञ्चति इति प्रत्यक् ।] शरीरेन्द्रियादि अनिर्वचनीय हैं । उनसे आत्मा प्रतिकूल है अर्थात् 'सत्त्वेन निर्वचनार्हः' है । [प्रत्यक् चासौ आत्मा च प्रत्यगात्मा ।] प्रत्यगात्माको जैसे प्रत्यक्त्व है वैसे ब्रह्मत्व और अद्वितीयत्व भी स्वतःसिद्ध है और यह भी कारण है कि यदि अद्वितीय ब्रह्म प्रत्यगभिन्न न होगा, तो पराक्त्वेन घटादिके सदृश अनित्य हो जायगा । यही स्पष्ट करते हैं—**'द्वौ'** इत्यादिसे । दो प्रत्यक्की सम्भावना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः प्रत्यक्त्वमेवैतदद्वयत्वं न चेतरत् ।
तथाप्यविद्याविभ्रान्तिव्यावृत्त्यर्थं पदद्वयम् ॥ ३५५ ॥
आत्माऽपि सदिदं ब्रह्म मोहात् पारोक्ष्यदूषितम् ।
ब्रह्माऽपि संस्तथैवात्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते ॥ ३५६ ॥
आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात् ।
अखण्डे निष्ठितं शास्त्रं पुरुषार्थे समीहिते ॥ ३५७ ॥

नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त सार्वात्म्य असम्भव हो जायगा । इसलिए एकको अवश्य पराक् मानना पड़ेगा । अतः उक्त दोषके परिहारके लिए प्रत्यक् और ब्रह्मका ऐक्य अवश्य स्वीकार करना चाहिए ॥ ३५४ ॥

उक्त अर्थको ही कहते हैं—'अतः प्रत्यक्त्व०' इत्यादिसे ।

यदि आत्मा और ब्रह्म दोनोंका एक ही अर्थ है, तो एक ही पदसे अर्थका बोध हो जायगा, फिर आत्मा और ब्रह्म इन दोनों पदोंका साथ उच्चारण करना व्यर्थ है, इस शङ्काकी निराकृति पूर्वमें कर चुके हैं, उसीका यहांपर स्मरण कराते हैं—अविद्याजनित भ्रान्तिनिराकरणके लिए ही पदद्वयका उपादान है ॥ ३५५ ॥

वेदान्तवाक्योंके अखण्डैकरस ब्रह्मात्मामें समन्वयका उपसंहार करते हैं—'आत्माऽपि' इत्यादिसे ।

यद्यपि आत्मा सत्स्वरूप ब्रह्म ही है, तदतिरिक्त नहीं है, तथापि ब्रह्म परोक्ष है, इस प्रकार अज्ञानसे दूषित धारणा हो गई है । एवं ब्रह्म भी सदात्मस्वरूप ही है, अतिरिक्त नहीं है, किन्तु अज्ञानसे सद्वितीय अर्थात् आत्मातिरिक्त ब्रह्म है, यह विपरीत धारणा हुई है । वेदान्तवाक्योंसे ब्रह्ममें आत्माभेदके बोधनसे पारोक्ष्यका निराकरण होता है और आत्मामें ब्रह्माभेदका बोधन करानेसे सद्वितीयत्वका निरास होता है । परमानन्द और परमपुरुषार्थस्वरूप ब्रह्मात्मैक्यमें तात्पर्य द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त पर्यवसित होता है ॥ ३५६ ॥

'आत्मा ब्रह्मेति' इत्यादि । 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यसे पारोक्ष्य और सद्वितीयत्वका बाध होनेसे अखण्ड प्रपञ्चाभावोपलक्षित अनवच्छिन्नचिदानन्दोदासीन ब्रह्मात्मस्वरूपमें परिनिष्ठित वेदान्त शास्त्र मोक्षप्रद है ॥ ३५७ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टाऽखण्डार्थता वाक्ये प्रत्यभिज्ञापके यतः ।
तदेतद्देशकालाभ्यां व्यक्तिरेकोपलक्ष्यते ॥ ३५८ ॥

'तत्त्वमसि' आदि वाक्यके 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्यके समान अखण्डार्थत्वका जो निरूपण किया गया है, सो ठीक नहीं है, कारण कि 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्य भी अखण्डार्थक नहीं है, इस प्रकार विप्रतिपन्न पुरुषके प्रति उक्त वाक्यमें अखण्डार्थत्वका स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं—'दृष्टाऽखण्डार्थता' इत्यादिसे ।

देश और कालमें दृष्ट देवदत्तका देशान्तर और कालान्तरमें पुनः दर्शन होनेपर 'सोऽयं देवदत्तः' (जो देशान्तर और कालान्तरमें दृष्ट था वही देवदत्त इस देश और कालमें दृष्टिगोचर हो रहा है) ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । यह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञानस्वरूप है । इससे देशान्तर और कालान्तरसे विशिष्ट तत्पदार्थका एतद्देश और कालसे विशिष्टके साथ अभेदबोध नहीं हो सकता । तद्देशकालका एतद्देशकालके साथ अभेद प्रत्यक्षादि प्रमाणसे बाधित है, अतः तद्देश और तत्कालका त्यागकर केवल देवदत्तका लक्षणासे बोधक तत्पद है । एवं एतद्देश और कालका त्याग कर केवल देवदत्तका उक्त रीतिसे बोधक 'अयम्' यह शब्द है । विरुद्धांशद्वयका पदद्वयमें त्याग होनेसे पदद्वयसे देवदत्त एक व्यक्ति लक्षित होती है । इस प्रकार दृष्टान्तका समर्थन होनेसे दार्ष्टान्तिकमें भी 'तत्त्वमसि' 'आत्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यसे भी अखण्ड एक व्यक्ति उपलक्षित होती है ।

शङ्का—पदद्वयमें लक्षणाकी अपेक्षासे एतद्देशकालविशिष्ट पदार्थस्वरूप तद्देशकालोपलक्षित व्यक्तिमें एतत्पदकी लक्षणा करनेसे भी विरोधका परिहार हो सकता है । यदि तद्देशकालोपलक्षिताभिन्न एतद्देशकालविशिष्ट इत्याकारक बोध माननेसे भेदभ्रमका निराकरण हो सकता है, तो विशिष्टार्थ बोधका त्याग कर एक व्यक्तिमें पदद्वयकी लक्षणा क्यों मानते हो ?

उत्तर—उपलक्षण वह होता है जो कभी उपलक्ष्यमें रहता हो, जैसे 'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः' । जो कभी उपलक्ष्यमें नहीं है, वह स्वसंबद्धेतरका व्यावर्त्तक न होनेसे उपलक्षण ही नहीं हो सकता । प्रकृतमें एतद्देशकालवृत्तित्व-विशिष्टमें पूर्वदेशकालवृत्तित्वका सम्भव ही नहीं है, कारण कि एक समयमें दोनोंकी एक व्यक्तिमें स्थिति ही नहीं रहती, अतः तद्देशकालवृत्तित्वविशिष्टका एतद्-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टस्य देवदत्तस्य दृश्यमानस्य चैकता ।
बुभुत्सिता सोऽयमिति वाक्येन प्रतिपाद्यते ॥ ३५९ ॥

देशकालवृत्तित्वविशिष्टके साथ अभेदप्रतिपादन असम्भव है, इसलिए पदद्वयकी लक्षणा आवश्यक है ।

शङ्का—अच्छा, तो पूर्वकालोपलक्षितमें एतद्देशकालवैशिष्ट्यका तो बोधन हो सकता है, अतः यही क्यों नहीं मानते, ऐसा माननेमें कोई दोष नहीं है और लाघव भी है ।

उत्तर—क्या पूर्वकालोपलक्षितमें एतद्देशकालविशिष्टके अभेदके प्रतिपादनमें आपका तात्पर्य है अथवा पूर्वकालोपलक्षितमें एतद्देशकालवैशिष्ट्यके प्रतिपादनमें तात्पर्य है ? प्रथम पक्षमें उपलक्षितका विशिष्टके साथ अभेद नहीं हो सकता, क्योंकि विशिष्ट और उपलक्षित—अविशिष्ट—का अभेद बाधित है, अन्यथा एतद्देशकालवृत्तित्वविशिष्टकी पूर्वकालमें भी स्थिति हो जायगी । उपलक्षित पूर्वकालमें तद्भिन्न ही विशिष्ट होता है । द्वितीय पक्षमें यदि साक्षात् अभेदका प्रतिपादन हो सकता है, तो परम्परया अभेदका प्रतिपादन अनुचित है । पदद्वयकी लक्षणासे परम्परया भेदका प्रतिपादन ही अच्छा है, क्योंकि उक्त लक्षणा माननेमें गौरव है । साक्षात् भेदके प्रतिपादनकी अपेक्षासे परम्परया अभेदप्रतिपादनमें भी तो बुद्धिगौरव समान ही है, तो भी पदद्वयकी लक्षणामें क्या विनिगमक है ? लाघव और गौरव पक्षद्वयमें समान हैं । साक्षात् विवक्षितार्थ अभेदप्रतिपादनका लाभ ही विनिगमक है, अतः 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि स्थलमें पदद्वयकी लक्षणा ही युक्तियुक्त है ॥ ३५८ ॥

उक्त अर्थको स्पष्ट करते हैं—'दृष्टस्य' इत्यादिसे ।

पूर्व देश और कालमें दृष्ट एवं वर्तमान देश और कालमें दृश्यमान देवदत्तके भेद-भ्रमके निरासके लिए एकता बुभुत्सित—जिज्ञासित—है उसीका 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यसे प्रतिपादन किया जाता है । अतएव विभिन्नप्रकारकोपस्थितिजनक पदद्वयके समभिव्यवहारसे ही अभेदका बोध सर्वत्र माना जाता है, जैसे 'नीलो घटः' यहांपर नीलत्वप्रकारकोपस्थितिजनक नीलपद और घटत्वप्रकारकोपस्थितिजनक घटपदके समभिव्याहारसे नीलका अभेद घटमें प्रतीत होता है, समानप्रकारको-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिपाद्यौ देशकालौ न तयोरवुभुत्सनात् ।
परस्परविरोधाच्च व्यक्त्यैक्यं तु बोध्यते ॥ ३६० ॥
एवमत्रापरोक्षस्य प्रतीचोऽन्यनिवारणात् ।
ब्रह्मत्वलक्षणोऽखण्डो वाक्येनाऽर्थोऽवबुध्यते ॥ ३६१ ॥
हानोपादानराहित्येऽप्यपुमर्थो भवेन्नहि ।
इष्टप्राप्तेरनिष्टार्थनिवृत्तेश्चेह सम्भवात् ॥ ३६२ ॥

पस्थितिजनक पदद्वयसे 'घटो घटः' इत्यादि स्थलमें अभेदबोध नहीं होता, इसलिए प्रकृतमें तद्देशकालवृत्तित्वप्रकारकोपस्थापक और एतद्देशकालवृत्तित्वप्रकारकोपस्थापक 'सोऽयम्' इत्यादि पदद्वयसे अभेदबोध निर्बाध ही है, फिर पदद्वयमें लक्षणा मानना व्यर्थ है, यह आक्षेप भी निरस्त हुआ। अविशिष्ट व्यक्तयैक्य प्रकृतमें विवक्षित और बुभुत्सित है। विशिष्ट व्यक्त्यैक्य बुभुत्सित नहीं है, अतः बुभुत्सितके अनुरोधसे पदद्वयकी अविशिष्ट एक व्यक्तिमें लक्षणा मानना आवश्यक है ॥३५९॥

लक्षणाका बीज कहते हुए 'सोऽयम्' इत्यादिका अखण्डार्थमें उपसंहार करते हैं—**'प्रतिपाद्यौ'** इत्यादिसे।

देश और कालमें बुभुत्सा (जिज्ञासा) न होनेसे ये दोनों प्रतिपाद्य नहीं हैं। परस्पर विरुद्ध दो धर्मोंका अभेद बाधित है, इसलिए विशिष्ट अभेद भी बाधित ही है, केवल व्यक्त्यैक्य ही भेदभ्रमके निरासके लिए जिज्ञासित है, इसलिए 'सोऽयम्' इत्यादि दो पदोंसे उपलक्षित एक व्यक्तिका बोध ही अभीष्ट है, अतः दोनों पद एक ही व्यक्तिके उपलक्षक हैं, यह सिद्ध हुआ ॥ ३६० ॥

'एवमत्रा०' इत्यादि। पूर्वोक्त रीतिसे साक्षात् अपरोक्षानुभवस्वरूप प्रत्यगात्मासे अतिरिक्त परोक्ष ब्रह्म नहीं है, ऐसा युक्तिपूर्वक समर्थन करनेके अनन्तर 'तत्त्वमसि', 'आत्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्मत्वरूप अखण्ड अर्थ बोधित होता है ॥ ३६१ ॥

अखण्ड ब्रह्म पुरुषार्थ नहीं है, अतः उसके बोधक वाक्य अप्रमाण हैं, यह कहते हैं—**'हानोपादान०'** इत्यादिसें।

कर्तव्य अर्थ ही हानोपादानके योग्य होता है, सिद्ध अर्थ नहीं। फल-साधन यदि कृतिसाध्य न होगा, तो उसका अनुष्ठान ही नहीं हो सकेगा और अननुष्ठित साधन-

 CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्तं चाऽप्राप्तमित्येवं द्विधेष्टं प्राप्तुमिष्यते ।
अनिष्टं द्विविधं त्यक्तमत्यक्तं च जिहासितम् ॥ ३६३ ॥
ग्रामादि किञ्चिदप्राप्तं प्राप्तुमिष्टमिहेच्छति ।
हेमादि विस्मृतं किञ्चित्करस्थमपि लिप्सते ॥ ३६४ ॥
अनिष्टं चापरित्यक्तं कण्टकादि जिहासति ।
रज्ज्वां सर्पादिकं किञ्चित्त्यक्तमेव जिहासति ॥ ३६५ ॥

फलदायक नहीं होता, अतः सिद्ध अर्थ इष्टसाधन तथा अनिष्टनिवृत्तिसाधन नहीं होता, ऐसी धारणासे जो भ्रान्त पुरुष हैं, उनके भ्रमकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि सिद्ध अर्थसे भी इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार होता है । प्रकृतमें हानोपादानसे रहित ही ब्रह्म है, यह यद्यपि सत्य है, तथापि ब्रह्मज्ञान होनेसे परमानन्दकी प्राप्ति और अशेष दुःखका परिहार ये दो फल होते हैं ॥ ३६२ ॥

यद्यपि हान आदिका विषय ब्रह्म नहीं है, तथापि पुरुषार्थ तो वह है ही, इसी अर्थको स्पष्ट करनेके लिए इष्ट और अनिष्ट दो प्रकारके होते हैं, यह स्पष्ट करते हैं—**'प्राप्तं चाऽप्राप्त०'** इत्यादिसे ।

इष्ट दो प्रकारका होता है—एक प्राप्त और दूसरा अप्राप्त । इन दो प्रकारके इष्टोंको पुरुष प्राप्त करना चाहता है । इसी प्रकार अनिष्ट भी दो प्रकारका है—एक त्यक्त और दूसरा अत्यक्त । पर इन दोनोंका पुरुष त्याग करना चाहता है ॥ ३६३ ॥

'ग्रामादि' इत्यादि । जैसे पुरुष अप्राप्त इष्टकी (ग्राम आदिकी) प्राप्तिकी इच्छा करता है, वैसे ही करस्थ सुवर्ण यदि विस्मृत हो, तो उसकी भी प्राप्तिकी इच्छा करता है । यद्यपि वह प्राप्त ही है, तथापि अज्ञानवश अप्राप्तकी तरह प्रतीत होता है, अतः उसकी प्राप्तिकी इच्छा उचित ही है ॥ ३६४ ॥

'अनिष्टं चाऽ०' इत्यादि । अनिष्ट—अनिष्टसाधन—एवं अपरित्यक्त—पुरःस्थित—कण्टक आदि जैसे जिहासाविषय होते हैं, अतएव उनका त्याग किया जाता है । वैसे ही पुरःस्थित रज्जुसर्प भी त्यागेच्छाका विषय होता है । यद्यपि पुरःस्थित सर्प नहीं है, अतएव वह त्यक्त ही है, तथापि भ्रान्तिवश पुरोवर्त्तित्वेन उसकी प्रतीति होती है, अतः कण्टक आदिकी तरह, बल्कि उससे भी अधिक, वह जिहासित होता है, इसलिए वहां त्यक्तकी ही जिहासा है ॥ ३६५ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्राप्तं प्राप्तुमत्यक्तं त्यक्तुं कर्मैव साधनम् ।
लोके वेदेऽप्यतः कर्मविधीनां स्यात्तदर्थता ॥ ३६६ ॥
अज्ञानारोपितत्वेन सम्प्राप्तत्यक्तयोः पुनः ।
याथात्म्यज्ञानतो नाऽन्यत्पुरुषार्थाय कल्प्यते ॥ ३६७ ॥
त्वं ब्रह्मेति श्रुते वाक्ये सिद्ध्यत्येवाऽप्रयत्नतः ॥
अशेषानर्थविच्छेदो ब्रह्मानन्दोऽप्यनुत्तमः ॥ ३६८ ॥

इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहारका विभाग करके अप्राप्तकी प्राप्ति और अत्यक्तके त्यागका उपाय कहते हैं—'अप्राप्तम्' इत्यादिसे ।

लोकमें अप्राप्त ग्राम आदिकी प्राप्ति और अत्यक्त कण्टक आदिके त्यागके साधन लौकिक क्रयण, वर्जन आदि कर्म ही हैं । वेदमें भी अलौकिक स्वर्गादि और लौकिक वृष्ट्यादि फलके साधन सोमादि एवं कारीर्यादि वैदिक कर्म ही हैं, यह शास्त्र तथा अन्वय-व्यतिरेकसे परिज्ञात होता है । इष्ट और अनिष्टकी प्राप्ति और परिहारके लिए ही लौकिक व शास्त्रीय विधि निषेध हैं । इन्हीं उपायोंसे अन्वय-व्यतिरेक द्वारा भी साधनविशेषका ज्ञान होनेपर इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टका परिहार होता है, अतः इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके परिहारके लिए कर्मविधि मानी जाती है ॥३६६॥

सम्प्राप्त और त्यक्तकी प्राप्ति और परिहारका उपाय कहते हैं—'अज्ञाना०' इत्यादिसे ।

अज्ञानसे आरोपित अप्राप्त और अत्यक्तकी प्राप्ति और त्याग प्राप्ति और त्यागके यथार्थज्ञानसे होते हैं, अतिरिक्तसे नहीं । इन दोनोंके स्वरूपका यथार्थज्ञान होनेपर ही पुरुषार्थप्राप्ति होती है । करकङ्कण और रज्जुसर्पके यथार्थ-ज्ञानमात्रसे ही पुरुषार्थ होता है ॥ ३६७ ॥

उक्त विभागका परिज्ञान होनेपर वेदान्तवेद्य ब्रह्म हान आदिके विना पुरुषार्थ है, यही स्पष्ट करते हैं—'त्वं ब्रह्म' इत्यादिसे ।

'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यके सुननेपर तुम ब्रह्म हो, ऐसा व्युत्पन्न मुमुक्षुको निश्चयात्मक बोध होता है । निश्चयात्मक ब्रह्मात्मैक्यबोध होनेपर प्रयत्नान्तरके विना समस्त सांसारिक दुःखोंकी निवृत्ति और सर्वोत्तम ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति भी होती है ॥ ३६८ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुषार्थोपदेष्टृत्वाद् यद्वत्कार्ये प्रमाणता ।
तथैकात्म्ये विशेषाद् वा पुमर्थातिशयत्वतः ॥ ३६९ ॥
न चैकात्म्याभ्युपायस्य मिथ्यात्वमिह चोद्यताम् ।
कदा वेदस्य मिथ्यात्वं भवता ज्ञायते वद ॥ ३७० ॥
ऐकात्म्यप्रतिपत्तेः प्राङ् न मिथ्यात्वमबाधनात् ।
पुमर्थस्य समाप्तत्वादूर्ध्वं वेदेन किं तव ॥ ३७१ ॥
अज्ञातमपि मिथ्यात्वं प्रागस्त्येवेति चेच्छृणु ।
मानसत्यत्वमिथ्यात्वे न मात्वामात्वकारणे ॥ ३७२ ॥

'पुरुषार्थो०' इत्यादि । जैसे कर्मबोधक वेद पुरुषार्थका बोधक है वैसे ही वेदान्त भी हैं, अतः कर्मविशेषमें पूर्ववेदके समान अकार्यस्वरूप ब्रह्ममें वेदान्त भी प्रमाण हैं । अपि च पूर्ववेदकी अपेक्षासे तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्यातिशय ब्रह्मात्मैक्यबोधक श्रुतिमें ही है, अर्थात् अज्ञात, निरतिशय और अबाधितस्वरूप पुरुषार्थके बोधक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यमें तात्त्विक प्रामाण्य है, इस तात्पर्यसे—'विशेषाद्वा' यह कहते हैं । पुरुषार्थमें निरतिशयत्वादिरूप विशेष है और प्रमाणान्तरकी अपेक्षासे उक्त वाक्यमें अबाधितार्थबोधकत्वरूपसे तात्त्विकत्वरूप प्रामाण्यातिशय है ॥ ३६९ ॥

प्रपञ्चके समान मिथ्याभूत वेद ऐक्यप्रमा-बोधका जनक नहीं हो सकता, जैसे मिथ्याव्याप्तिविशिष्ट बाष्प मिथ्या हेतु है, अतः अग्निविषयक प्रमानुमितिका जनक नहीं होता वैसे ही प्रकृतमें भी शङ्का होती है, उसके निराकरणके लिए कहते हैं—**'न चैका०'** इत्यादि ।

ऐकात्म्यबोधोपाय वेदमें आपका मिथ्यात्वाक्षेप उचित नहीं है, कारण कि कब वेदमिथ्यात्व आप कहते हैं, सो कहिए ॥ ३७० ॥

'ऐकात्म्य०' इत्यादि । ऐकात्म्यज्ञानसे पूर्व अबाधितार्थक होनेसे वेदमें मिथ्यात्व नहीं कह सकते । तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके बाद आपको वेदसे क्या मतलब है ? अर्थात् उपेयार्थी तबतक उपायका अन्वेषण करता है, जबतक फल नहीं होता, फलसिद्धिके बाद तो उपायका समीक्षण व्यर्थ ही है ॥ ३७१ ॥

'अज्ञातमपि' इत्यादि । यद्यपि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व वेदमें मिथ्यात्व ज्ञात नहीं होता, किन्तु अज्ञात ही रहता है, तथापि मिथ्यात्व तो वस्तुतः वेदमें है ही फिर बाष्पवत् मिथ्याभूत वेदसे आत्मैक्यकी प्रमा कैसे होगी ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्येनाऽप्यनुपायेन घटेनाऽग्निर्न मीयते ।
असत्येनाऽप्युपायेन प्रतिबिम्बेन बिम्बधीः ॥ ३७३ ॥
धूमाभासात्तु बाष्पादेर्यदग्निर्नाऽवगम्यते ।
हेतुस्तत्राऽनुपायत्वमविनाभाववर्जनात् ॥ ३७४ ॥
वेदान्तानामुपायत्वाद् धूमवत्परमार्थता ।
न शङ्कार्हा तदैकात्म्यश्रुतिबाधः स्फुटो भवेत् ॥ ३७५ ॥

इसका उत्तर यह है कि जो आप मानके सत्यत्व और असत्यत्वको मेयके प्रमात्व और अप्रमात्वका प्रयोजक मानते हैं, वस्तुतः उसे आप नहीं मान सकते ॥३७२॥

इसीको बतलाते हैं—'सत्येना०' इत्यादिसे ।

घट सत्य होता हुआ भी अग्निके साधनका उपाय नहीं है, इसलिए 'पर्वतो वह्निमान् , घटवत्त्वात्' इस अनुमिति द्वारा घटसे पर्वतादिमें अग्निकी सिद्धि नहीं हो सकती और यद्यपि प्रतिबिम्ब असत्य है तो भी प्रतिबिम्ब द्वारा बिम्बका अनुमान होता है, क्योंकि बिम्बके साधनमें प्रतिबिम्ब उपाय है, अतः उपायसे उपेयकी सिद्धि होती है । उपाय चाहे सत्य हो या मिथ्या, इसमें आग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि सत्यत्वादिकी अपेक्षा उपायत्व ही उपेयसिद्धिमें प्रयोजक है ॥३७३॥

यदि असत्य उपायसे भी वस्तुकी सिद्धि मानते हो, तो बाष्पसे भी पर्वतादिमें अग्निकी सिद्धि मानो, इस आक्षेपका परिहार करते हैं—'धूमाभासा०' इत्यादिसे ।

धूमसे विलक्षण बाष्प आदि द्वारा यदि पर्वत आदिमें अग्नि नहीं सिद्ध होती, तो उसमें हेतु है—अनुपायत्व । बाष्पमें अविनाभावरूप व्याप्ति न होनेसे बाष्प अग्निसाधनोपाय ही नहीं है, इसलिए बाष्पादिसे अग्निकी सिद्धि नहीं होती, न कि उपाय मिथ्या है, इस कारण अग्निकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३७४ ॥

'वेदः सत्यः, उपायत्वात् , धूमवत्' इस अनुमानसे वेदको सत्य ही मानना उचित है, इस शङ्काका निराकरण करते हैं—'वेदान्ताना०' इत्यादिसे ।

यदि कहो कि धूम जैसे अग्निके ज्ञानमें उपाय है, अतः सत्य है, वैसे ही आत्मैक्यके बोधका उपाय वेद है, अतः वह भी सत्य है, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा कहनेमें ऐकात्म्यबोधक श्रुतिका बाध हो जायगा । 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मसे अतिरिक्त निखिल प्रपञ्च असत्य है, यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है । अतः दृष्टान्त धूम भी सत्य नहीं है, इससे उसकी सामर्थ्यसे वेद कैसे सत्य हो सकता है ? ॥ ३७५ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाष्पवन्नाऽपि मिथ्यात्वादनुपायत्वमुच्यताम् ।
ऐकात्म्याज्ञानबाधेन सिद्धैवोपायता भवेत् ॥ ३७६ ॥
उपेयबोधनं मुक्त्वा मितेर्नान्याऽस्ति सत्यता ।
उपेयैकात्म्यबोधस्तु वेदान्तेषूपलभ्यते ॥ ३७७ ॥
अतः स्वरूपमिथ्यात्वेऽप्युपायत्वादसत्यता ।
नास्तीत्युपायतो वेदादुपेयं ब्रह्म मीयताम् ॥ ३७८ ॥
सत्यामैकात्म्यसंवित्तौ चरितार्थत्वतः श्रुतेः ।
वृथोपायपरीक्षा स्यादुत्तीर्णस्य ध्रुवे यथा ॥ ३७९ ॥

'बाष्पवन्नाऽपि' इत्यादि । 'वेदो नोपायः, मिथ्यात्वात्, बाष्पवत्' इस अनुमानसे वेदमें बाष्पादिके दृष्टान्तसे मिथ्यात्वहेतुक अनुपायत्व सिद्ध करना चाहते हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि मिथ्यात्वशब्दसे आपको अकार्यकरत्व विवक्षित है ? [क्योंकि मिथ्या वस्तु कार्यकारी नहीं होती, मिथ्या रजतसे आभूषण आदि कार्यकी उत्पत्ति कहीं भी नहीं देखी जाती] अथवा बाध्यत्व विवक्षित है ? [क्योंकि जो मिथ्या होता है, वह बाध्य होता है, जैसे शुक्तिरजत] प्रथम विकल्पमें हेत्वसिद्धि है, क्योंकि मिथ्या रजत भी मिथ्यात्वकी अज्ञानदशामें प्रवृत्त्यादिकार्यकारी होता ही है, प्रकृतमें वेद भी अज्ञाननिवृत्तिरूप-कार्यकारी ही है ॥३७६॥

'उपेयबोधनम्' इत्यादि । उपेयके बोधनको छोड़कर मितिमें (प्रमाणमें) अन्य कोई सत्यता नहीं है अर्थात् अव्यभिचारी ज्ञानत्व ही प्रमासत्यत्व है, दूसरा नहीं । सर्वत्र वेदान्तमें उपेय ऐक्यात्म्यबोध उपलब्ध होता है । वेदान्तवाक्यसे जो ब्रह्मात्मैक्यका बोध होता है, वह अबाधितार्थक होनेसे प्रमाण ही है ॥ ३७७ ॥

'अतः' इत्यादि । अतः वेदके स्वरूपके मिथ्या होनेपर भी उसमें ऐकात्म्यबोधोपायत्वरूपसे असत्यत्व नहीं है, इसलिए वेदान्तसे अद्वितीय ब्रह्म जानो । उपायप्रमासे उपेयप्रमा होती है, यह नियम नहीं है, क्योंकि बाष्पादिसे भी वस्तुतः वह्निमान् पर्वतमें वह्निबुद्धिप्रमा होती ही है ॥ ३७८ ॥

'सत्यामैकात्म्य०' इत्यादि । ब्रह्मात्मैक्यसम्पत्ति होनेपर श्रुति चरितार्थ हो जाती है, फिर उपायभूत श्रुति सत्य है अथवा मिथ्या, यह विचार करना व्यर्थ है, जैसे नदी तरनेके समय नौका पार जानेके लायक है या नहीं, यह विचार करना ठीक है, पर पार जानेके बाद उक्त विचार व्यर्थ है ॥ ३७९ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाह्येष्वर्थेष्वनात्मत्वात् काचिच्छङ्का भवेदपि ।
अत्राऽऽत्मत्वादुपेयस्य का शङ्का मानतां प्रति ॥ ३८० ॥
बोधकत्वेन मानत्वमखण्डार्थेऽप्यवस्थितम् ।
वेदान्तानामथैतेषां बाधः परिहरिष्यते ॥ ३८१ ॥
ननु भेदाश्रितैर्वाक्यैर्विधायकनिषेधकैः ।
अक्षादिभिश्च नैकात्म्यं बाधितत्वात्प्रमाणवत् ॥ ३८२ ॥
न चाऽस्यैकात्म्यशास्त्रस्य तैर्विकल्पसमुच्चयौ ।
यत एतावसम्भाव्यौ क्रियायामिव वस्तुनि ॥ ३८३ ॥

'बाह्येष्वर्थे०' इत्यादि । आत्मभिन्न बाह्य घटादिविषयक प्रमाणमें अप्रमाणत्व-की शङ्का हो भी सकती है, प्रकृतमें तो उपेय आत्मस्वरूप है, इसलिए एतद्विषयक प्रमाणमें आशङ्का ही क्या ? अर्थात् शङ्का सर्वथा अनुचित है। आत्माके बिना तो ज्ञान हो ही नहीं सकता, तो आत्मविषयक ज्ञानमें व्यभिचारकी शङ्काका क्या असर होगा ? अतः वेदान्तमें अबाधित प्रामाण्य है ॥ ३८० ॥

फलितार्थकथनपुरःसर शिष्योंके अवधानार्थ उत्तर ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय कहते हैं—**'बोधकत्वेन'** इत्यादिसे ।

ब्रह्मात्मैक्यरूप अखण्ड अर्थमें भी वेदान्तप्रामाण्य सुव्यवस्थित है; प्रकृत अर्थमें प्रमाणान्तरके बाधका परिहार करेंगे । निश्चितप्रामाण्यक प्रमाणान्तरसे बाध होता है, अन्यथा नहीं ॥ ३८१ ॥

प्रत्यक्ष आदिके विरोधका परिहार कर अखण्ड अर्थमें वेदान्तप्रामाण्यका दृढ़ीकरण करनेके लिए पूर्वपक्ष करते हैं—**'ननु भेदा०'** इत्यादिसे ।

कर्तृ, कर्म, साधन आदि भेदकी अपेक्षा रखनेवाले कर्मविधिबोधक 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि वाक्यसे तथा घट, पट आदि भेदग्राही प्रत्यक्षादिसे भी विरोध होनेके कारण वेदान्तवाक्य अद्वितीय आत्मामें प्रमाण कैसे हो सकता है ? तथा 'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादि निषेधबोधक वाक्य भी भेदाश्रित ही हैं, यदि वास्तविक आत्मैक्य ही है, तो वध्यघातकभाव ही नहीं बन सकता, फिर अप्रसक्त हिंसानिषेध व्यर्थ ही हो जायगा ॥ ३८२ ॥

यदि पूर्वोत्तर वेदान्तमें प्रामाण्यके अविशिष्ट होनेसे तथा प्रत्यक्षादि प्रामाण्या-नुरोधसे भी सब प्रमाणोंका समन्वय हो, इसलिए भेदाभेद मानना समुचित है, यह कहिए, तो भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'न चाऽस्यै०'** इत्यादिसे ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्रीहिभिर्वा यवैर्वेति यथा यागो विकल्प्यते ।
नैवमेकमनेकं वेत्येतद्वस्तु विकल्प्यते ॥ ३८४ ॥
समुच्चित्यै यथा दर्शपौर्णमासौ तथा न तु ।
भिन्नाभिन्नात्मना वस्तु समुच्चेतुमिहार्हति ॥ ३८५ ॥

ऐकात्म्यबोधक वेदान्तवाक्यका कर्मविधिनिषेधबोधक वेदवाक्य तथा भेद-ग्राही प्रत्यक्षादि प्रमाणके साथ विकल्प या समुच्चय नहीं हो सकता, कारण कि ये दोनों क्रियामें ही होते हैं, सिद्ध वस्तुमें नहीं होते। यदि ब्रह्ममें क्रियाका संपर्क भी नहीं है, तो उसे क्रियात्मक कहना दूर ही रहा ॥ ३८३ ॥

विकल्प और समुच्चयका उदाहरण देते हुए सिद्ध वस्तुमें तदुभयका असम्भव स्फुट करते हैं—'व्रीहिभिर्वा' इत्यादिसे ।

'व्रीहिभिर्यजेत,' यवैर्वा यजेत'—इन दोनों श्रौत वाक्योंसे यागमें व्रीहि तथा यवका विधान है। एक समयमें दोनोंका विधान नहीं है, किन्तु इच्छानुसार चाहे, व्रीहिसे याग करे या यवसे, तथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादि वाक्यसे अतिरात्ररूप सोमयागविशेषमें कर्ताके इच्छानुसार षोडशिग्रहणाग्रहणका विधान है। ये दोनों विकल्पके उदाहरण हैं। समुच्चयका उदाहरण है—दर्शपूर्णमासादि छः याग। आग्नेय, अग्नीषोम और उपांशु—ये तीन पूर्णमासीमें होते हैं, आग्नेय, ऐन्द्र दधि और ऐन्द्र पय—ये तीन अमावास्यामें होते हैं। इन छः यागोंका समुदाय दर्शपूर्णमास कहलाता है। स्वर्गसाधनभावसे षड्याग-समुच्चयका विधान है, सो ठीक है, क्योंकि ये क्रियात्मक हैं, इनका समुच्चय बाधित नहीं होता। इस प्रकारसे प्रकृतमें भेदाभेदका विकल्प अर्थात् कदाचिद् भिन्न भी है, अभिन्न भी है, ऐसा कहना नहीं बन सकता। घट अपनेसे भिन्न है और अभिन्न है, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध भेदाभेदरूप दो धर्म एक धर्मीमें नहीं रह सकते एवं भिन्नाभिन्नका समुच्चय भी नहीं हो सकता ॥ ३८४ ॥

वस्तुमें विकल्प न होनेपर फलितार्थ कहते हैं—'समुच्चित्यै' इत्यादिसे ।

अर्थ ऊपर कह चुके हैं। जैसे दर्शपूर्णमासका समुच्चय होता है वैसे भिन्नाभिन्नका समुच्चय नहीं हो सकता, वस्तुमें एक समयमें एकका ही भेदाभेद बाधित है। इसलिए समुच्चय करनेके लिए भेदाभेद मानना उचित नहीं है ॥३८५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र

(क) विभाग

१-भगवन्नामकौमुदी—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ] मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश' टीकासहित। सम्पादक-आचार्यवर गोस्वामी दामोदरशास्त्री। पृ० सं०१५०, मू.—आ. १०

२-भक्तिरसायन—[भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर श्रीमधुसूदनसरस्वती-रचित प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें आचार्यवर गोस्वामी दामोदर-शास्त्रीरचित टीकासे विभूषित। सं —आचार्यवर गोस्वामी दामोदरशास्त्री। पृ० सं० १७०, मू.—आ. १२

३-शुल्बसूत्र—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़की बनाई हुई सरलवृत्तिसहित। सं०—वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़। पृ० सं० ६०, मू.—आ. ४

४-कात्यायनश्रौतसूत्र—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त कितने ही यज्ञोंकी विधियाँ साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायनप्रणीत, वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत। सं०—वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़। पृ० सं० लगभग १०००, मू.—रु. ६

५-प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्दव्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृत टीकासहित। सं०—साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० ३४०, मू.—रु. २

६-भक्तिरसामृतसिन्धु—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है] श्रीरूप-गोस्वामीप्रणीत, श्रीजीवगोस्वामीप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित। सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदरशास्त्री। पृ० सं० ६२५, मू.—रु. ३

७-प्रत्यक्तत्त्वचिन्तमणि—(द्वितीय भाग) पृ० सं० ४५०, मू.—रु. २ आ. ४

८-तिथ्यर्क—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकरविरचित। सं०—साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० ३४०, मू.—रु. १ आ० ८

९-परमार्थसार—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्‌की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०—न्यायव्याकरणाचार्य पं० श्रीसूर्यनारायणशुक्ल। पृ० सं० १००, मू.—आ० ६

१०-प्रेमपत्तन—[श्रीकृष्णभक्तिसे सराबोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंसकी कृति तथा अद्भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत। सं०-साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्ण-पन्त शास्त्री। पृ० सं० २३०, मू.-रु. १

(ख) विभाग

१-खण्डनखण्डखाद्य—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पण्डितवर श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित। पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार) मू.-रु. २ आ. १२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२–काशी-केदार-माहात्म्य—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरञ्जन पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित। सं०–साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० २६ + ६०४, मू.–रु. २ आ. ८

३–सिद्धान्तबिन्दु—(वेदान्तका प्रमेयबहुल अपूर्व ग्रन्थ) आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदनसरस्वती विरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित। सं०–साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० २८०. मू.—रु. १ आ. ६

४–प्रकरणपञ्चक—भगवान् शङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह। सं०–साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० १३१, मू.–आ. ८

५–ब्रह्मसूत्र—शाङ्करभाष्य-रत्नप्रभा-भाषानुवादसहित [सदाशिवेन्द्र सरस्वतीकृत ब्रह्मतत्त्व-प्रकाशिकावृत्तिके अनुसार सूत्रोंका पदच्छेद, पदार्थोक्ति और सुविशद भाषार्थ एवं वैयासिक न्यायमालाके सन्देह, पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त निर्देशपुरस्सर सुस्पष्ट और विशद भाषार्थसे विभूषित, वेदान्तप्रेमियोंके लिए अत्यन्त उपादेय और अनुपम ग्रन्थ] कपड़ेकी पक्की तीन जिल्दोंमें प्रकाशित छपाई, सफाई सभी मनोहर, पृष्ठ संख्या २६०० के लगभग, मूल्य—[तीनों खण्डोंका] १४) रु०।

६–सिद्धान्तलेशसंग्रह—[अद्वैतवेदान्तके भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंका संग्रहात्मक अपूर्व ग्रन्थ] सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रीमदप्पय्यदीक्षित विरचित। वेदान्ताचार्य पं० मूलशङ्करशास्त्रिव्याख्या विरचित भाषानुवादसे विभूषित। सं०—प्रिंसिपल पं० श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल तथा साहित्याचार्य पं० श्रीकृष्णपन्त शास्त्री। पृ० सं० २३ + ५५६, मू.—रु. ३

७–वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली—[वेदान्त संसारमें एक जीववादका प्रतिपादक अद्वितीय ग्रन्थ] श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीप्रकाशानन्दस्वामिविरचित। पं० प्रेमवल्लभशास्त्री (फतेहगढ़ गवर्नमेण्ट हाईस्कूलके संस्कृतके प्राधानाध्यापक) द्वारा विरचित भाषानुवादसहित। सं०—प्रिंसिपल पं० श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल तथा पं० श्रीकृष्णपन्तशास्त्री साहित्याचार्य। पृ० सं० १० + १८६, मू.—रु. १

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

१. षट्सन्दर्भ, विविध टीकाओंसे विभूषित।

२. शतपथब्राह्मण (मूलमात्र)।

मिलनेका पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।

(२) गीताप्रेस, गोरखपुर।

नोट—अच्युतग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको उक्त सभी पुस्तकें 'पौन मूल्यपर दी जाती हैं। 'अच्युत' मासिक पत्रके स्थायी ग्राहक (ख) विभागके स्थायी ग्राहक समझे जायगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

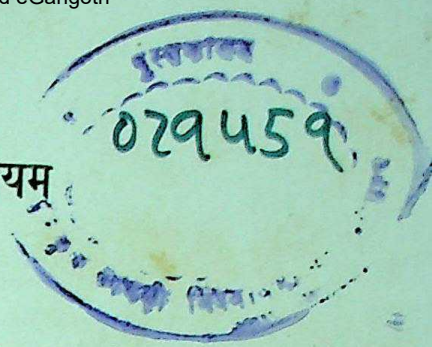

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके सिद्धान्तके अविरोधी लेखों एवं उत्तमोत्तम संस्कृत-ग्रन्थों के भाषानुवाद द्वारा जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारतके लिए ६) रु० और विदेशके लिए ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ।।) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डर द्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मँगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिए।

(५) उत्तरके लिए जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिए।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिए।

व्यवस्थापक

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
Regd. No. A. 2426

07945

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

प्रकाशक—व्यवस्थापक, अच्युतग्रन्थमालाकार्यालय, काशी ।
मुद्रक—ना० रा० सोमण, श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

2426

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar